ग्रन्थमाला-सम्पादक व नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य,
सेवा-निवृत्त रीडर जैन-बौद्ध दर्शन, प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान सकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५

समन्तभद्र-ग्रन्थावली
स्वामी समन्तभद्र
हिन्दी अनुवाद  स्व० प० जुगलकिशोर मुख्तार
सकलन : डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

ट्रस्ट-संस्थापक
आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

प्रकाशक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया
मंत्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट
बीना, ( म० प्र० )

प्राप्ति स्थान
व्यवस्थापक
वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट,
बी० ३२/१३, बी० नरिया, का० हि० वि० वि०, वाराणसी–५

प्रथम संस्करण
१९८९

मूल्य . चालीस रुपये

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर, वाराणसी

# प्रकाशकीय

आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार, सस्थापक वीर-सेवा-मन्दिर एव वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, सरसावा (सहारनपुर) स्वामी समन्तभद्रके अनन्य उपासक थे। उनके प्रति उनकी अटूट श्रद्धा थी।

दिगम्बर जैन आचार्योंमें आचार्य कुन्द-कुन्द और आचार्य गृद्धपिच्छके बाद स्वामी समन्तभद्र एक ऐसे गरिमा-मण्डित एव प्रभावी आचार्य है, जिन्होने जैन दर्शन और उसके सिद्धान्तोकी सार्वत्रिक प्रभावना की है। अन्य दर्शनोंके दार्शनिकोके साथ शास्त्रार्थ कर उन्हें 'वाद' में विजित किया तथा स्याद्वाद, अनेकान्त, सप्तभङ्गी आदि जैन दर्शनके अद्वितीय सिद्धान्तोका प्रचार एव प्रसार किया। आचार्य समन्तभद्रने 'वादार्थी विचराम्यहम्' कह कर न केवल पूर्व, पश्चिम और उत्तर, दक्षिणमे वादके स्थानोपर पद-यात्राकर वाद ही किया और विजय प्राप्त की, अपितु दर्शनपर अनेक कृतियाँ भी रची और उनके द्वारा इतर सिद्धान्तोकी समीक्षापूर्वक जैन दार्शनिक सिद्धान्तोको स्पष्ट किया।

उनकी वे कृतियाँ हैं—१ देवागम, २ युक्त्यनुशासन, ३ स्वयम्भू, ४ रत्नकरण्डक और ५ जिनशतक। इनमें आरम्भकी तीन मुख्यतया दार्शनिक हैं, चौथी श्रावकाचार विषयक है और पाचवी ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवन रूप काव्यात्मक है। ये पाँचो ही कृतियाँ बडी महत्त्वपूर्ण और अर्थगर्भ हैं। देवागमपर तो आ० अकलकदेव, आ० विद्यानन्द, आ० वसुनन्दी और आ० लघु समन्तभद्रने व्याख्याएँ भी लिखी हैं। इनका विशेष परिचय हमने 'देवागम' की प्रस्तावनामे दिया है। वहाँसे वह द्रष्टव्य है।

मुख्तार साहबकी तीव्र इच्छा थी कि समन्तभद्रके पाँचो ग्रन्थ एक जगह निबद्ध कर दिये जाएँ और उन्हें 'समन्तभद्र-ग्रन्थावली' नाम दिया जाय। हमने उनकी इच्छाको क्रियात्मक रूप देनेके लिए यह कार्य डॉ० गोकुलचन्द्र जैनको सुपुर्द किया था। उन्होंने उनका सकलन कर मुख्तार साहब द्वारा किये गये इनके सक्षिप्त अनुवाद भी इनके साथ सम्बद्ध कर दिये हैं। इससे सक्षेप-प्रिय पाठकोको मूलके साथ उनके इस अनुवादसे मूलको समझने एव हृदयङ्गम करनेमें सहायता मिलेगी।

यद्यपि इस ग्रन्थावलीका रूप जैसा मुख्तार साहब चाहते थे,[1] वैसा रूप नही आ सका। इसके कई कारण रहे हैं। एक तो मेरा दूसरे सामाजिक एव साहित्यिक कार्यामें व्यस्त रहना। दूसरे काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे सेवा-निवृत्त हो जानेपर अक्सर प्रवासमें रहना। तीसरे यह कार्य जिन्हें सौंपा गया था उन्होने उसे अपना उत्तरदायित्व नही समझा।

इस बार बनारसमे अधिक समय ठहरनेका अवसर मिला। मेरे अनन्य मित्र स्व० बा० मौजीलालजीके सुयोग्य पुत्र प्रिय जयप्रकाश जैन एव उनकी मातुश्रीके सहज स्नेहने रोक लिया और ट्रस्टके

---

१. श्रद्धेय मुख्तार साहबकी इच्छा थी कि आचार्य स्वामी समन्तभद्रके ग्रन्थोपर लिखी गयी व्याख्याएँ भी उनके साथ एक ही स्थानपर—एक जिल्दमें प्रकाशित की जाये, जिससे समन्तभद्र स्वामीके पाठक उनकी मूल कृतियो और उनपर लिखी गयी समग्र व्याख्याओको एक जगह पढ सकें। —प्रकाशक।

अधूरे कार्योंको पूरा करनेकी प्रेरणा प्रदान की। इसके लिए हम उनका और उनके पूरे परिवारका आभार मानते हैं।

बाइण्डर श्री नाथने तो ग्रन्थको सुरक्षित रखा और हमें बार-बार उसे प्रकाशमें लानेके लिए प्रेरणा दी। इसके लिए हम श्रीनाथको भी धन्यवाद देते हैं।

संकलयिता डॉ० गोकुलचन्द्रजी भी बधाईके पात्र हैं।

वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्टके ट्रस्टीगणको भी धन्यवाद है, जो ट्रस्टकी सुरक्षामें सचिन्त हैं। डॉ० शीतलचन्द्रजी प्राचार्य जैन संस्कृत कालेज जयपुर, डॉ० नरेन्द्र कुमारजी प्रवक्ता और श्रीलालजी जैन व्यवस्थापकको हम नहीं भूल सकते, जो ट्रस्ट-कार्योंमें सहयोग देते रहते हैं।

पार्श्वनाथ जयन्ती,
पौष कृष्णा ११, वी० नि० सं० २५१५,
३ जनवरी १९८९

**डॉ० दरबारीलाल कोठिया**
मानद मन्त्री
वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट

# प्रस्तुत समन्तभद्र-ग्रन्थावली

## ग्रंथकार-परिचय

आचार्य कुन्द-कुन्द और गृद्धपिच्छके पश्चात् जैन वाङ्मयको जिस मनीषीने सर्वाधिक प्रभावित किया और यशोभाजन हुआ वह हैं आचार्य समन्तभद्र। इन्हें शिलालेखो और साहित्यमें 'स्वामी' उपपदसे भी उल्लेखित किया गया है। कही-कही तो उनके वाक्योको मात्र 'स्वामी' पदके द्वारा उद्धृत किया गया है। इनका यशोगान शिलालेखो तथा मूर्धन्य ग्रन्थकारोके ग्रन्थोमें बहुलतया उपलब्ध है। अकलंकदेवने उन्हे स्याद्वादतीर्थका प्रभावक और स्याद्वादमार्गका परिचालक, विद्यानन्दने स्याद्वादमार्गाग्रणी, वादिराजने सर्वज्ञका प्रदर्शक, मलयगिरिने आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखोमे वीरशासनकी सहस्रगुणी वृद्धि करनेवाला, श्रुतकेवलिसन्तानोन्नायक, समस्तविद्यानिधि, शास्त्रकार एव कलिकालगणधर कहकर उनका कीर्तिगान किया है।

इनका विस्तृत परिचय और समयादिका निर्णय स्व० श्रद्धेय श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' ने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहास-ग्रन्थमे दिया है। वह इतना प्रमाणपूर्ण और पुष्कल शोधात्मक है कि आज भी वह विद्वानो द्वारा मान्य है और वे उसमे किंचित् भी सशोधन या परिवर्तन अपेक्षित नही समझते। रत्नकरण्डकश्रावकाचार (समीचीन धर्मशास्त्र) की प्रस्तावनामें भी उन्होंने इनके व्यक्तित्व और कृतित्वको सक्षेपमे उजागर किया है। हमने भी 'निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र'। 'नागार्जुन और समन्तभद्र', 'दिग्नाग और समन्तभद्र', 'कुमारिल और समन्तभद्र', 'धर्मकीर्ति और समन्तभद्र' जैसे शोधपूर्ण लेखो द्वारा समन्तभद्रके व्यक्तित्वपर शोधपूर्ण एव अन्त परीक्षणात्मक पर्याप्त प्रकाश डाला है। ये सभी लेख 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' ग्रन्थमें प्रकाशित हैं।[1]

अतएव यहाँ समन्तभद्रके परिचयादिकी पुनरावृत्ति न करके केवल उनकी कृतियोपर प्रकाश डाला जाता है।

## ग्रन्थ-परिचय

स्वामी समन्तभद्रने अनेक ग्रन्थोकी रचना की है। उनमें निम्न पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं। यद्यपि उनके 'गन्धहस्ति महाभाष्य' की पिछले गन्यकारोमें अधिक चर्चा रही है। खासकर चामुण्डरायने उसका उल्लेख अपने कन्नडभाषामें लिखित 'त्रिषष्टि-लक्षणमहापुराण' में 'तत्त्वार्थभाष्य' और उसे 'तर्कशास्त्र' कहकर किया है। चामुण्डरायका समय शक स० ९००, विक्रम स० १०३५ है। पर उनसे पहले किसी अन्य ग्रन्थकारने उसका उल्लेख नही किया। अतः उसकी स्थिति सन्दिग्ध है।[2]

जो उनके उपलब्ध पाँच ग्रन्थ हैं वे इस प्रकार हैं—

१ देवागम अपर नाम आप्तमीमासा

२ युक्त्यनुशासन अथवा वर्द्धमान-स्तोत्र (वीरजिन-स्तोत्र)

३ स्वयम्भू-स्तोत्र अपरनाम चतुर्विंशतिजिन स्तोत्र

४. जिनशतक अपर नाम स्तुति-विद्या

५ रत्नकरण्डकश्रावकाचार अथवा समीचीन धर्मशास्त्र

---

१. वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, बी० ३२/१३ बी०, नरिया, वाराणसी–५, ई० १९८०।

२ जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन पृ० १३४-१४१।

## १. देवागम-आप्तमीमांसा

यह समन्तभद्रकी सबसे अधिक विश्रुत और प्रसिद्ध रचना है। यह 'देवागम' पदसे आरम्भ होनेसे इसे 'देवागम' और अन्तिम (११४ वी) कारिकामे इसका 'आप्तमीमासा' नामसे उल्लेख होनेसे इसे 'आप्तमीमासा' भी कहा जाता है। इस तरह यह दो नामसे व्यवहृत है। इसमें दश परिच्छेद और ११४ कारिकाएँ हैं। परिच्छेदोका विभाजन विषय-विभाजनकी दृष्टिसे स्वय ग्रन्थकारोक्त है।[1] कौन परिच्छेदमें किस विषयका प्रतिपादन है, इसे "जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' गत 'देवागम-आप्तमीमासा' (पृ० १४३-१५७) से ज्ञात करें।

### (क) देवागमकी व्याख्याएँ

इस देवागमपर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं।[2] १ देवागम-विवृति (देवागमभाष्य-अष्टशती), २ देवागमालकार (आप्तमीमासालंकार—अष्टसहस्री और ३ देवागमवृत्ति।

(१) **देवागमविवृति**—इसके रचयिता आ० अकलकदेव हैं। आठसौ श्लोक प्रमाण होनेसे इसे अष्टशती भी कहा गया है। परिच्छेदोके अन्तमें जो इसके समाप्ति-पुष्पिका वाक्य पाये जाते हैं उनमें इसके देवागमभाष्य और आप्तमीमासाभाष्य नाम भी मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि यह व्याख्या कई नामोंसे व्यवहृत रही है। यह इतनी जटिल व दुरूह है कि विना अष्टसहस्रीका आश्रय लिए उसका अर्थ करना अत्यन्त कठिन है। इस ग्रन्थावलीमें उसे दिया गया है।

(२) **देवागमालकृति**—यह आ विद्यानन्दकी अपूर्व एव महत्त्वपूर्ण देवागमव्याख्या है। आठ हजार श्लोक प्रमाण होनेसे अष्टसहस्री भी कहा है। यह व्याख्या विस्तृत और प्रमेयबहुल है। इसमें देवागमकी कारिकाओके प्रत्येक पद, वाक्यादिका स्पष्टीकरण तो किया ही गया है, अकलकदेवकी अष्टशतीका बहुत विशद व्याख्यान किया है। अष्टशतीको इसमे विद्यानन्दने इस तरह आत्मसात् किया है कि दोनोको भेदसूचक मोटे और छोटे (पतले) अक्षरो या टाइपोमें न रखा जाय तो उसका भेद करना बहुत ही कठिन है। विद्यानन्दने अष्टशतीके आगे, पीछे और मध्यकी आवश्यक सान्दर्भिक वाक्यरचना करके अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें मणि-प्रवाल न्यायसे अनुस्यूत किया है और अपनी अद्भुत तलस्पर्शिनी प्रतिभाका चमत्कार दिखाया है। वस्तुत यदि विद्यानन्द यह देवागमालकृति न रचते तो अष्टशतीका गूढ रहस्य उसीमें ही छिपा रहता और मेधावियोके लिए भी वह रहस्यपूर्ण बनी रहती। अष्टसहस्री-पर लघु समन्तभद्रने 'अष्टसहस्री विषमपद-तात्पर्यटीका' और श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७ वी शती) ने 'अष्टसहस्री-तात्पर्य विवरण' नामकी व्याख्याएँ लिखी हैं, जो अष्टसहस्रीके विषम पदो, वाक्यों और स्थलोंका स्पष्टीकरण करती हैं अन्तिम व्याख्यामें नव्यन्याय भी समाविष्ट है।

(३) **देवागमवृत्ति**—यह आ० वसुनन्दि द्वारा रचित लघुपरिमाणकी सरल देवागम-व्याख्या है। यह न अष्टशतीकी तरह दुरूह है और न अष्टसहस्रीकी तरह विस्तृत एव गम्भीर है। कारिकाओंका

---

१ अष्ट श०, का० ११४।

२ आ० विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें अकलकदेवके समाप्ति-मगलके पूर्व 'केचित्' शब्दोके साथ देवागमकी किसी व्याख्याका 'जयति जगति' आदिका मगल-पद्य दिया है। लघु समन्तभद्र ( वि० १३ वी शती ) और अकलक देवने भी अष्टशती (का० ३३ की विवृति ) में एक स्थानपर 'पाठान्तरमिद ' • ' शब्दोका प्रयोग करके देवागमकी अन्य व्याख्याओका भी संकेत किया है।

इसमें न लम्बा व्याख्यान है और न दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह है। मात्र कारिकाओ और उनके पद-वाक्योका शब्दार्थ और कही-कही फलितार्थ अति सक्षेपमें प्रस्तुत किया गया है। वसुनन्दिने वृत्तिके अन्तमें लिखा है कि 'मैं मन्दबुद्धि और विस्मरणशील हूँ। मैंने अपने उपकारके लिए ही इस देवागमका संक्षिप्त विवरण किया है।' निस्सन्देह अल्पबुद्धियोके लिए देवागमके हार्दको समझनेके लिए यह उनकी वृत्ति उपयोगी है

### (ख) देवागमका मूलाधार

आ० विद्यानन्दके उल्लेखानुसार आ० समन्तभद्रने इस देवागमकी रचना तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भ मे किये गये 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मगलपद्यमें स्तुत आप्तकी मीमासाके लिए की थी। तात्पर्य यह कि उक्त मगल-स्तोत्रके व्याख्यानके रूपमें देवागमकी रचना की गयी है। विद्यानन्दने भी अपनी आप्त-परीक्षा उसी स्तोत्रके व्याख्यानमें बनाई है।[1]

## २. युक्त्यनुशासन अथवा वर्धमानस्तोत्र

देवागमके उपरान्त स्वामी समन्तभद्रने जिस महत्त्वपूर्ण कृति की रचना की है वह है युक्त्यनुशासन। इसके व्याख्याकार आ० विद्यानन्दने व्याख्याके आरम्भमे जो मगलाचरण—'कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमान' किया है उससे स्पष्ट है कि देवागममे वीर-जिन और उनके शासनकी परीक्षा कर चुकनेके बाद उनका स्तवन करनेके लिए समन्तभद्र स्वामीने इसे लिखा है। इसके मगलाचरणमें प्रयुक्त 'अद्य' शब्दसे विद्यानन्दने अपनी व्याख्यामें उसका यही अर्थ किया है।

इसमें दो प्रस्ताव और ६४ कारिकाएँ हैं। यह पूरी रचना देवागमकी तरह ही दार्शनिक है। इसकी प्रत्येक कारिका देवागमसे भी अधिक क्लिष्ट और दुरूह है। सप्तभगी, अनेकान्त, स्याद्वाद आदि सिद्धान्तोका इसमें मुख्यतया विवेचन है और दूसरे दार्शनिकोंके नित्यत्व, क्षणिकत्व आदि सिद्धान्तोकी युक्तिपूर्वक समीक्षा की है।

ग्रन्थका विशद और विस्तृत परिचय हमने अन्यत्र[2] दिया है। वहाँसे वह ज्ञातव्य है। इस पर विद्यानन्दकी 'युक्त्यनुशासनालकार' नामकी व्याख्या है, जो सरल और मध्यम परिमाणकी है।

## ३ स्वयम्भूस्तोत्र ( चतुर्विंशति-स्तव )

ऋषभसे लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरोका इसमें बडा ही भावपूर्ण स्तवन है। जैन-दर्शनके विचारात्मक और आचारात्मक सभी तत्वो और सिद्धान्तोका इसमें समन्तभद्रने प्रतिपादन किया है। कहनेको यह स्तोत्र है, किन्तु है जैन सिद्धान्तोका दर्पण। इसमें विभिन्न छन्दोंमें कुल १४३ पद्य हैं और सभी पद्य गम्भीर तथा अर्थगर्भ हैं। इसकी प्रभाचन्द्र कृत एक अल्पकाय सस्कृत-व्याख्या है। साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्वविद् श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर' की इसपर शब्दानुगामी सरल हिन्दी व्याख्या भी है, जो इसी सकलनमे निबद्ध है। ध्यातव्य है कि मुख्तार साहबने जिन-शतकको छोडकर समन्तभद्रके शेष चारो ग्रन्थो पर हिन्दी-व्याख्याएँ लिखी हैं। यह स्वयम्भू-स्तोत्र नित्य पाठ योग्य है।

---

१ विशेषके लिए देखें—'तत्त्वार्थसूत्रका मगलाचरण' तथा 'देवागमका मूलाधार', 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन', पृ० ३१-६९, १६०-१६४।

२ 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन', पृ० १६५-१८०।

४. जिनशतक अथवा स्तुति-विद्या

इसमें भी आचार्य समन्तभद्रने पूर्वोक्त ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरोका स्तवन किया है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें पूरा आलंकारिक स्तवन है। इसमें ११६ पद्य हैं और वे विभिन्न अलकारोमें रचित हैं। यह काव्यात्मक उच्चकोटिकी जटिल रचना है। इसे साधारण विद्वान् नहीं लगा सकते—उसका अर्थ कर सकते हैं। अलकारोंके मर्मज्ञ कवि ही इसके मर्मका उद्घाटन कर सकते हैं। सस्कृतमें इसकी एक वृत्ति। विवरण है, जो मूलको समझनेमें सहायक है। इसपर डॉ० प० पन्नालालजी साहित्याचार्यने हिन्दी व्याख्या लिखी है, जो मूलको बहुत स्पष्ट करती है। यह वीर-सेवा-मन्दिरसे अलगसे भी प्रकाशित है। वैसे समन्तभद्रके अन्य चारो ग्रन्थ भी मुख्तारसाहबकी हिन्दी व्याख्याके साथ वीर-सेवा-मन्दिरसे ही प्रकाशित हो चुके हैं। समन्तभद्रके इन स्तुति-ग्रन्थोंसे प्रतीत होता है कि उन्हें स्तुतियोके करने और स्तुतिग्रन्थोके रचनेका बडा व्यसन था, तभी उन्होने अपने चार ग्रन्थ—देवागम, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र और जिन-शतक—स्तोत्र-ग्रन्थ रचे हैं। जिनशतकके एक पद्य ( ११४ ) में उन्होने लिखा भी है कि ' सस्तुत्या व्यसन ' उन्हें सुन्दर स्तुतियोंके करनेका व्यसन था। सुन्दरका अर्थ है वीतरागता, सर्वज्ञता, हितोपदेशकता आदि गुणोंसे सम्पन्नता और उससे युक्त हैं ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकर जिन। इनके गुणो और शासनका स्तवन समन्तभद्रका व्यसन रहा है।

५ रत्नकरण्डक

आचार्य समन्तभद्रने जहाँ जैन दर्शनके विचारोको उक्त चार रचनाओ द्वारा प्रदर्शित किया है वही उन्होने एक 'जैन' का आचार कैसा होना चाहिए, इसे बतानेके लिए इस श्रावकाचार-विषयक ग्रन्थकी भी रचना की। इसमें १५० श्लोक हैं, जिनमें बडे व्यवस्थित ढगसे और सरलता-पूर्वक श्रावककी दिनचर्या तथा उसके परम लक्ष्यका प्रतिपादन किया गया है। आचार और विचार दोनोंसे समृद्ध जीवन ही वास्तविक जीवन है—पुरुषार्थ है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धि है। ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकारने स्वय लिखा है कि जिस भव्यात्माने अपने जीवनको श्रद्धा, ज्ञान और आचार इन रत्नोंका पिटारा बनाया है वह इस लोक और परलोकमें समस्त अर्थोंकी सिद्धिको प्राप्त करता है। इस ग्रन्थके विषयमें श्रद्धेय प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने इसी पर लिखी विस्तृत व्याख्या 'समीचीन धर्मशास्त्र' की प्रस्तावनामें विशेष प्रकाश डाला है। वह अवश्य ज्ञातव्य है।

इस सकलनमें समन्तभद्रके इन पाँचो ग्रन्थोका संकलन किया गया है। उनके हिन्दी अनुवाद भी दिये गये हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि इसीके साथ देवागमकी दो सस्कृत-व्याख्याएँ—अष्टशती और देवागमवृत्ति भी सम्बद्ध हैं। इससे सस्कृतानुरागी विद्वान् मूलको इन व्याख्याओंके आधारसे भी ज्ञात कर सकेंगे। आ० विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीका अलगसे हम आधुनिक सम्पादनके साथ प्रकाशन करेंगे।

आशा है पाठकोको आचार्य समन्तभद्रके एकत्र पाँचों ग्रन्थोको पाकर प्रसन्नता होगी।

**डॉ० दरबारीलाल कोठिया**
नियामक व सम्पादक

पार्श्वनाथ-जयन्ती,
पौषकृष्णा ११, वी० नि० २५१४,
३-१-१९८९
वाराणसी–५,

# समन्तभद्रग्रन्थावलिः ।

1. देवागमापरनामधेया आप्तमीमांसा ।
2. युक्त्यनुशासनम् ।
3. स्वयम्भूस्तोत्रम् ।
4. जिनशतकम् ।
5. रत्नकरण्डकम् ।

# COLLECTED WORKS OF SAMANTABHADRA

1. DEVĀGAMA-ĀPTAMĪMĀMSĀ
2. YUKTYANUŚĀSANAM.
3. SVAYAMBHŪSTOTRAM.
4. JINAŚATAKAM
5 RATNAKARAṆDAKAM

# आप्तमीमांसा

1) देवागमनभोयानचामरादिविभूतय ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥

2) अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदय ।
दिव्य सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥

3) तीर्थंकृत्समयाना च परस्परविरोधत ।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥

4) दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षय. ॥

5) सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसस्थितिः ॥

6) स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्ट ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥

7) त्वन्मतामृतबाह्याना सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धाना स्वेष्ट दृष्टेन बाध्यते ॥

8) कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥

9) भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥

10) कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥

11) सर्वात्मक तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे ।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥

12) अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम् ।
बोधवाक्य प्रमाण न केन साधनदूषणम् ॥

13) विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥

14) कथचित्ते सदेवेष्ट कथचिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥

15) सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥

16) क्रमार्पितद्वयाद् द्वैत सहावाच्यमशक्तित ।
अवक्तव्योत्तरा शेपास्त्रयो भङ्गा. स्वहेतुत. ॥

17) अस्तित्व प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात्साधर्म्य यथा भेदविवक्षया ॥

18) नास्तित्व प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाभेदविवक्षया ॥

19) विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्य शब्दगोचर ।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥

20) शेषभङ्गाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगत ।
न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र तव शासने ॥

21) एव विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् ।
नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभि ॥

22) धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मण ।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्ताना तदङ्गता ॥

23) एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् ।
प्रक्रिया भङ्गिनीमेना नयैर्नयविशारद ॥

24) अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।
कारकाणा क्रियायाश्च नैक स्वस्मात्प्रजायते ॥

25) कर्मद्वैत फलद्वैत लोकद्वैत च नो भवेत् ।
विद्याविद्याद्वय न स्याद्बन्धमोक्षद्वय तथा ॥

26) हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैत स्याद्धेतुसाध्ययो ।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैत वाङ्मात्रतो न किम् ॥
27) अद्वैत न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।
सज्ञिन. प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥
28) पृथक्त्वैकान्तपक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक्तु तौ ।
पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुण. ॥
29) संतान. समुदायश्च साधर्म्यं च निरकुश ।
प्रेत्यभावश्च तत् सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥
30) सदात्मना च भिन्न चेज्ज्ञान ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत् ।
ज्ञानाभावे कथं ज्ञेय बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥
31) सामान्यार्था गिरोऽन्येषा विशेषो नाभिलप्यते ।
सामान्याभावतस्तेषा मृषैव सकला गिर ॥
32) विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥
33) अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वयहेतुत ।
तदेवैक्य पृथक्त्व च स्वभेदै साधन यथा ॥
34) सत्सामान्यात्तु सर्वैक्य पृथग्द्रव्यादिभेदत ।
भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥
35) विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि ।
सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभि ॥
36) प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती ।
तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥
37) नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते ।
प्रागेव कारकाभाव. क्व प्रमाण क्व तत्फलम् ॥
38) प्रमाणकारकैर्व्यक्तं व्यक्त चेदिन्द्रियार्थवत् ।
ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद्बहि ॥
39) यदि सत्सर्वथा कार्यं पुवन्नोत्पत्तुमर्हति ।
परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥

40) पुण्यपापक्रिया न स्यात्प्रेत्यभाव' फलं कुतः ।
बन्धमोक्षौ च तेषा न येषा त्व नासि नायकः ।।

41) क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसभव' ।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भ' कुत फलम् ।।

42) यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत् ।
मोपादाननियामो भून्माश्वास कार्यंजन्मनि ।।

43) न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयात् ।
सन्तानान्तरवन्नैक सन्तानस्तद्वत पृथक् ।।

44) अन्येष्वनन्यशब्दोऽय सवृतिर्न मृपा कथम् ।
मुख्यार्थं सवृतिर्न स्याद् विना मुख्यान्न संवृतिः ।।

45) चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगत ।
तत्त्वान्यत्वमवाच्य चेत्तयो सन्तानतद्वतो ।।

46) अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोऽपि न कथ्यताम् ।
असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्यविशेषणम् ।।

47) द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः सज्ञिन सत ।
असद्भेदो न भावस्तु स्थान विधिनिषेधयो ।।

48) अवस्त्वनभिलाप्य स्यात्सर्वान्तै' परिवर्जितम् ।
वस्त्वेवावस्तुता याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ।।

49) सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषा कि वचन पुन ।
सवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थविपर्ययात् ।।

50) अशक्यत्वादवाच्य किमभावात्किमबोधत ।
आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात्कि व्याजेनोच्यता स्फुटम् ।।

51) हिनस्त्यनभिसधातृ न हिनस्त्यभिसधिमत् ।
बध्यते तद्द्वयापेत चित्त बद्धं न मुच्यते ।।

52) अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसक. ।
चित्तसततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुक ।।

53) विरूपकार्यारम्भाय यदि हेतुसमागम ।
आश्रयिभ्यामनन्योऽसावविशेषादयुक्तवत् ।।

54) स्कन्धा· संततयश्चैव संवृतित्वादसंस्कृताः ।
स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्यु· खरविषाणवत् ॥

55) विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥

56) नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा ।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषत. ॥

57) न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥

58) कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् ।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षा खपुष्पवत् ॥

59) घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥

60) पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रत ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥

61) कार्यकारणनानात्व गुणगुण्यन्यतापि च ।
सामान्यतदवदन्यत्व चैकान्तेन यदीष्यते ॥

62) एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा ।
भागित्वाद्वास्य नैकत्व दोषो वृत्तेरनार्हते ॥

63) देशकालविशेषेऽपि स्याद्वृत्तिर्युतसिद्धवत् ।
समानदेशता न स्यान्मूर्तकारणकार्ययो ॥

64) आश्रयाश्रयिभावान्न स्वातन्त्र्य समवायिनाम् ।
इत्ययुक्त स सबन्धो न युक्त समवायिभि ॥

65) सामान्य समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तित ।
अन्तरेणाश्रय न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः ॥

66) सर्वथानभिसंबन्ध. सामान्यसमवाययो. ।
ताभ्यामर्थो न सबद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत् ॥

67) अनन्यतैकान्तेऽणूनां संघातेऽपि विभागवत् ।
असहृतत्वं स्याद्भूतचतुष्कभ्रान्तिरेव सा ।।

68) कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्ति कार्यलिङ्ग हि कारणम् ।
उभयाभावतस्तत्स्थ गुणजातीतरच्च न ।।

69) एकत्वेऽन्यतराभाव शेषाभावोऽविनाभुव ।
द्वित्वसख्याविरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा ।।

70) विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ।।

71) द्रव्यपर्याययोरैक्य तयोरव्यतिरेकत. ।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावत ।।

72) सज्ञासख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषत· ।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ।।

73) यद्यापेक्षिकसिद्धि स्यान्न द्वय व्यवतिष्ठते ।
अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता ।।

74) विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ।।

75) धर्मधर्म्यविनाभाव सिद्ध्यत्यन्योऽन्यवीक्षया ।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ।।

76) सिद्धं चेद्धेतुत· सर्वं न प्रत्यक्षादितो गति ।
सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि ।।

77) विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ।।

78) वक्तर्यनाप्ते यद्धेतो· साध्यं तद्धेतुसाधितम् ।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात्साध्यमागमसाधितम् ।।

79) अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्य मृषाखिलम् ।
प्रमाणाभासमेवातस्तत् प्रमाणादृते कथम् ।।

80) साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता ।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥

81) बहिरङ्गार्थतैकान्ते प्रमाणाभासनिह्नवात् ।
सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ॥

82) विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥

83) भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः ।
बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते ॥

84) जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत् ।
मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत् ॥

85) बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः ।
तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः ॥

86) वक्तृश्रोतृप्रमातॄणां बोधवाक्यप्रमाः पृथक् ।
भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ बाह्यार्थौ तादृशेतरौ ॥

87) बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति ।
सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥

88) दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥

89) पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥

90) विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥

91) अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥

92) पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि ।
अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥

93) पुण्यं ध्रुवं स्वतो दु:खात्पापं च सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्वास्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥

94) विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥

95) विशुद्धिसक्लेशाङ्ग चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम् ।
पुण्यपापास्रवौ युक्तौ न चेद्व्यर्थस्तवार्हत ॥

96) अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बन्धो ज्ञेयानन्त्यान्न केवली ।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद् बहुतोऽन्यथा ॥

97) विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विपाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥

98) अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाज्ञानाद्वीतमोहत ।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥

99) कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपत ।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः ॥

100) शुद्धयशुद्धी पुन शक्तौ ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचर ॥

101) तत्त्वज्ञान प्रमाण ते युगपत्सर्वभासनम् ।
क्रमभावि च यज्ज्ञान स्याद्वादनयसस्कृतम् ॥

102) उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधी. ।
पूर्वा वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥

103) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्य प्रति विशेषणम ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तत्र केवलिनामपि ॥

104) स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषक ॥

105) स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेद. साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत् ॥

106) सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधत ।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नय ॥

107) नयोपनयैकान्ताना त्रिकालाना समुच्चय ।
अविभ्राड्भावसबन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥

108) मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति न. ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

109) नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा ।
तथान्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥

110) तदतद्वस्तु वागेषा तदेवेत्यनुशासतो ।
न सत्या स्यान्मृषावाक्यै कथ तत्त्वार्थदेशना ॥

111) वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थप्रतिषेधनिरङ्कुश ।
आह च स्वार्थसामान्य तादृग्वाच्य खपुष्पवत् ॥

112) सामान्यवाग्विशेषे चेन्न शब्दार्थो मृषा हि सा ।
अभिप्रेतविशेषाप्ते स्यात्कार सत्यलाञ्छन ॥

113) विधेयमोप्सितार्थाङ्ग प्रतिषेध्याविरोधि यत् ।
तथैवादेयहेयत्वमिति स्याद्वादसस्थिति ॥

114) इतीयमाप्तमीमासा विहिता हितमिच्छताम् ।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥

# युक्त्यनुशासनम्

1) कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमान त्वा वर्द्धमान स्तुतिगोचरत्वम् ।
निनीषव स्मो वयमद्य वीर विशीर्णदोषाशयपाशवन्धम् ॥

2) याथात्म्यमुल्लङ्घ्य गुणोदयाख्या लोके स्तुतिर्भूरिगुणोदधेस्ते ।
अणिष्ठमप्यशमशक्नुवन्तो वक्तु जिन त्वा किमिव स्तुयाम ॥

3) तथापि वैय्यात्यमुपेत्य भक्त्या स्तोतास्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्य ।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति किन्नोत्सहन्ते पुरुषा क्रियाभि ॥

4) त्व शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठा तुलाव्यतीता जिन शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशा ॥

5) काल कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतु प्रवक्तुर्वचनाशयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतु ॥

6) दयादमत्यागसमाधिनिष्ठ नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलै प्रवादैर्जिन त्वदीय मतमद्वितीयम् ॥

7) अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्व तव स्वतन्त्रान्यतरत्खपुष्पम् ।
अवृत्तिमत्वात्समवायवृत्ते ससर्गहानेः सकलार्थहानि ॥

8) भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्ति ।
न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्ष समन्तदोष मतमन्यदीयम् ॥

9) अहेतुकत्व प्रथित स्वभावस्तस्मिन् क्रियाकारकविभ्रम स्यात् ।
आबालसिद्धेर्विविधार्थसिद्धिर्वादान्तर किं तदसूयता ते ॥

10) येषामवक्तव्यमिहात्मतत्त्व देहादनन्यत्वपृथक्त्वक्लृप्ते ।
तेषा ज्ञतत्त्वेऽनवधार्यतत्त्वे का बन्धमोक्षस्थितिरप्रमेये ॥

11) हेतुर्न दृष्टोऽत्र न चाप्यदृष्टो योऽय प्रवाद क्षणिकात्मवादः ॥
न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये सन्तानभिन्ने न हि वासनास्ति ॥

12) तथा न तत्कारणकार्यभावो निरन्वया केन समानरूपा· ।
असत्खपुष्प न हि हेत्वपेक्ष दृष्ट न सिद्धयत्युभयोरसिद्धम् ॥

13) नैवास्ति हेतु क्षणिकात्मवादे न सन्नसन्वा विभवादकस्मात् ।
नाशोदयैकक्षणता च दृष्टा सन्तानभिन्नक्षणयोरभावात् ॥

14) कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगौ स्यातामसंचेतितकर्म च स्यात् ।
आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥

15) न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसस्थौ न सवृति· सापि मृषास्वभावा ।
मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टो विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥

16) प्रतिक्षण भङ्गिषु तत्पृथक्त्वान्न मातृघाती स्वपति स्वजाया ।
दत्तग्रहो नाधिगतस्मृतिर्न न क्त्वार्थसत्य न कुल न जाति ॥

17) न शास्तृशिष्यादिविधिव्यवस्था विकल्पबुद्धिर्वितथाखिला चेत् ।
अतत्त्वतत्त्वादिविकल्पमोहे निमज्जता वीतविकल्पधी का ॥

18) अनर्थिका साधनसाध्यधीश्चेद् विज्ञानमात्रस्य न हेतुसिद्धि ।
अथार्थवत्त्व व्यभिचारदोषो न योगिगम्य परवादिसिद्धम् ॥

19) तत्त्व विशुद्ध सकलैर्विकल्पैर्विश्वाभिलापास्पदतामतीतम् ।
न स्वस्य वेद्य न च तन्निगद्य सुषुप्त्यवस्थ भवदुक्तिबाह्यम् ॥

20) मूकात्मसवेद्यवदात्मवेद्य तन्म्लिष्टभाषाप्रतिमप्रलापम् ।
अनङ्गसज्ञ तदवेद्यमन्यै स्यात् त्वद्द्विषा वाच्यमवाच्यतत्त्वम् ॥

21) अशासदञ्जासि वचासि शास्ता शिष्याश्च शिष्टा वचनैर्न ते तै· ।
अहो इद दुर्गतम तमोन्यत् त्वया विना श्रायसमार्य कि तत् ॥

22) प्रत्यक्षबुद्धि क्रमते न यत्र तल्लिङ्गगम्य न तदर्थलिङ्गम् ।
वाचो न वा तद्विषयेण योग का तद्गति कष्टमश्रृण्वता ते ॥

23) रागाद्यविद्यानलदीपन च विमोक्षविद्यामृतशासन च ।
न भिद्यते सवृतिवादिवाक्य भवत्प्रतीप परमार्थशून्यम् ॥

24) विद्याप्रसूत्यै किल शील्यमाना भवत्यविद्या गुरुणोपदिष्टा ।
अहो त्वदीयोक्त्यनभिज्ञमोहो यज्जन्मने यत्तदजन्मने तत् ॥

25) अभावमात्रं परमार्थवृत्ते सा सवृति· सर्वविशेषशून्या ।
तस्या विशेषौ किल बन्धमोक्षौ हेत्वात्मनेति त्वदनाथवाक्यम् ।

26) व्यतीतसामान्यविशेषभावाद् विश्वाभिलापार्थविकल्पशून्यम् ।
खपुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्व प्रबुद्धतत्त्वाद्भवत परेषाम् ॥

27) अतत्स्वभावेऽप्यनयोरुपायाद्गतिर्भवेत्तौ वचनीयगम्यौ ।
सबन्धिनौ चेन्न विरोधि दृष्टं वाच्य यथार्थं न च दूषण तत् ॥

28) उपेयतत्त्वानभिलाप्यतावदुपायतत्त्वानभिलाप्यता स्यात् ।
अशेषतत्त्वानभिलाप्यताया द्विषा भवद्युक्त्यभिलाप्यताया ॥

29) अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावादवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम् ।
स्वरूपतश्चेत् पररूपवाचि स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥

30) सत्यानृत वाप्यनृतानृत वाप्यस्तीह कि वस्त्वतिशायनेन ।
युक्त प्रतिद्वन्द्वयनुबन्धिमिश्र न वस्तु तादृक् त्वदृते जिनेदृक् ॥

31) सहक्रमाद्वा विषयाल्पभूरिभेदेऽनृत भेदि न चात्मभेदात् ।
आत्मान्तर स्याद्भिदुर सम च स्याच्चानृतात्मानभिलाप्यता च ॥

32) न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तर सर्वनिषेधगम्यम् ।
दृष्ट विमिश्र तदुपाधिभेदात् स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषे परेषाम् ॥

33) प्रत्यक्षनिर्देशवदप्यसिद्धमकल्पक ज्ञापयितु ह्यशक्यम् ।
विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो न तावकद्वेषिणि वीर सत्यम् ॥

34) कालान्तरस्थे क्षणिके ध्रुवे वापृथक्पृथक्त्वावचनीयतायाम् ।
विकारहानेर्न च कर्तृकार्ये वृथा श्रमोऽय जिन विद्विषा ते ॥

35) मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञ शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टि ।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा मृदव प्रलब्धा. ॥

36) दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम् ।
स्वभावत कि न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा प्रपातः ॥

37) स्वच्छन्दवृत्तेर्जगत स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम् ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या बत विभ्रमन्ति ॥

38) प्रवृत्तिरक्तै शमतुष्टिरिक्तैरुपेत्य हिंसाभ्युदयाङ्गनिष्ठा ।
प्रवृत्तित शान्तिरपि प्ररूढ तम परेषा तव सुप्रभातम् ॥

39) शीर्षोपहारादिभिरात्मदु खैर्देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धा ।
सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा युक्त च तेषा त्वमृषिर्न येषाम् ॥

40) सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषा पदं विशेषान्तरपक्षपाति ।
अन्तर्विशेषान्तर्वृत्तितोऽन्यत् समानभावं नयते विशेषम् ॥

41) यदेवकारोपहित पद तदस्वार्थत. स्वार्थमवच्छिनत्ति ।
पर्यायसामान्यविशेषसर्वं पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥

42) अनुक्ततुल्य यदनेवकारं व्यावृत्त्यभावान्नियमद्वयेऽपि ।
पर्यायभावेऽन्यतरप्रयोगस्तत्सर्वमन्यच्युतमात्महीनम् ॥

43) विरोधि चाभेद्यविशेषभावात्तद्द्योतन स्याद्गुणतो निपातः ।
विपाद्यसन्धिश्च तथाङ्गभावादवाच्यता श्रायसलोपहेतु. ॥

44) तथा प्रतिज्ञाशयतोऽप्रयोग' सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधयुक्ति ।
इति त्वदीया जिननाग दृष्टि पराप्रधृष्या परधर्षिणी च ॥

45) विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिद्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधामी स्याच्छब्दनेया सकलेऽर्थभेदे ॥

46) स्यादित्यपि स्याद्गुणमुख्यकल्पैकान्तो यथोपाधिविशेषभावात् ।
तत्त्व त्वनेकान्तमशेषरूप द्विधा भवार्थव्यवहारवत्त्वात् ॥

47) न द्रव्यपर्यायपृथग्व्यवस्था द्वैयात्म्यमेकार्पणया विरुद्धम् ।
धर्मश्च धर्मी च मिथस्त्रिधेमौ न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ ॥

48) दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासन ते ।
प्रतिक्षण स्थित्युदयव्ययात्मतत्त्वव्यवस्थ सदिहार्थरूपम् ॥

49) नानात्मतामप्रजहत्तदेकमेकात्मतामप्रजहच्च नाना ।
अङ्गाङ्गिभावात्तव वस्तु तद्यत् क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम् ॥

50) मिथोऽनपेक्षा पुरुषार्थहेतुर्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्य' ।
परस्परेक्षा पुरुषार्थहेतुर्दृष्टा नयास्तद्वदसिक्रियायाम् ॥

51) एकान्तधर्माभिनिवेशमूला रागादयोऽहङ्कृतिजा जनानाम् ।
एकान्तहानाच्च स यत्तदेव स्वाभाविकत्वाच्च सम मनस्ते ॥

52) प्रमुच्यते च प्रतिपक्षदूषी जिन त्वदीयै' पटुसिंहनादै. ।
एकस्य नानात्मतया ज्ञवृत्तेस्तौ बन्धमोक्षौ स्वमतादबाह्यौ ॥

53) आत्मान्तराभावसमानता न वागास्पद स्वाश्रयभेदहीना ।
भावस्य सामान्यविशेषवत्त्वादैक्ये तयोरन्यतरन्निरात्म ॥

54) अमेयमश्लिष्टममेयमेव भेदेऽपि तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात् ।
वृत्तिश्च कृत्स्नाशविकल्पतो न मान च नानन्तसमाश्रयस्य ॥

55) नाना सदेकात्मसमाश्रयं चेदन्यत्वमद्विष्ठमनात्मनो क्व ।
विकल्पशून्यत्वमवस्तुनश्चेत् तस्मिन्नमेये क्व खलु प्रमाणम् ॥

56) व्यावृत्तिहीनान्वयतो न सिद्धचेद् विपर्ययेऽप्यद्वितयेऽपि साध्यम् ।
अतद्व्युदासाभिनिवेशवाद पराभ्युपेतार्थविरोधवाद ॥

57) अनात्मनानात्मगतेरयुक्तिर्वस्तुन्ययुक्तेर्यदि पक्षसिद्धि· ।
अवस्त्वयुक्ते प्रतिपक्षसिद्धि न च स्वय साधनरिक्तसिद्धि· ॥

58) निशायितस्तै परशु परघ्नः स्वमूर्ध्नि निर्भेदभयानभिज्ञैः ।
वैतण्डिकैर्यैः कुसृति प्रणीता मुने भवच्छासनदृक्प्रमूढै ॥

59) भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो भावान्तर भाववदर्हतस्ते ।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च वस्तुव्यवस्थाङ्गममेयमन्यत् ॥

60) विशेषसामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यम् ।
अभेदबुद्धेरविशिष्टता स्याद् व्यावृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते ॥

61) सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्प सर्वान्तशून्य च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकर निरन्त सर्वोदय तीर्थमिद तवैव ॥

62) काम द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षु समीक्ष्यता ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुव खण्डितमानश्रृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्र ॥

63) न रागान्न· स्तोत्र भवति भवपाशच्छिदि मुनौ
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ।
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोपज्ञमनसा
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासङ्गगदिता ॥

64) इति स्तुत्य स्तुत्यैस्त्रिदशमुनिमुख्यै प्रणिहितै
स्तुत· शक्त्या श्रेयः पदमधिगतस्त्व जिन मया ।
महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये
विधेया मे भक्ति पथि भवत एवाप्रतिनिधौ ॥

# स्वयम्भूस्तोत्रम्

1) स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥

2) प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥

3) विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥

4) स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ॥

5) स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनोऽजितक्षुल्लकवादिशासनः ॥

6) यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य क्रीडास्वपि क्षीवमुखारविन्दः ।
अजेयशक्तिर्भुवि बन्धुवर्गश्चकार नामाजित इत्यबन्ध्यम् ॥

7) अद्यापि यस्याजितशासनस्य सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम् ।
प्रगृह्यते नाम परं पवित्रं स्वसिद्धिकामेन जनेन लोके ॥

8) यः प्रादुरासीत्प्रभुशक्तिभूम्ना भव्याशयालीनकलङ्कशान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्तघनोपदेहो यथारविन्दाभ्युदयाय भास्वान् ॥

9) येन प्रणीतं पृथुधर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं ह्रदं चन्दनपङ्कशीतं गजप्रवेका इव घर्मतप्ताः ॥

10) स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रुर्विद्याविनिर्वान्तकषायदोषः ।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनश्रियं मे भगवान् विधत्ताम् ॥

11) त्वं शम्भवः सम्भवतर्षरोगैः सतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथानाथरुजां प्रशान्त्यै ॥

12) अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम् ।
इदं जगज्जन्मजरान्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥

13) शतह्लदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादी ॥

14) बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥

15) शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः स्तुत्या प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः ।
तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः ॥

16) गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत् ।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत् ॥

17) अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि च ममेदमित्याभिनिवेशिकग्रहात् ।
प्रभङ्गुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान् ॥

18) क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥

19) जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते ।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित् कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत् ॥

20) स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत् तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः ।
इति प्रभो लोकहितं यतो मतं ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥

21) अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं स्वयं मतं येन सुयुक्तिनीतम् ।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति सर्वक्रियाकारकतत्त्वसिद्धिः ॥

22) अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् ।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥

23) सतः कथंचित्तदसत्त्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥

24) न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥

25) विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥

26) पद्मप्रभ: पद्मपलाशलेश्य पद्मालयालिङ्गितचारुमूर्ति. ।
बभौ भवान् भव्यपयोरुहाणां पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥

27) बभार पद्मा च सरस्वती च भवान् पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभा सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलितां विमुक्त. ॥

28) शरीररश्मिप्रसर· प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरालिलेप ।
नरामराकीर्णसभा प्रभा वा शैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम् ॥

29) नभस्तल पल्लवयन्निव त्व सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारै ।
पादाम्बुजै. पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै ॥

30) गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्य नाखण्डल· स्तोतुमल तवर्षे· ।
प्रागेव मादृक्किमुतातिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥

31) स्वास्थ्य यदात्यन्तिकमेष पुसां स्वार्थो न भोग परिभङ्गुरात्मा ।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ॥

32) अजङ्गम जङ्गमनेययन्त्र यथा तथा जीवधृत शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापक च स्नेहो वृथात्रेति हित त्वमाख्यः ॥

33) अलङ्घ्यशक्तिर्भवितव्यतेय हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ।
अनीश्वरो जन्तुरहक्रियार्तः सहत्य कार्येष्विति साध्ववादी· ॥

34) बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्य शिव वाञ्छति नास्य लाभः ।
तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वय तप्यत इत्यवादी ॥

35) सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता मातेव बालस्य हितानुशास्ता ।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता मयापि भक्त्या परिणूयतेऽद्य ॥

36) चन्द्रप्रभ चन्द्रमरीचिगौर चन्द्र द्वितीय जगतीव कान्तम् ।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिन जितस्वान्तकषायबन्धम् ॥

37) यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेशभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्य बहु मानस च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥

38) स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता वाक्सिहनादैर्विमदा बभूवु. ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः ॥

39) यः सर्वलोके परमेष्ठितायाः पदं बभूवाद्भुतकर्मतेजाः ।
अनन्तधामाक्षरविश्वचक्षुः समन्तदुःखक्षयशासनश्च ॥

40) स चन्द्रमा भव्यकुमुद्वतीनां विपन्नदोषाभ्रकलङ्कलेपः ।
व्याकोशवाङ्न्यायमयूखमालः पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे ॥

41) एकान्तदृष्टिप्रतिषेधितत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे स्वधाम्ना नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः ॥

42) तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात् तथाप्रतीतेस्तव तत्कथंचित् ।
नात्यन्तमन्यत्वमनन्यता च विधेर्निषेधस्य च शून्यदोषात् ॥

43) नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यप्रतिपत्तिसिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते ॥

44) अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या ।
आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः ॥

45) गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं जिनस्य ते तद्द्विषतामपथ्यम् ।
ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां ममापि साधोस्तव पादपद्मम् ॥

46) न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः ।
यथा मुनेस्तेऽनघ वाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥

47) सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः ।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम् ॥

48) स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः ।
त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥

49) अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥

50) त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः ।
ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिन शीतलेड्यसे ॥

51) श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः ।
भवांश्चकासे भुवनत्रयेऽस्मिन्नेको यथा वीतघनो विवस्वान् ॥

52) विधिर्विषक्तप्रतिषेधरूप प्रमाणमत्रान्यतरत्प्रधानम् ।
गुणोऽपरो मुख्यनियामहेतुर्नय स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥
53) विवक्षितो मुख्य इतोष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।
तथारिमित्रानुभयादिशक्ति द्वयावधे कार्यंकर हि वस्तु ॥

54) दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे साध्य प्रसिद्धयेन्न तु तादृगस्ति ।
यत्सर्वथैकान्तनियामि दृष्टं त्वदीयदृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥

55) एकान्तदृष्टिप्रतिषेधसिद्धिर्न्यायेषुभिर्मोहरिपु निरस्य ।
असि स्म कैवल्यविभूतिसम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्ह ॥

56) शिवासु पूज्योऽभ्युदयक्रियासु त्व वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः ।
मयापि पूज्योऽल्पधिया मुनीन्द्र दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः ॥

57) न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

58) पूज्यं जिन त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।
दोषाय नाल कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥

59) यद्वस्तु बाह्य गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतो. ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तर केवलमप्यल न ॥

60) बाह्येतरोपाधिसमग्रतेय कार्येषु ते द्रव्यगत स्वभावः ।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुसा तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥

61) य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षा स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्त्व विमलस्य ते मुने परस्परेक्षा स्वपरोपकारिणः ॥

62) यथैकश कारकमर्थसिद्धये समीक्ष्य शेषं स्वसहायकारकम् ।
तथैव सामान्यविशेषमातृका नयास्तवेष्टा गुणमुख्यकल्पत ॥

63) परस्परेक्षान्वयभेदलिङ्गतः प्रसिद्धसामान्यविशेषयोस्तव ।
समग्रतास्ति स्वपरावभासक यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम् ॥

64) विशेष्यवाच्यस्य विशेषण वचो यतो विशेष्य विनियम्यते च यत् ।
तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥

65) नयास्तव स्यात्पदसत्यलाञ्छिता रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतगुणा यतस्ततो भवन्तमार्या' प्रणता हितैषिण ॥

66) अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिर हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥

67) कषायनाम्ना द्विषता प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।
विशोषण मन्मथदुर्मदामय समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयत् ॥

68) परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया स्वतृष्णासरिदार्यशोषिता ।
असङ्गघर्मार्कगभस्तितेजसा पर ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥

69) सुहृत्त्वयि श्रीसुभगत्वमश्नुते द्विषस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोरपि प्रभो पर चित्रमिदं तवेहितम् ॥

70) त्वमीदृशस्तादृश इत्यय मम प्रलापलेशोऽल्पमतेर्महामुने ।
अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय सस्पर्श इवामृताम्बुधे ॥

71) धर्मतीर्थमनघं प्रवर्तयन् धर्म इत्यनुमत सता भवान् ।
कर्मकक्षमदहत्तपोऽग्निभि' शर्म शाश्वतमवाप शङ्कर ॥

72) देवमानवनिकायसत्तमै रेजिषे परिवृतो वृतो बुधै ।
तारकापरिवृतोऽतिपुष्कलो व्योमनीव शशलाञ्छनोऽमलः ॥

73) प्रातिहार्यविभवै परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान् नापि शासनफलैषणातुर. ॥

74) कायवाक्यमनसा प्रवृत्तयो नाभवस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।
नासमीक्ष्य भवत प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥

75) मानुषी प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यत ।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥

76) विधाय रक्षा परत प्रजाना राजा चिर योऽप्रतिमप्रताप ।
व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्तिर्मुनिर्दयामूर्तिरिवाघशान्तिम् ॥

77) चक्रेण य शत्रुभयङ्करेण जित्वा नृप सर्वनरेन्द्रचक्रम् ।
समाधिचक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जयमोहचक्रम् ॥

78) राजश्रिया राजसु राजसिंहो रराज यो राजसुभोगतन्त्रः ।
आर्हन्त्यलक्ष्म्या पुनरात्मतन्त्रो देवासुरोदारसभे रराज ॥

79) यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं मुनौ दयादीधितिधर्मचक्रम् ।
पूज्ये मुहु. प्राञ्जलि देवचक्र ध्यानोन्मुखे ध्वसि कृतान्तचक्रम् ॥

80) स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरण गतानाम् ।
भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्य ॥

81) कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः कुन्थुर्जिनो ज्वरजरामरणोपशान्त्यै ।
त्वं धर्मचक्रमिह वर्तयसि स्म भूत्यै भूत्या पुरा क्षितिपतीश्वरचक्रपाणि. ॥

82) तृष्णार्चिष परिदहन्ति न शातिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव कायपरितापहर निमित्तमित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥

83) बाह्य तप. परमदुश्चरमाचरस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपस परिबृंहणार्थम् ।
ध्यान निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिपेऽतिशयोपपन्ने ॥

84) हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्य. ।
बभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ॥

85) यस्मान्मुनीन्द्र तव लोकपितामहाद्या विद्याविभूतिकणिकामपि नाप्नुवन्ति ।
तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्या स्तुत्य स्तुवन्ति सुधिय स्वहितैकताना ॥

86) गुणस्तोक सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुति ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥

87) तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किंचन ॥

88) लक्ष्मीविभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत् ॥

89) तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्वयक्ष. शक्र सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मय ॥

90) मोहरूपो रिपु पापः कषायभटसाधन ।
दृष्टिसंविदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर पराजित ॥

91) कन्दर्पस्योद्धरो दर्पस्त्रैलोक्यविजयार्जित ।
ह्रेपयामास त धीरे त्वयि प्रतिहतोदय ॥

92) आयत्यां च तदात्वे च दु खयोनिर्दुरुत्तरा ।
तृष्णानदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ॥

93) अन्तक क्रन्दको नृणां जन्मज्वरसख सदा ।
त्वामन्तकान्तक प्राप्य व्यावृत्त कामकारत ॥

94) भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम् ।
रूपमेव तवाचष्टे धीर दोषविनिग्रहम् ॥

95) समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा ।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्म ध्यानतेजसा ॥

96) सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदय ।
क न कुर्यात् प्रणम्र ते सत्व नाथ सचेतनम् ॥

97) तव वागमृत श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम् ।
प्रीणयत्यमृत यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ॥

98) अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्यय ।
तत सर्वं मृषोक्त स्यात्तदयुक्त स्वघातत ॥

99) ये परस्खलितोन्निद्रा स्वदोषेभनिमीलना ।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्र त्वन्मतश्रिय ॥

100) ते तं स्वघातिन दोष शमीकर्तुमनीश्वरा ।
त्वद्द्विष स्वहनो बालास्तत्त्वावक्तव्यता श्रिता ॥

101) सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नया ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥

102) सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षक. ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥

103) अनेकान्तोऽप्यनेकान्त. प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥

104) इति निरुपमयुक्तशासन प्रियहितयोगगुणानुशासन ।
अरजिन दमतीर्थनायकस्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय कः ॥

105) मतिगुणविभवानुरूपतस्त्वयि वरदागमदृष्टिरूपत' ।
गुणकृशमपि किंचनोदित मम भवताद् दुरितासनोदितम् ॥

106) यस्य महर्षे सकलपदार्थप्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।
सामरमर्त्यं जगदपि सर्वं प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपतति स्म ॥

107) यस्य च मूर्ति. कनकमयीव स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा ।
वागपि तत्त्वं कथयितुकामा स्यात्पदपूर्वा रमयति साधून् ॥

108) यस्य पुरस्ताद्विगलितमाना न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते ।
भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा ॥

109) यस्य समन्ताज्जिनशिशिरांशो शिष्यकसाधुग्रहविभवोऽभूत् ।
तीर्थमपि स्व जननसमुद्रत्रासितसत्त्वोत्तरणपथोऽग्रम् ॥

110) यस्य च शुक्ल परमतपोऽग्निर्ध्यानमनन्त दुरितमधाक्षीत् ।
त जिनसिंह कृतकरणीय मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ॥

111) अधिगतमुनिसुव्रतस्थितिर्मुनिवृषभो मुनिसुव्रतोऽनघ ।
मुनिपरिषदि निर्बभौ भवानुडुपरिषत्परिवीतसोमवत् ॥

112) परिणतशिखिकण्ठरागया कृतमदनिग्रहविग्रहाभया ।
तव जिन तपस प्रसूतया ग्रहपरिवेषरुचेव शोभितम् ॥

113) शशिरुचिशुचिशुक्ललोहित सुरभितरं विरजो निजं वपु. ।
तव शिवमतिविस्मय यते यदपि च वाङ्मनसीयमोहितम् ॥

114) स्थितिजननिरोधलक्षण चरमचर च जगत् प्रतिक्षणम् ।
इति जिन सकलज्ञलाञ्छन वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥

115) दुरितमलकलङ्कमष्टक निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥

116) स्तुति. स्तोतु' साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्य फलमपि ततस्तस्य च सत ।

किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्य नमिजिनम् ॥

117) त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगल
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी ।
त्वयि ज्ञानज्योतिर्विभवकिरणैर्भाति भगव-
न्नभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतय ॥

118) विधेय वार्यं चानुभयमुभय मिश्रमपि तद्
विशेषै प्रत्येक नियमविषयैश्चापरिमितै ।
सदान्योन्यापेक्षै सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा
त्वया गीत तत्त्व बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥

119) अहिंसा भूताना जगति विदित ब्रह्म परम
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभय
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरत ॥

120) वपुर्भूषावेषव्यवधिरहित शान्तकरण
यतस्ते सचष्टे स्मरशरविषातङ्कविजयम् ।
विना भीमै शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलय
ततस्त्व निर्मोह शरणमसि न शान्तिनिलय ॥

121) भगवानृषि परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धन ।
ज्ञानविपुलकिरणै सकल प्रतिबुध्य बुद्धकमलायतेक्षण ॥

122) हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायक ।
शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजर ॥

123) त्रिदशेन्द्रमौलिमणिरत्नकिरणविसरोपचुम्बितम् ।
पादयुगलममल भवतो विकसत्कुशेशयदलारुणोदरम् ॥

124) नखचन्द्ररश्मिकवचातिरुचिरशिखराङ्गुलिस्थलम् ।
स्वार्थनियतमनस सुधियः प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षय ॥

125) द्युतिमद्रथाङ्गरविबिम्बकिरणजटिलांशुमण्डल ।
नीलजलदजलराशिवपु सह बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ॥

126) हलभृच्च ते स्वजनभक्तिमुदितहृदयौ जनेश्वरौ ।
धर्मविनयरसिकौ सुतरा चरणारविन्दयुगल प्रणेमतु: ॥

127) ककुदं भुव खचरयोषिदुषितशिखरैरलङ्कृत ।
मेघपटलपरिवीततटस्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥

128) वहतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च ।
प्रीतिविततहृदयै' परितो भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचल. ॥

129) बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नार्थकृत् ।
नाथ युगपदखिल च सदा त्वमिद तलामलकवद्विवेदिथ ।

130) अत एव ते बुधनुतस्य चरितगुणमद्भुतोदयम् ।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसा स्थिता वयम् ॥

131) तमालनीलै सधनुस्तडिद्गुणै. प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभि ।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः ॥

132) बृहत्फणामण्डलमण्डपेन य स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधर विरागसध्यातडिदम्बुदो यथा ॥

133) स्वयोगनिर्स्त्रिशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् ।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुत त्रिलोकपूजातिशयास्पद पदम् ।

134) यमीश्वर वीक्ष्य विधूतकल्मष तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषव' ।
वनौकसः स्वश्रमबन्ध्यबुद्धय शमोपदेश शरण प्रपेदिरे ॥

135) स सत्यविद्यातपसां प्रणायक समग्रधीरुग्रकुलाम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्वजिन प्रणम्यते विलीनमिथ्यापथदृष्टिविभ्रम ॥

136) कीर्त्या भुवि भासि तया वीर त्वं गुणसमुत्थया भासितया ।
भासोडुसभासितया सोम इव व्योम्नि कुन्दशोभासितया ॥

137) तव जिन शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभव ।
दोषकशासनविभव स्तुवन्ति चैन प्रभाकृशासनविभव ॥

138) अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधत. स्याद्वाद ।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वरास्याद्वाद ॥

139) त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहित. ।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धामहित ॥

140) सभ्यानामभिरुचित दधासि गुणभूषण श्रिया चारुचितम् ।
मग्न स्वस्या रुचित जयसि च मृगलाञ्छन स्वकान्त्या रुचितम् ॥

141) त्व जिन गतमदमायस्तव भावाना मुमुक्षुकामद माय' ।
श्रेयान् श्रीमदमायस्त्वया समादेशि सप्रयामदमाय ॥

142) गिरिभित्त्यवदानवत श्रीमत इव दन्तिन स्रवद्दानवत' ।
तव शमवादानवतो गतमूर्जितमपगतप्रमादानवत ॥

143) बहुगुणसम्पदसकल परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् ।
नयभक्त्यवतसकल तव देव मत समन्तभद्रं सकलम् ॥



# जिनशतकम्

1) श्रीमज्जिनपदाभ्याश प्रतिपाद्यागसा जये ।
कामस्थानप्रदानेश स्तुतिविद्या प्रसाधये ॥

2) स्नात स्वमलगम्भीर जिनामितगुणार्णवम् ।
पूतश्रीमज्जगत्सार जनायात क्षणाच्छिवम् ॥

3) धिया ये श्रितयेतार्त्या यानुपायान्वरानताः ।
येऽपापा यातपारा ये श्रियायातानतन्वत ॥

4) आसते सतत ये च सति पुर्वक्षयालये ।
ते पुण्यदा रतायातं सर्वदा माभिरक्षत ॥

5) नतपीला सनाशोक सुमनोवर्षभापित ।
भामण्डलासनाशोक सुमनोवर्षभाषितः ॥

6) दिव्यैर्ध्वनिसितच्छत्रचामरैर्दुन्दुभिस्वनैः ।
दिव्यैर्विनितस्तोत्रश्रमदर्दुरिभिर्जनैः ॥

7) यत श्रितोपि कान्ताभिर्दृष्टा गुरुतया स्ववान् ।
वीतचेतोविकाराभि. स्रष्टा चारुधिया भवान् ॥

8) विश्वमेको रुचामाको व्यापा येनार्य वर्तते ।
शश्वल्लोकोऽपि चालोको द्वापो ज्ञानार्णवस्य ते ॥

9) श्रित श्रेयोऽप्युदासीने यत्त्वय्येवाश्नुते पर ।
क्षत भूयो मदाहाने तत्त्वमेवार्चितेश्वर ॥

10) भासते विभुतास्तोना ना स्तोता भुवि ते सभा ।
या. श्रिता. स्तुत गीत्या नु नुत्या गीतस्तुता श्रिया ॥

11) स्वयं शमयितु नाश विदित्वा सन्नतस्तु ते ।
चिराय भवते पीड्यमहोरुगुरवेऽशुचे ॥

12) स्वय शमयितु नाश विदित्वा सन्नत स्तुते ।
चिराय भवतेपीड्य महोरुगुरवे शुचे ॥

13) ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतोतितोतृत ।
ततोऽतातिततोतोते ततता ते ततोतत ॥

14) येयायायायेयाय नानानूनाननानन ।
ममाममाममामामितामतीतिततीतित ॥

15) गायतो मह्हिमायते गा यतो महिमाय ते ।
पद्मया स हि तायते पद्मयासहितायते ॥

16) सदक्षराजराजित प्रभो दयस्व वर्द्धन ।
सता तमो हरन् जयन् महो दयापराजित ॥

17) सदक्षराजराजित प्रभोदय स्ववर्द्धन ।
स तान्तमोह रजयन् महोदयापराजित ॥

18) नचेनो न च रागादिचेष्टा वा यस्य पापगा ।
नो वामै श्रीयतेऽपारा नयश्रीर्भुवि यस्य च ॥

19) पूतस्वनवमाचार तन्वायात भयादरुचा ।
स्वया वामेश पाया मा नतमेकार्च्य शंभव ॥

20) धाम स्वयममेयात्मा मतयादभ्रया श्रिया ।
स्वया जिन विधेया मे यदनन्तमविभ्रम ॥

21) अतम स्वनतारक्षी तमोहा वन्दनेश्वर ।
महाश्रीमानजो नेता स्वव मामभिनन्दन ॥

22) नन्द्यनन्तर्द्ध्यनन्तेन नन्तेनस्तेऽभिनन्दन ।
नन्दनर्द्धिरनम्रो न नम्रो नष्टोऽभिनन्द्य न ।

23) नन्दनश्रीर्जिन त्वा न नत्वा नर्द्ध्या स्वनन्दि न ।
नन्दिनस्ते विनन्ता न नन्तानन्तोभिनन्दन ॥

24) नन्दन त्वाप्यनष्टो न नष्टोऽनत्वाभिनन्दन ।
नन्दनस्वर नत्वेन नत्वेन स्यन्न नन्दन. ॥

25) देहिनो जयिन श्रेय सदात सुमते हितः ।
देहि नोजयिन. श्रेय. स दात सुमतेहितः ॥

26) वरगौरतनु देव वंदे नु त्वक्षयार्ज्जव ।
वर्जयार्त्तिं त्वामार्याव वर्यामानोरुगौरव ॥

27) अपापापदमेयश्रीपादपद्म प्रभोर्दय ।
पापमप्रतिमाभो मे पद्मप्रभ मतिप्रद ॥

28) वदे चारुरुचां देव भो वियाततया विभो ।
त्वामजेय यजे मत्वा तमितात ततामित ॥

29) स्तुवाने कोपने चैव समानो यन्न पावक. ।
भवानेकोपि नेतेव त्वमाश्रेय सुपार्श्वक. ॥

30) चन्द्रप्रभो दयोजेयो विचित्रेऽभात् कुमण्डले ।
रुन्द्रशोभोक्षयोमेयो रुचिरे भानुमण्डले ॥

31) प्रकाशयन् खमुद्भूतस्त्वमुद्घांककलालय ।
विकाशयन् समुद्भूतः कुमुद कमलाप्रिय· ॥

32) धाम त्विषा तिरोधानविकलो विमलोक्षय ।
त्वमदोपाकरोस्तोन· सकलो विपुलोदय ॥

33) यत्तु खेदकर ध्वान्त सहस्रगुरपारयन् ।
भेत्तु तदन्तरत्यन्तं सहमे गुरु पारयन् ॥

34) खलोलूकस्य गोव्रातस्तमस्ताप्यति भास्वत ।
कालोविकलगोघात समयोऽप्यस्य भास्वत ॥

35) लोकत्रयमहामेयकमलाकरभास्वते ।
एकप्रियसहायाय नम एकस्वभाव ते ॥

36) चारुश्रीशुभदौ नौमि रुचा वृद्धौ प्रपावनौ ।
श्रीवृद्धौतौ शिवौ पादौ शुद्धौ तव शशिप्रभ ॥

37) शंसनाय कनिष्ठायाश्चेष्टाया यत्र देहिन ।
नयेनाशसित श्रेय सद्य सन्नज राजित ॥

38) शस नायक निष्ठायाश्चेष्टायायत्र देहि न ।
न येनाश सित श्रेय सद्य सन्नजराजित· ॥

39) शोकक्षयकृदव्याधे पुष्पदन्त स्ववत्पते ।।
लोकत्रयमिदं बोधे गोपद तव वर्तते ।।

40) लोकस्य धीर ते वाढ रुचयेपि जुषे मतम् ।
नो कस्मै धीमते लीढ रोचतेपि द्विपेमृतम् ।।

41) एतच्चित्र क्षितेरेव घातकोपि प्रसादक ।
भूतनेत्रपतेस्यैव शीतलोपि च पावक ।।

42) काममेत्य जगत्सारं जनाः स्नात महोनिधिम् ।
विमलात्यन्तगम्भीरं जिनामृतमहोदधिम् ।।

43) हरतीज्याहिता तान्ति रक्षार्थायस्य नेदिता ।
तीर्थादि श्रेयसे नेताज्याय. श्रेयस्ययस्य हि ।।

44) अविवेको न वा जातु विभूषापन्मनोरुजा ।
वेशा मायाज वैनो वा कोपयागश्च जन्म न ।।

45) आलोक्य चारु लावण्य पदाल्लातुमिवोर्जितम् ।
त्रिलोकी चाखिला पुण्य मुदा दातु ध्रुवोदितम् ।।

46) अपराग समाश्रेयन्ननाम यमितोभियम् ।
विदार्य सहितावार्य समुत्सन्नज वाजित ।।

47) अपराग स मा श्रेयन्ननामयमितोभियम् ।
विदार्यसहितावार्य समुत्सन्नजवाजित ।।

48) अभिषिक्त सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्त परैर्न कै ।
वासुपूज्य मयीशेशस्त्व सुपूज्य क ईदृश ।।

49) चार्वस्यैव क्रमेजस्य तुग सायो नमन्नभात् ।
सर्वतो वक्त्रमेकास्यमग छायोनमप्यभात् ।।

50) क्रमतामक्रम क्षेम धीमतामर्च्यमश्रमम् ।
श्रीमद्विमलमर्चेम वामकाम नम क्षमम् ।।

51) ततोमृतिमतामीम तमितामतिमुत्तम ।
मतोमातातिता तोत्तु तमितामतिमुत्तमा ।।

52) नेतानतनुते नेनोनितान्तं नाततो नुतात् ।
नेता न तनुते नेनो नितान्त ना ततो नुतात् ॥

53) नयमानक्षमामान न मामार्यात्तिनाशन ।
नशनादस्य नो येन नये नोरोरिमाय न ॥

54) वर्णभार्यातिनन्द्याव वन्द्यानन्त सदारव ।
वरदातिनतार्य्याव वर्य्यातान्तसभार्णव ॥

55) नुन्नानृतोन्नतानन्त नूतानोतिनुतानन ।
नतोनूनोनितान्तं ते नेतातान्ते निनौति ना ॥

56) त्वमवाध दमेनर्द्ध मत धर्मप्रगोधन ।
वाधस्वाशमनागो मे धर्म शर्मतमप्रद ॥

57) नतपाल महाराज गीत्यानुत ममाक्षर ।
रक्ष मामतनुत्यागी जराह्वा मलपातन ॥

58) मानसादर्शसक्रान्त सेवे ते रूपमद्भुतम् ।
जिनस्योदयि सत्वान्त स्तुवे चारूढमच्युतम् ॥

59) यत कोपि गुणानुक्त्या नावाब्धीनपि पारयेत् ।
न तथापि क्षणाद्भक्त्या तवात्मान तु पावयेत् ॥

60) रुच बिभर्ति ना धीर नाथातिस्पष्टवेदन ।
वचस्ते भजनात्सार यथाय स्पर्शवेदिन. ॥

61) प्राप्य सर्वार्थसिद्धि गा कल्याणेत स्ववानत. ।
अप्यपूर्वार्थसिद्ध्येगा कल्याकृत भवान् युत ॥

62) भवत्येव धरा मान्या सूद्यातीति न विस्मये ।
देवदेव पुरा धन्या प्रोद्यास्यति भुवि श्रिये ॥

63) एतच्चित्र पुरोधीर स्नपितो मन्दरे शरै ।
जातमात्रः स्थिरोदार क्वापि त्वममरेश्वरै ॥

64) तिरीटघटनिष्ठयूत हारीन्द्रौघविनिर्मितम् ।
पदे स्नात स्म गोक्षीर तदेडित भगोश्चिरम् ॥

65) कुत एतो नु सन्वर्णो मेरोस्तेपि च संगते ।
उत क्रीतोथ संकीर्णो गुरोरपि तु समतेः ॥

66) हृदि येन धृतोसीन स दिव्यो न कुतो जन ।
त्वयारूढो यतो मेरु श्रिया रूढो मतो गुरु ॥

67) चक्रपाणेर्दिशामूढा भवतो गुणमन्दरम् ।
के क्रमेणेदृशा रूढा स्तुवन्तो गुरुमक्षरम् ॥

68) त्रिलोकीमन्वशास्संग हित्वा गामपि दोक्षित ।
त्व लोभमप्यशान्त्यग जित्वा श्रीमद्विदोशित ॥

69) केवलाङ्गसमाश्लेषबलाढ्य महिमाधरम् ।
तव चांगं क्षमाभूषलीलाधाम शमाधरम् ॥

70) त्रयोलोका स्थिताः स्वैर योजनेधिष्ठिते त्वया ।
भूयोन्तिका श्रितास्तेर राजन्तेधिपते श्रिया ॥

71) परान् पातुस्तवाधीशो बुधदेव भियोषिता ।
दूराद्धातुमिवानीशो निधयोवज्ञयोज्झिता ॥

72) समस्तपतिभावस्ते समस्तपति तद्द्विष ।
संगतोहीन भावेन सगतो हि न भास्वत ॥

73) नयसत्त्ववर्त्तव सर्वे गव्यन्ये चाप्यसगता ।
श्रियस्ते त्वयुवन् सर्वे दिव्यर्द्धचा चावसभृता ॥

74) तावदास्व त्वमारूढो भूरिभूतिपरपर ।
केवल स्वयमारूढो हरिर्भाति निरम्बर ॥

75) नागसे त इनाजेय कामोद्यन्महिमार्हिने ।
जगतत्त्रितयनाथाय नमो जन्मप्रमाथिने ॥

76) रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने ।
योगख्यातजनार्चाय श्रमोच्छिन्मदिमासिने ॥

77) रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने ।
योगख्यातजनार्चाय श्रमोच्छिन्मन्दिमाम्निने ॥

78) प्रयत्येमान् स्तवान् वश्मि प्रास्तश्रान्ताकुशार्तये ।
नयप्रमाणवाग्रश्मिध्वस्तध्वान्ताय शान्तये ॥

79) स्वसमान समानद्या भासमान स मानघ ।
ध्वसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम् ॥

80) सिद्धस्त्वमिह संस्थान लोकाग्रमगम सताम् ।
प्रोद्धर्तुमिव सन्तान शोकाब्धौ मग्नमक्ष्यताम् ॥

81) कुन्थवे सुमृजाय ते नम्रयूनरुजायते ।
ना महोध्वनिजायते सिद्धये दिवि जायते ॥

82) यो लोके त्वा नत सोतिहीनोप्यतिगुरुर्यत. ।
बालोपि त्वा श्रित नौति को नो नीतिपुरु. कुतः ॥

83) नतयात विदामीश शमी दावितयातन ।
रजसामन्त सन्देव वन्देसन्तमसाजर ॥

84) पारावाररवारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।
वामानाममनामावारक्ष मर्द्धर्द्धमक्षर ॥

85) वीरावारर वारावी वररोरुरुरोरव ।
वीरावाररवारावो वारिवारिरि वारि वा ॥

86) रक्ष माक्षर वामेश शमी चारुरुचानुत ।
भो विभोनशनाजोरुनम्रेन विजरामय ॥

87) यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो ।
तनु चारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥

88) नय मा स्वर्य वामेश शमेवार्य स्वमाय न ।
दमराजर्त्तवादेन नदेवार्त्तजरामद ॥

89) वीरं मा रक्ष रक्षार परश्रीरदर स्थिर ।
धीरधीरजर· शूर वरसारर्द्धिरक्षर ॥

90) आस यो नतजातीर्य्या सदा मत्वा स्तुते कृती ।
यो महामतगोतेजा नत्वा मल्लिमित स्तुत ॥

91) ग्लान चैनश्च न स्येन हानहीन घन जिन ।
अनन्तानशन ज्ञानस्थानस्थानतनन्दन ॥

92) पावनाजितगोतेजो वर नानाव्रताक्षते ।
नानाश्चर्यं सुवीतागो जिनार्य मुनिसुव्रत ॥

93) नमेमान नमामेनमानमाननमानमा-
मनामोनु नुमोनामनमनोमम नो मन ॥

94) न मे माननमामेन मानमाननमानमा-
मनामो नु नु मोनामनमनोम मनोमन ॥

95) नर्दयाभर्त्तवागोद्य द्य गोवार्त्तभयार्दन ।
तमिता नयजेतानुनुताजेय नतामित ॥

96) हतभी' स्वय मेध्याशु श ते दात श्रियातनु ।
नुतया श्रित दान्तेश शुद्धयामेय स्वभीत ह ॥

97) भानोनानामनूनाना मुनीना मानिनामिनम् ।
मनूनामनुनौमीम नेमिनामानमानमन् ॥

98) तनुतात्सद्यशोमेय शमेवार्य्यवरो गुरु ।
रुगुरो वर्य्य वामेश यमेशोद्यत्सतानुत ॥

99) जयतस्तव पार्श्वस्य श्रीमद्भर्त्तु पदद्वयम् ।
क्षय दुस्तरपापस्य क्षम कर्तुं ददज्जयम् ॥

100) तमोत्तु ममतातीत ममोत्तममतामृत ।
ततामितमते तातमतातीतमृतेमित ॥

101) स्वचित्तपटयालिख्य जिन चारु भजत्ययम् ।
शुचिरूपतया मुख्यमिन पुरुनिजश्रियम् ॥

102) धीमत्सुवन्द्यमान्याय कामोद्वामितवित्तृषे ।
श्रीमते वर्धमानाय नमो नमितविद्विषे ॥

103) वामदेव क्षमाजेय धामोद्यमितविज्जुषे ।
श्रीमते वर्धमानाय नमोन मित विद्विषे ॥

104) समस्तवस्तुमानाय तमोघ्नेमितवित्वपे ।
श्रीमतेवर्धमानाय नमोन मितविद्विषे ।।

105) प्रज्ञाया तन्वृत गत्वा स्वालोक गोर्विदास्यते ।
यज्ज्ञानान्तर्गत भूत्वा त्रैलोक्य गोष्पदायते ।।

106) को विदो भवतोपीडच सुरानतनुतान्तरम् ।
श सते साध्वससार स्वमुद्यच्छन्नपीडितम् ।।

107) कोविदो भवतोपीडच सुरानत नुतान्तरम् ।
शसते साध्वस सार स्वमुद्यच्छन्नपीडितम् ।।

108) अभीत्यावर्द्धमानेनः श्रेयोरुगुरु सजयन् ।
अभीत्या वर्धमानेन श्रेयोरुगुरु सजयन् ।।

109) नानानन्तनुतान्त तान्तितनिनुन्नुन्नान्त नुन्नानृत
नूतोनेन नितान्ततानितनुते नेतोन्नताना ततः ।
नुन्नातीतितनून्नति नितनुतान्नीति निनूतातनु
तान्तानीतिततान्नुतानन नतान्नो नूतनैनोत्तु नो ।।

110) वदारुप्रबलाजवंजवभयप्रध्वसिगोप्राभव
वर्द्धिष्णो विलसद्गुणार्णव जगन्निर्वाणहेतो शिव ।
वदोभूतसमस्तदेव वरद प्राज्ञैकदक्षस्तव
वदे त्वावनतो वर भवभिद वर्यैकवंद्याभव ।।

111) नष्टाज्ञान मलोन शासनगुरो नम्र जन पानिन
नष्टग्लान सुमान पावन रिपूनप्यालुनन् भासन ।
नत्येकेन रुजोन सज्जनपते नन्दननन्तावन
नन्तॄन् हानविहीनधामनयनो न स्तात्पुनन् सज्जिन ।।

112) रम्यापारगुणारजस्सुरवरैरर्च्याक्षर श्रीधर
रत्यूनारतिदूर भासुर सुगीरर्य्योत्तरर्द्धीश्वर ।
रक्तान् क्रूरकठोरदुर्द्धररुजोरक्षन् शरण्याजर
रक्षाधीर सुधीर विद्वर गुरो रक्त च्चिर मा स्थिर ।।

113) प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नतं ते पदे
जन्माद सफल पर भवभिदी यत्राश्रिते ते पदे ।
मागल्यं च स यो रतस्तव मते गी सैवयात्वा स्तुते
ते ज्ञा ये प्रणता जना. क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते ।।

114) सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वर्य्यच्चंन चापि ते
हस्तावजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।
सुस्तुत्या व्यसनं शिरो नतिपर सेवेदृशो येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेज पते ।।

115) जन्मारण्यशिखी स्तव स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौ' पदे ।
भक्तानां परमौ निधि प्रतिकृतिः सर्वार्थसिद्धि' परा ।
वन्दीभूतवतोपि नोन्नतिहृतिर्नन्तुश्च येषां मुदा ।
दातारो जयिनो भवन्तु वरदा देवेश्वरास्ते सदा ।।

116) गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना त येच्युत स्वीशते
यन्नत्यैति सुशर्म पूर्णमधिका शान्ति व्रजित्वाध्वना ।
यद्भक्त्या शमिताकृशाघमरुज तिष्ठेज्जन. स्वालये
ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिना' सुश्रिये ।।



# रत्नकरण्डकम्

1) नम. श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकाना यद्विद्या दर्पणायते ॥

2) देशयामि समीचीन धर्म कर्मनिवर्हणम् ।
ससारदु खत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥

3) सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु' ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति. ॥

4) श्रद्धान परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥

5) आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥

6) क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मया ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त स. प्रकीर्त्यते ॥

7) परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्त सार्व शास्तोपलाल्यते ॥

8) अनात्मार्थं विना रागै शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरज किमपेक्षते ॥

9) आप्तोपज्ञमनुल्लघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥

10) विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रह. ।
ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

11) इदमेवेदृशमेव तत्त्व नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसशया रुचिः ॥

12) कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ॥

13) स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥

14) कापथे पथि दुःखाना कापथस्थेऽप्यसमति ।
असपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥

15) स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।
वाच्यता यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥

16) दर्शनाच्चरणाद्वापि चलता धर्मवत्सले ।
प्रत्यवस्थापन प्राज्ञै स्थितिकरणमुच्यते ॥

17) स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्य वात्सल्यमभिलप्यते ॥

18) अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाश स्यात्प्रभावना ॥

19) तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमति स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥

20) ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्तत पर ।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ ॥

21) नाङ्गहीनमल छेत्तु दर्शन जन्मसततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥

22) आपगासागरस्नानमुच्चय सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढ निगद्यते ॥

23) वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसा ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥

24) सग्रन्थारम्भहिंसाना संसारावर्तवर्तिनाम् ।
पाषण्डिना पुरस्कारो ज्ञेय पाषण्डिमोहनम् ॥

25) ज्ञानं पूजा कुल जाति बलमृद्धि तपो वपु ।
अष्टावाश्रित्य मानित्व स्मयमाहुर्गतस्मया ॥

13) स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥

14) कापथे पथि दुःखाना कापथस्थेऽप्यसमतिः ।
असपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥

15) स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् ।
वाच्यता यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥

16) दर्शनाच्चरणाद्वापि चलता धर्मवत्सले ।
प्रत्यवस्थापन प्राज्ञै स्थितिकरणमुच्यते ॥

17) स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्य वात्सल्यमभिलप्यते ॥

18) अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाश स्यात्प्रभावना ॥

19) तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमति स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥

20) ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्तत पर ।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यता गतौ ॥

21) नाङ्गहीनमल छेत्तु दर्शन जन्मसततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्तिविषवेदनाम् ॥

22) आपगासागरस्नानमुच्चय सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढ निगद्यते ॥

23) वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसा ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥

24) सग्रन्थारम्भहिंसाना ससारावर्तवर्तिनाम् ।
पाषण्डिना पुरस्कारो ज्ञेय पाषण्डिमोहनम् ॥

25) ज्ञानं पूजा कुल जातिं बलमृद्धि तपो वपु ।
अष्टावाश्रित्य मानित्व स्मयमाहुर्गतस्मया ॥

26) स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥

27) यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥

28) सम्यग्दर्शनसपन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥

29) श्वापि देवोऽपि देव' श्वा जायतेधर्मकिल्बिषात् ।
कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥

30) भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।
प्रणाम विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥

31) दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥

32) विद्यावृत्तस्य सभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।
न सन्त्यसतिसम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥

33) गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुने' ॥

34) न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥

35) सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥

36) ओजस्तेजोविद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूता' ॥

37) अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टा. प्रकृष्टशोभाजुष्टा ।
अमराप्सरसा परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ता' स्वर्गे ॥

38) नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्तयितु प्रभवन्ति स्पष्टदृश. क्षत्रमौलिशेखरचरणा. ॥

39) अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥

40) शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम् ।
काष्ठागतसुखविद्याविभव विमल भजन्ति दर्शनशरणा ॥

41) देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्य ॥

42) अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्य विना च विपरीतात् ।
नि सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन ॥

43) प्रथमानुयोगमर्थाख्यान चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधान बोधति बोध. समीचीन ॥

44) लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीना च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोग च ॥

45) गृहमेध्यनगाराणा चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोगसमय सम्यग्ज्ञान विजानाति ॥

46) जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीप श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥

47) मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु ॥

48) रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्ति क पुरुष सेवते नृपतीन् ॥

49) हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवा परिग्रहाभ्या च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरति सज्ञस्य चारित्रम् ॥

50) सकल विकल चरण तत्सकल सर्वसगविरतानाम् ।
अनगाराणा विकल सागाराणा ससगानाम् ॥

51) गृहिणा त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मक चरणम् ।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम् ॥

52) प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्य ।
स्थूलेभ्य पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रत भवति ॥

53) संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वात् ।
न हिनस्ति यत्तदाहु स्थूलवधाद्विरमणं निपुणा. ॥

54) छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपण व्यतीचारा ।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद्व्युपरते पञ्च ॥

55) स्थूलमलीक न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे ।
यत्तद्वदन्ति सन्त स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥

56) परिवादरहोऽभ्याख्या पैशून्य कूटलेखकरण च ।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमा. पञ्च सत्यस्य ॥

57) निहित वा पतित वा सुविस्मृत वा परस्वमविसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥

58) चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः ।
हीनाधिकविनिमान पञ्चास्तेये व्यतीपाता ॥

59) न च परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्ति. स्वदारसंतोषनामापि ॥

60) अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृष ।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचारा· ॥

61) धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु नि स्पृहता ।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥

62) अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि ।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपा. पञ्च लक्ष्यन्ते ॥

63) पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणा फलन्ति सुरलोकम् ।
यत्रावधिरष्टगुणा दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥

64) मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः ।
नीली जयश्च सम्प्राप्ता पूजातिशयमुत्तमम् ॥

65) धनश्रीसत्यघोषौ च तापसारक्षकावपि ।
उपाख्येयास्तथाश्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥

66) मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥

67) दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अनुबृंहणाद्गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥

68) दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि ।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥

69) मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः ।
प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥

70) अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥

71) प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः ।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥

72) पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः ।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥

73) ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम् ।
विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥

74) अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः ।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥

75) पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च ।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥

76) तिर्यक्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम् ।
कथाप्रसंगप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥

77) परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृङ्खलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥

78) वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः ।
आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥

79) आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः ।
चेतःकलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥

80) क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम् ।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्यां प्रभाषन्ते ॥

81) कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च ।
असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः ॥

82) अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥

83) भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पाञ्चेन्द्रियो विषयः ॥

84) त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥

85) अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥

86) यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसंधिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥

87) नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात् ।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥

88) भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु ।
ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ॥

89) अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा ।
इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥

90) विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमा. पञ्च कथ्यन्ते ॥

91) देशावकाशिक वा सामयिक प्रोषधोपवासो वा ।
वैयावृत्य शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥

92) देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य ।
प्रत्यहमणुव्रताना प्रतिसहारो विशालस्य ॥

93) गृहहारिग्रामाणा क्षेत्रनदीदावयोजनाना च ।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्ना तपोवृद्धा ॥

94) सवत्सरमृतुमयन मासचतुर्मासपक्षमृक्ष च ।
देशावकाशिकस्य प्राहु कालावधिं प्राज्ञाः ॥

95) सीमान्ताना परत स्थूलेतरपञ्चपापसत्यागात् ।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥

96) प्रेषणशद्बानयन रुपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ ।
देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्यया पञ्च ॥

97) आसमयमुक्ति मुक्त पञ्चाघानामशेषभावेन ।
सर्वत्र च सामयिका. सामयिक नाम शसन्ति ॥

98) मूर्धरुहमृष्टिवासोबन्ध पर्यङ्कबन्धन चापि ।
स्थानमुपवेशन वा समय जानन्ति समयज्ञा ॥

99) एकान्ते सामयिक निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्य प्रसन्नधिया ॥

100) व्यापारवैमनस्याद्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या ।
सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ॥

101) सामयिक प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम् ।
व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ॥

102) सामयिके सारम्भा परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥

103) शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः ।
सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ॥

104) अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥

105) वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरस्मरणे ।
सामयिकस्यातिगमा व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥

106) पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥

107) पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥

108) धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान् ।
ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥

109) चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः ।
स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥

110) ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे ।
यत्प्रोषधोपवासव्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥

111) दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥

112) व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥

113) नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन ।
अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥

114) गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥

115) उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥

116) क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलति छायाविभव बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥

117) आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्य ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्रा ॥

118) श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेश' शूकरश्च दृष्टान्ता ।
वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्या ॥

119) देवाधिदेवचरणे परिचरण सर्वदु खनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥

120) अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेक प्रमोदमत्त कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥

121) हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि ।
वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते ॥

122) उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च नि प्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या ॥

123) अन्तक्रियाधिकरण तप फल सकलदर्शिन स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभव समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥

124) स्नेहं वैरं सङ्ग परिग्रह चापहाय शुद्धमना ।
स्वजन परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनै ॥

125) आलोच्य सर्वमेन कृतकारितमनुमत च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायिनिश्शेषम् ॥

126) शोक भयमवसाद क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मन प्रसाद्यं श्रुतैरमृतै ॥

127) आहारं परिहाप्य क्रमश स्निग्ध विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्ध च हापयित्वा खरपान पूरयेत्क्रमश ॥

128) खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥

129) जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः ।
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समुद्दिष्टाः ॥

130) निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥

131) जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥

132) विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः ।
निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् ॥

133) काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रान्तिकरणपटुः ॥

134) निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते ।
निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः ॥

135) पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः ।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥

136) श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥

137) सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।
पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥

138) निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि ।
धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥

139) चतुरावर्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः ।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥

140) पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य ।
प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥

141) मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥

142) अन्न पान खाद्य लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरत सत्वेष्वनुकम्पमानमना ॥

143) मलबीजं मलयोनिं गलन्मल पूतिगन्धि बीभत्सम् ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी स ॥

144) सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति ।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्त ॥

145) बाह्येषु दशसु वस्तुपु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।
स्वस्थ सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरत ॥

146) अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरत स मन्तव्य ॥

147) गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधर ॥

148) पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समय यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुव भवति ॥

149) येन स्वय वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम् ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिपु विष्टपेऽ ॥

150) सुखयतु सुखभूमि कामिन कामिनीव,
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका सपुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मी ॥

# देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा

1) देवोके आगमनके कारण, आकाशमे गमनके कारण और चामरादि-विभूतियोके कारण आप हमारे गुरु-पूज्य अथवा आप्तपुरुष नही हैं, क्योकि ये अतिशय मायावियोमे भी देखे जाते है ॥ १ ॥

2) यह जो आपके शरीरादिका अन्तर्बाह्य महान् उदय है, जो साथ ही दिव्य तथा सत्य है, वह रागादिसे युक्त देवोमे भी पाया जाता है ॥ २ ॥

3) तीर्थंकरोके आगमोमे परस्पर विरोध पाया जाता है, इस कारण सभी तीर्थंकरोंके आप्तता घटित नही होती। उनमे कोई तीर्थंकर आप्त अवश्य हो सकता है और वह वही पुरुष हो सकता है जो चित् ही हो ॥ ३ ॥

4) दोषो तथा दोषोंके कारणोकी कही-कही सातिशय हानि देखनेमे आती है और इसलिए किसी पुरुप-विशेषमे विरोधी कारणोको पाकर उनका पूर्णत अभाव होना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार कि मल-विरोधी कारणोको पाकर वाह्य और अन्तरग मलका पूर्णत क्षय हो जाता है ॥ ४ ॥

5) सूक्ष्मपदार्थ, अन्तरित पदार्थ और दूरवर्ती पदार्थ, अनुमेय होनेमे किसी-न-किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं, जैसे अग्नि आदिक पदार्थ जो अनुमान या प्रमाणके विषय हैं वे किसीके प्रत्यक्ष जरूर है। जिसके सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ प्रत्यक्ष है वह सर्वज्ञ है। इस प्रकार सर्वज्ञकी सम्यक् स्थिति, व्यवस्था अथवा सिद्धि भले प्रकार सुघटित है ॥ ५ ॥

6) वह निर्दोष आप ही है, क्योकि आप युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक् है। और यह अविरोध इस तरहसे लक्षित होता है कि आपका जो इष्ट है वह प्रसिद्धसे बाधित नही है ॥ ६ ॥

7) जो लोग आपके मतरूपी अमृतसे वाह्य हैं, सर्वथा एकान्तवादी हैं और आप्ताऽभिमानसे दग्ध है, उनका जो अपना इष्ट है वह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है ॥ ७ ॥

8) जो लोग एकान्तके ग्रहण-स्वीकरणमे आसक्त हैं अथवा एकान्तरूप ग्रहके वशीभूत हुए उसीके रगमे रगे है जो स्व-परके बैरी है उनमेसे प्राय किसीके भी यहाँ अथवा किसीके भी मतमे, हे वीर भगवन्! न तो कोई शुभ कर्म बनता है, न अशुभ कर्म, न परलोक वनता है। यह लोक भी नही बनता, शुभ-अशुभ कर्मोका फल भी नही बनता और न वन्ध तथा मोक्ष ही वनते हैं ॥ ८ ॥

9) यदि पदार्थोंके भावका एकान्त माना जाय तो इससे अभाव पदार्थोका लोप ठहरता है और इन वस्तु-धर्मोका लोप करनेसे वस्तुतत्त्व अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और अस्वरूप हो जाता है, जो कि आपका इष्ट नही है ॥ ९ ॥

10) प्रागभावका यदि लोप किया जाय तो वह कार्यरूप द्रव्य अनादि ठहरता हे। यदि प्रध्वस धर्मका लोप किया जाय तो वह कार्यरूप द्रव्य अनन्तता-अविनाशिताको प्राप्त होता हे ॥ १० ॥

11) यदि अन्यापोहका व्यतिक्रम किया जाय तो वह प्रवादियोका विवक्षित अपना-अपना इष्ट तत्त्व अभेदरूप सर्वात्मक ठहरता है। यदि अत्यन्ताभावका लोप किया जाय तो एक द्रव्यका दूसरेमे समवाय-सम्बन्ध स्वीकृत होता है और ऐसा होनेपर यह चेतन है, यह अचेतन है इत्यादि रूपसे उस एक तत्त्वका सर्वथा भेदरूपसे कोई व्यपदेश नही वन सकता ॥ ११ ॥

12) यदि अभावैकान्तपक्षको स्वीकार किया जाय तो इस प्रकार भावोका सर्वथा अभाव कहनेवालोके यहाँ वोध और वाक्य दोनोका ही अस्तित्व नही वनता और दोनोका अस्तित्व न वननेसे कोई प्रमाण भी नही वनता, तव किसके-द्वारा अपने अभावैकान्त पक्षका साधन किया जा सकता हे और दूसरे भाववादियोके पक्षमे दूपण दिया जा सकता है ॥ १२ ॥

13) यदि भाव और अभाव दोनोका एकात्म्य माना जाय, तो स्याद्वाद न्यायके विद्वेषियोके यहाँ वह एकात्म्य नही वनता, क्योकि उससे विरोध दोप आता हे। यदि अवाच्यता एकान्त-को माना जाय तो वस्तुतत्त्व 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नही वनता ॥ १३ ॥

14) आपके शासनमे वह वस्तुतत्त्व कथचित् सत्-रूप ही है, कथचित् असत्रूप ही है, कथचित् उभयरूप ही है, कथचित् अवक्तव्य रूप ही है कथचित् सत् और अवक्तव्यरूप ही है, कथचित् असत् और अवक्तव्यरूप ही है, कथचित् सदसत् और अवक्तव्यरूप ही है, और वह सब नयोके योगसे हे सर्वथा रूपसे नही ॥ १४ ॥

15) ऐसा कौन है जो सबको स्वरूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे सत्रूप ही और पररूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे असत्रूप ही अगीकार न करे। यदि कोई ऐसा नही मानता है तो वह अवस्थित अथवा व्यवस्थित नही होता है ॥ १५ ॥

16) 'वस्तुतत्त्व कथचित् क्रम-विवक्षित स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा द्वैतरूप है और कथचित् युगपत् विवक्षित स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा कथनमे वचनकी अशक्ति-असमर्थताके कारण अवक्तव्यरूप है। सत् असत् और उभयके उत्तरमे अवक्तव्यको लिये हुए जो शेष तीन भग हैं वे अपने-अपने हेतुसे कथचित् रूपमे सुघटित हैं ॥ १६ ॥

17) एक धर्मीमें अस्तित्वधर्म नास्तित्वधर्मके साथ अविनाभावी है, क्योकि वह विशेषण है जैसे कि साधर्म्य भेद-विवक्षाके साथ अविनाभाव-सम्बन्धको लिये रहता है ॥ १७ ॥

18) एक धर्मीमे नास्तित्वधर्म अपने प्रतिषेध्य धर्मके साथ अविनाभावी है, क्योंकि वह विशेषण है जैसे कि वैधर्म्य अभेदविवक्षाके साथ अविनाभाव सम्बन्धको लिये रहता है ॥१८॥

19) जो विशेष्य होता है वह विधेय तथा प्रतिषेध्य-स्वरूप होता है, क्योकि वह शब्दका विषय होता है। जैसे कि साध्यका जो धर्म एक विवक्षासे हेतुरूप होता है वह दूसरी विवक्षासे अहेतुरूप भी होता है ॥ १९ ॥

20) शेष भग जो अवक्तव्य, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्ति-नास्त्यवक्तव्य हैं वे भी यथोक्त नयके योगसे नेतव्य है। हे मुनीन्द्र! आपके शासनमे कोई भी विरोध घटित नही होता है ॥ २० ॥

21) इस प्रकार विधि-निषेध-द्वारा जो वस्तु अवस्थित नही है, वह अर्थक्रियाकी करनेवाली होती है। यदि ऐसा नही माना जाय तो बाह्य और अन्तरग कारणोसे कार्यका निष्पन्न होना जो माना गया है वह नही वनता ॥ २१ ॥

22) अनन्तधर्मा धर्मीके धर्म-धर्ममे अन्य ही अर्थ सनिहित है। उन धर्मोमेसे किसी एक धर्मके अगी होनेपर शेष धर्मोकी उसके अथवा उस समय अगता हो जाती है ॥२२॥

23) जो नय निपुण है वह इस भङ्गवती प्रक्रियाको आगे भी एक-अनेक जैसे विकल्पादिकमे नयोके साथ योजित करे ॥२३॥

24) यदि अद्वैत-एकान्तका पक्ष लिया जाय तो कारको और क्रियाओका जो भेद प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाना जाता है अथवा स्पष्ट दिखाई देनेवाला लोक प्रसिद्ध है वह विरोध को प्राप्त होता है, क्योकि जो कोई एक है, वह अपनेसे ही उत्पन्न नही होता ॥२४॥

25) कर्म-द्वैत फल-द्वैत और लोक-द्वैत नही बनता। विद्या-अविद्याका द्वैत तथा बन्ध-मोक्षका द्वैत भी नही वनता ॥२५॥

26) यदि यह कहा जाय कि अद्वैतकी सिद्धि हेतुसे की जाती है तो हेतु और साध्य दोकी मान्यता होनेसे द्वैतापत्ति खडी होती है। और यदि विना किसी हेतुके ही सिद्धि कही जाती है तो क्या वचनमात्रसे द्वैतापत्ति नही होती ॥२६॥

27) द्वैतके बिना अद्वैत उसी प्रकार नही होता, जिस प्रकार कि हेतुके बिना अहेतु नही होता, क्योकि कही भी सज्ञीका प्रतिषेध प्रतिपेध्यके विना–जिसका निषेध किया जाय उसके अस्तित्व बिना नही वनता ॥२७॥

28) यदि पृथक्पनका एकान्त पक्ष लिया जाय तो इसमे भी दोष आता है और यह प्रश्न होता है कि पृथक्त्व गुणसे द्रव्य और गुण पृथक् है या अपृथक्? यदि अपृथक् है तव तो पृथक्त्वका एकात ही न रहा और यदि पृथक् है तो पृथक्त्व नामका कोई गुण ही नही बनता, क्योकि वह एक होते हुए भी अनेकोमे स्थित माना गया है और इससे उसकी पृथग्गति नही है ॥२८॥

29) यदि एकत्वका सर्वथा लोप किया जाय तो जो सन्तान, समुदाय साधर्म्य तथा प्रेत्यभाव निरकुश है, वह सब नही वनता ॥ २९ ॥

30) ज्ञानको यदि सत्स्वरूपसे भी ज्ञेयसे पृथक् माना जाय तो ज्ञान और ज्ञेय दोनोका ही अभाव ठहरता है। ज्ञानके अभावमे वाह्य तथा अन्तरग किसी भी ज्ञेयका अस्तित्व आपसे द्वेष रखनेवालोंके यहाँ कैसे बन सकता है ॥ ३० ॥

31) दूसरोके यहाँ वचन सामान्यार्थक है, क्योकि उनके-द्वारा विशेपका कथन नही वनता है। सामान्यका अवस्तुरूप अभाव होनेसे उनके सम्पूर्ण वचन मिथ्या ही ठहरते है ॥ ३१ ॥

32) यदि अद्वैत और पृथक्त्व दोनोका एकात्म्य माना जाय तो स्याद्वाद-न्यायके विद्वेपियोंके यहाँ वह एकात्म्य नही वनता, क्योकि उससे विरोध दोप आता है। यदि अवाच्यता एकान्तको माना जाय तो वस्तु-तत्त्व 'अवाच्य' है, ऐसा कहना भी नही वनता ॥ ३२ ॥

33) एक दूसरेकी अपेक्षा न रखनेवाले पृथक्त्व और एकत्व चूंकि हेतुद्वयसे अवस्तु हैं। अत एकत्व और पृथक्त्व सापेक्षरूपमे विरोधको प्राप्त न होनेसे उसी प्रकार वस्तुत्वको प्राप्त हैं जिस प्रकार कि साधन ॥ ३३ ॥

34) सत्ता सामान्यकी अपेक्षासे सब पदार्थ एक है और द्रव्यादिके भेदसे अनेक है। जैसे असाधारण हेतु भेद की विवक्षा से अनेक और अभेदकी विवक्षा से एक होता है ॥ ३४ ॥

35) विवक्षा और अविवक्षा करनेवालोके-द्वारा अनन्तधर्मा विशेष्यमे विवक्षा तथा अविवक्षा सत् विशेपणकी ही की जाती है, असत्‌की नही ॥ ३५ ॥

36) भेद और अभेद दोनो सत्‌रूप हे सवृति रूप नही, क्योकि दोनो प्रमाणके विषय है। आपके मतमे वे दोनो एक वस्तुमे गौण और मुख्यकी विवक्षाको लिये हुए एक साथ अविरोधरूपसे रहते है ॥ ३६ ॥

37) नित्यत्व एकान्त पक्षमे भी विक्रिया उत्पन्न नही हो सकती। जब पहले ही कारकोका अभाव है तब प्रमाण और प्रमाणका फल कहाँ बन सकते हैं ॥ ३७ ॥

38) इन्द्रियोंके द्वारा उनके विपयकी अभिव्यक्तिके समान जिन प्रमाणो तथा कारकोंके-द्वारा अव्यक्तको व्यक्त हुआ वतलाया जाता है, वे प्रमाण और कारक दोनो ही जब सर्वथा नित्य माने गये है तब उनके द्वारा कौन सी विक्रिया बनती है ? हे साधो, आपके शासनसे बाह्य जो नित्यका सर्वथा एकान्तवाद है उसमे विक्रियाके लिए कोई स्थान नही है ॥ ३८ ॥

39) कार्यको यदि सर्वथा सत् माना जाये तो चैतन्य पुरुषकी तरह उसकी उत्पत्ति नही हो सकती। वस्तुमे परिणामकी कल्पना नित्यत्वके एकान्तकी बाधक है ॥ ३९ ॥

40) हे भगवन्, जिनके आप नायक नही है उन सर्वथा नित्यत्वैकान्तवादियोके यहाँ पुण्य-पापकी क्रिया नही बनती, परलोक-गमन भी नही वनता, फल प्राप्तिकी तो बात ही कहाँसे हो सकती है ? और न बन्ध तथा मोक्ष ही बन सकते हैं ॥ ४० ॥

41) क्षणिक एकान्त पक्षमे भी प्रेत्यभावादिक असभव हैं। प्रत्यभिज्ञानादि ज्ञानोका अभाव होनेसे कार्यका आरम्भ नही वनता और जब कार्यका आरम्भ ही नही तब उसका फल कहाँसे हो सकता है ॥४१॥

42) यदि कार्य सर्वथा असत् है तो आकाश पुष्पके समान उसकी उत्पत्ति नही हो सकती। यदि असत्का भी उत्पाद माना जाय तो फिर उपादानकारणका कोई नियम नही रहता और न कार्यकी उत्पत्तिमे विश्वास रहता है ॥ ४२ ॥

43) क्षणिकैकान्तमे पूर्वोत्तरक्षणोके हेतुभाव और फलभाव कभी नही बनते, क्योकि सर्वथा अन्वयके न होनेके कारण उन पूर्वोत्तर क्षणोमे सन्तानान्तरकी तरह सर्वथा अन्यभाव होता है। जो एक सन्तान होता है, वह सन्तानीसे पृथक् नही होता ॥ ४३ ॥

44) यदि यह कहा जाय कि अन्योमे अनन्य शब्दका व्यवहार सवृत्ति है तो सर्वथा सवृति रूप होनेसे वह मिथ्या क्यो नही है ? यदि सतानको मुख्य अर्थके रूपमे माना जाय तो जो मुख्यार्थ होता है वह सर्वथा सवृत्तिरूप नही होता और यदि सवृत्ति रूपमे उसे माना जाय तो सवृति बिना मुख्यार्थके बनती नही ॥ ४४ ॥

45) यदि यह कहा जाय कि चूंकि सब धर्मोमे चतुष्कोटिविकल्पके कथनका अयोग है। अत उन सतान-सन्तानीका भी तत्त्व धर्म तथा अन्यत्व धर्म अवाच्य ठहरता है ॥ ४५ ॥

46) तव तो 'चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है' यह भी नही कहना चाहिए। जो सर्व विकल्पातीत है वह असर्वान्त है और जो असर्वान्त है वह अवस्तु है, क्योकि उसके विशेष्य-विशेषण-भाव नही बनता ॥ ४६ ॥

47) जो सज्ञी सत् होता है, उसीका परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा निपेध किया जाता है, न कि असत्का। सर्वथा असत् पदार्थ तो विधि-निपेधका विषय ही नही होता ॥ ४७ ॥

48) जो सर्वधर्मोसे रहित है, वह अवस्तु है और जो अवस्तु है वह अनभिलाप्य है न कि वस्तु, वस्तु ही प्रक्रियाके विपरीत हो जाने अथवा वदल जानेसे अवस्तुताको प्राप्त होती है ॥ ४८ ॥

49) यदि यह कहा जाय कि 'सर्व धर्म अवक्तव्य है' तो फिर उनका धर्म-देशना-रूप तथा स्वपक्षके साधन और पर-पक्षके दूषणरूप वचन कैसा। यदि कहा जाय कि उक्त वचन संवृति रूप है तो इस सवृतिरूप वचनसे सत्यका प्रतिपादन कैसे हो सकता है ॥ ४९ ॥

50) तत्त्व अवाच्य क्यो है ? अशक्तिके कारण अवक्तव्य है या अभावके कारण अथवा अज्ञानके कारण। इन तीनोमे आदि और अन्तके दो कारणोका कथन तो बनता नही। अवक्तव्यका वहाना वनानेसे क्या, स्पष्ट कहिए कि वस्तुतत्त्वका सर्वथा अभाव है ॥ ५० ॥

51) क्षणिक एकान्त माननेपर जो चित्त हिंसाके अभिप्रायसे रहित है वह तो हिंसा करता है, जो हिंसा करनेके अभिप्रायसे युक्त है वह हिंसा नही करता, जिसने हिंसाका कोई अभिप्राय अथवा सकल्प नही किया और न हिंसा ही की वह चित्त बन्धनको प्राप्त होता है और जो चित्त वन्धनको प्राप्त होता है उसकी मुक्ति नही होती ॥ ५१ ॥

52) जब नाशका कोई कारण नही होता तव हिसक हिंसाका हेतु नही ठहरता। इसी तरह चित्त-सन्ततिके नाशरूप जो मोक्ष माना गया है, वह भी अष्टाङ्गहेतुक नही वनता ॥ ५२ ॥

53) यदि बौद्धोके-द्वारा विसदृशकार्यके आरम्भकेलिए हेतुका समागम किया जाता है तो वह हेतु-समागम नाश तथा उत्पाद दोनोका कारण होनेसे उनका आश्रयभूत है और इसलिए अपने आश्रयी नाश और उत्पादरूप दोनो कार्योंके साथ अनन्यरूप है ॥ ५३ ॥

54) स्कन्धसन्ततियाँ बौद्धोके यहाँ सवृतिरूप होनेसे असस्कृत है। उनके स्थिति, उत्पत्ति और विनाशका विधान गधेके सीगकी तरह नही बन सकता ॥ ५४ ॥

55) यदि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो एकान्तपक्षोको एकरूपमे माना जाय तो यह बात स्याद्वादन्यायके विद्वेषियोके यहाँ बनती नही, क्योकि इस मान्यतामे विरोध दोष आता है। यदि अवाच्यताका एकान्त माना जाय तो वह भी नही बनता, क्योकि सर्वथा अवाच्यका सिद्धान्त माननेपर 'तत्त्व सर्वथा अनभिलाप्य है' ऐसा अभिलाप करनेवाले बौद्धोके स्ववचन विरोध उपस्थित होता है ॥ ५५ ॥

56) आपके मतमे वस्तुतत्त्व कथचित् नित्य है, क्योकि उसका प्रत्यभिज्ञान होता है। और यह प्रत्यभिज्ञान अकस्मात् नही होता, क्योकि अविच्छेदरूपसे बिना किसी बाधाके अनुभवमे आता है। वस्तुतत्त्व कथचित् क्षणिक है, क्योकि उसमे कालके भेदसे परिणाम-भेद पाया जाता है। वस्तुको सर्वथा क्षणिक तथा सर्वथा नित्य माननेपर ज्ञानका सचार नही बन सकेगा, यह दोष आएगा ॥ ५६ ॥

57) आपके मतमे सामान्य स्वरूपसे न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न विनाशको प्राप्त होती है, क्योकि प्रकट अन्वयरूप है। विशेषरूपसे वस्तु विनशती तथा उपजती है। एक वस्तुमे युगपत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना सत् कहलाता है ॥ ५७ ॥

58) हेतुका क्षय कार्यका उत्पाद है क्योंकि दोनोके एक हेतुका नियम है। उत्पाद और विनाश दोनो लक्षण भेदके कारण एक दूसरेसे कथचित् भिन्न है। जाति आदिके अवस्थानके कारण नाश और उत्पाद दोनो भिन्न ही नही कथचित् अभिन्न भी है। यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर अपेक्षा न रखे, तो तीनो ही आकाशके पुष्पके समान अवस्तु ठहरे ॥५८॥

59) नाश, उत्पाद और स्थितिकी जो अवस्थाएँ होती हैं, उनसे यह घटका अर्थी जन शोकको, मुकुटका अर्थी हर्षको और सुवर्णका अर्थी शोक तथा हर्षसे रहित मध्यस्थ-भावको प्राप्त होता है और यह सब सहेतुक होता है ॥ ५९ ॥

60) जिसके दुग्ध लेनेका व्रत है, वह दही नही खाता, जिसके दही लेनेका व्रत है वह दुग्ध नही पीता। और जिसका गोरस न लेनेका व्रत है वह दूध-दही दोनो ही नही खाता। इससे मालूम होता है कि वस्तुतत्त्व त्रयात्मक है ॥ ६० ॥

61) यदि एकान्तसे कार्य-कारणका भेद माना जाता है गुण-गुणोकी भिन्नता स्वीकारकी जाती है और सामान्य तथा सामान्यवान् जो द्रव्य-गुण-कर्मरूप-त्रिक है उसका एक-दूसरेसे अन्यत्व इष्ट किया जाता है तो ठीक नही है ॥ ६१ ॥

62) एककी अनेकोमे वृत्ति नही बनती, क्योकि उस एकके विभागके अभावसे निरंशपना माना गया है। यदि एकको भागित्वरूप आश्रित करके वृत्ति मानी जाये तो इससे एकका एकत्व स्थिर नही रहता। अत एककी अनेकमे सर्वात्मक अथवा सर्वदेश वृत्ति माननेसे, अर्हन्मतसे भिन्न जो सर्वथा एकान्तमत है उसमे दोष आता है ॥ ६२ ॥

63) देश और कालकी अपेक्षासे भी उनमे भेद मानना पड़ेगा और तब युत-सिद्धके समान उनमे भी वृत्ति माननी होगी। मूर्तिक कारण और कार्यमे जो समानदेशता देखी जाती है, वह नही बन सकेगी ॥ ६३ ॥

64) यदि ऐसा कहा जाय कि समवायियोमे आश्रय-आश्रयीभाव होनेके कारण स्वतन्त्रता नहीं है, जिससे देश व कालकी अपेक्षा भेद होनेपर भी वृत्ति बनती, तो यह कहना ठीक नही है। जो स्वय असबद्ध है, वह एकका दूसरेके साथ सबन्ध कैसे करा सकता है ॥ ६४ ॥

65) जिस प्रकार सामान्य आश्रयके बिना नही रहता, उसी प्रकार समवाय भी आश्रयके विना नही रहता। जब सामान्य और समवाय दोनोकी प्रत्येक द्रव्यादि नित्य व्यक्तियोमे समाप्ति—पूर्णता होती है तब नाश हुए तथा उत्पन्न हुए अनित्य कार्योमे उनके सद्भावकी विधि-व्यवस्था कैसे बन सकती है ॥ ६५ ॥

66) जब सामान्य और समवाय दोनोंके सर्वथा अनभिसंवन्ध है तब उन दोनोंके साथ द्रव्य, गुण और कर्मरूप जो अर्थ है उसका भी सबन्ध नही रहता। सामान्य, समवाय तथा अर्थ ये तीनो ही आकाश-पुष्पके समान अवस्तु ठहरते है ॥ ६६ ॥

67) यदि परमाणुओकी अनन्यताका एकान्त माना जाये तो स्कन्धरूपमे उनके मिलनेपर भी न मिलनेकी भ्रान्तिमे परस्पर असबद्धता रहेगी और ऐसा होनेपर भूतचतुष्क भ्रान्तरूप ही ठहरेगा ॥ ६७ ॥

68) भूतचतुष्करूप कार्यके भ्रान्तिरूप होनेसे तत्कारण परमाणु भी भ्रान्तिरूप ठहरेंगे, तब वस्तुत उनकी अस्तित्व-सिद्धि ही नही बन सकेगी। क्योकि कारण कार्य-लिङ्गक होता है। कार्य कारण दोनोंके भ्रान्तिरूप अभावसे उनमे रहनेवाले गुण-जाति-क्रियादिक भी नही बन सकेंगे ॥ ६८ ॥

69) यदि कार्य कारणादिका सर्वथा एकत्व माना जाये तो एककी मान्यतापर दूसरेका अभाव ठहरेगा। यदि द्वित्व-सख्याको सवृतिरूप कल्पित अथवा औपचारिक ही माना जाये तो यह सवृति जब मृषा है तब द्वित्व-सख्या भी मृषा ही ठहरती है ॥ ६९ ॥

70) यदि कार्य-कारणादिकी अन्यता और अनन्यताके दोनो एकान्त एक साथ माने जायें तो वे स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोके युगपत् नही बन सकते, क्योकि उनमे परस्पर विरोध होनेसे उनका एकात्म्य अथवा तादात्म्य असभव है। यदि अवाच्यताका एकान्त माना जाये तो यह कहना भी नही बन सकता, क्योकि इस कहने से ही वह वाच्य हो जाता है। और जब यह कहना भी नही बन सकता तब अवाच्यतैकान्त-सिद्धान्तका परको प्रतिपादन कैसे बन सकता है, नही बन सकता ॥ ७० ॥

71-72) द्रव्य और पर्याय दोनो एक हैं; क्योकि इनके अव्यतिरेकपना है। द्रव्य और पर्याय नानारूप भी हैं, क्योकि दोनोमे परिणामका भेद है, शक्तिमान्-शक्तिभावका भेद है, सज्ञा (नाम) का भेद है, सख्याका भेद है, स्वलक्षणका भेद है और प्रयोजनका तथा आदि शब्दसे काल एव प्रतिभासका भेद है ॥ ७१-७२ ॥

73) यदि पदार्थोकी सिद्धिको आपेक्षिकी माना जाये तो आपेक्ष्य और आपेक्षिक दोनोमेसे किसीकी भी अवस्थिति नही बनती। और सिद्धिको अनापेक्षिकी माननेपर सामान्य-विशेषभाव नही बनता ॥ ७३ ॥

74) यदि आपेक्षिक-सिद्धि और अनापेक्षिक-सिद्धि दोनोका एकान्त माना जाये तो वह स्याद्वाद-न्यायसे द्वेष रखनेवालोके यहाँ नही बनता, क्योकि दोनो एकान्तोमे परस्पर विरोध है। अवाच्यताका एकान्त माना जाये तो यह अवाच्य कहना भी नही बनता, क्योकि इस कथन-से ही वह कथचित् वाच्य हो जाती है, और उससे सर्वथा अवाच्यताका सिद्धान्त बाधित ठहरता है ॥ ७४ ॥

75) धर्म और धर्मीका अविनाभाव-सबन्ध ही एक दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होता है न कि स्वरूप, क्योकि वह कारक और ज्ञापकके अगोकी तरह स्वत सिद्ध है ॥ ७५ ॥

76) यदि सब कुछ हेतुसे ही सिद्ध माना जाये तो प्रत्यक्षादिसे पदार्थोका ज्ञान नही होगा। यदि आगमसे ही सर्वतत्त्व-समूहकी सिद्धि मानी जाये तो परस्पर विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले मतोकी भी सिद्धि हो जायगी ॥ ७६ ॥

77) हेतु और आगम दोनो एकान्तोका यदि एकात्म्य माना जाये तो वह भी नही बन सकेगा, क्योकि दोनोमे परस्पर विरोध है—सर्वथा विरुद्ध दो सिद्धान्तोका एकत्र अवस्थान उनके सर्वथा असभव है जो स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखते हैं। यदि अवाच्यताका एकान्त माना जाये तो तत्त्वसिद्धि निश्चयसे 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नही बन सकेगा ॥ ७७ ॥

78) वक्ताके आप्त न होनेपर जो हेतुसे साध्य होता है, वह हेतु-साधित कहा जाता है और वक्ताके आप्त होनेपर जो तत्त्व उस आप्तके वाक्यसे साध्य होता है, उसे आगम-साधित समझना चाहिए ॥ ७८ ॥

79) यदि अन्तरगार्थताका एकान्त माना जाये तो बुद्धिरूप अनुमान और वाक्यरूप आगम सब मिथ्या ठहरते हैं। जब मिथ्या ठहरते है तब वे प्रमाणाभास ही हुए। और प्रमाणाभासका व्यवहार बिना प्रमाणका अस्तित्व अगीकार किये कैसे बन सकता है ॥ ७९ ॥

80) यदि साध्य और साधनकी विज्ञप्तिके विज्ञप्तिमात्रता मानी जाये तो साध्य, हेतु और दृष्टान्त ये तीनो नही बनते, क्योकि ऐसा कहनेमे प्रतिज्ञादोष और हेतुदोप उपस्थित होता है ॥ ८० ॥

81) यदि बहिरगार्थताका एकान्त माना जाये तो इससे प्रमाणाभासका लोप होता है, और प्रमाणाभासके लोपसे सभी विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवालोके कार्य-सिद्धि हो जायेगी ॥८१॥

82) अन्तरग और बहिरग ज्ञेयरूप दोनो एकान्तोका एकात्म्य स्याद्वादन्यायके विद्वेषियोंके विरुद्ध है और इसलिए उनके उभय-एकान्तका सिद्धान्त नही बनता। अवाच्यताका एकान्त माननेपर 'अवाच्य है' यह उक्ति भी नही बनती ॥ ८२ ॥

83) आपके मतमे भावप्रमेयकी अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाणाभास नही है। बाह्यप्रमेयकी अपेक्षा ज्ञान प्रमाण तथा प्रमाणाभास दोनो होता है ॥ ८३ ॥

84) जीव-शब्द बाह्यार्थ-सहित है, क्योकि यह शब्द सज्ञा है, जो शब्द सज्ञा या नामरूप होता है वह बाह्य अर्थके विना नही होता, जैसे हेतु-शब्द। मायादि जो भ्रान्तिकी सज्ञाएँ है वे भी प्रमाणोक्तिके समान अपने अर्थको साथमे लिये हुए है ॥ ८४ ॥

85) बुद्धि शब्द और अर्थ तीनोकी सज्ञाएँ और बुद्धि आदि संज्ञा-जनित बुद्धि-आदि विपयक तीनो बोध भी सर्वत्र स्वव्यतिरिक्त बुद्धयादि विपयके प्रतिबिम्बक होते है ॥ ८५ ॥

86) वक्ताका बोध, श्रोताका वाक्य और प्रमाताका प्रमाण ये तीनो एक दूसरेसे पृथक् जाने जाते है। प्रमाणके भ्रान्त होनेपर बाह्यार्थो, तादृश-अतादृशो, प्रमेयो, अन्तर्ज्ञेय-बहिर्ज्ञेयो, इष्टा-निष्टोका विवेचन भी भ्रान्त ठहरेगा ॥ ८६ ॥

87) बुद्धिरूप-ज्ञानकी और शब्दकी प्रमाणता बाह्य-अर्थके होनेपर अवलम्बित है। इसी प्रकार बाह्य-अर्थके होने न होनेपर बुद्धि और शब्द दोनोकी सत्य और असत्यकी व्यवस्था युक्त होती है॥ ८७ ॥

88) यदि दैवसे ही अर्थकी सिद्धि मानी जाये तो फिर दैवरूप कार्यकी सिद्धि पौरुषसे कैसे कही जा सकती है। यदि पौरुषसे दैवकी सिद्धि न मानकर दैवान्तरसे दैवकी सिद्धि मानी जाये तो फिर मोक्षका अभाव ठहरता है और मोक्षके अभावसे मोक्षके लिए पुरुषार्थ करना निष्फल होगा ॥ ८८ ॥

89) यदि पौरुषसे ही सिद्धिका एकान्त माना जाये तो दैवसे पौरुषरूप कार्यकी सिद्धि कैसे होगी। बुद्धि-व्यवसायात्मक पौरुपकी सिद्धि पौरुपसे ही माननेपर सब प्राणियोमे पौरुष अमोघ ठहरेगा ॥ ८९ ॥

90) स्याद्वादन्यायके विद्वेषियोके दैव और पौरुषका उभयैकान्त भी नही बनता, क्योकि इनमे परस्पर विरोध है। अवाच्यताका एकान्त माननेपर इन्हे अवाच्य कहना भी नही बनता ॥ ९० ॥

91) जो इष्ट या अनिष्ट कार्य अपने बुद्धि-व्यापारकी अपेक्षा रखे विना ही घटित अथवा उपस्थित होता है उसे स्वदैवकृत समझना चाहिए। जो इष्ट या अनिष्ट कार्य अपने बुद्धि-व्यापारकी अपेक्षा रखकर घटित अथवा उपस्थित होता है उसे स्वपौरुषकृत समझना चाहिए ॥ ९१ ॥

92) यदि परमे दु खोत्पादनसे निश्चित पापबन्धका होना और सुखोत्पादनसे पुण्यबन्धका होना माना जाये तो अचेतन पदार्थ और अकषाय-परिणत जीव भी दु ख-सुखका निमित्त होनेसे बन्धको प्राप्त होगे ॥ ९२ ॥

93) यदि अपनेमे दु खोत्पादनसे पुण्यका और सुखोत्पादनसे पापका वन्ध ध्रुव है, ऐसा एकान्त माना जाये तो फिर वीतराग और विद्वान् मुनिजन भी पुण्य-पापसे वँधने चाहिए, क्योकि ये भी अपने सुख दु खकी उत्पत्ति के निमित्तकारण होते हैं ॥ ९३ ॥

94) यदि दोनो सिद्धान्तोके एकात्म्यरूप उभय एकान्तको माना जाये तो वह स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखनेवालोंके विरोध-दोषके कारण नही वनता। अवाच्यताका एकान्त माननेमे भी अवाच्य है, यह कहना युक्त नही ठहरता है ॥ ९४ ॥

95) यदि स्व-परस्थ सुख-दुःख विशुद्धि तथा संक्लेशका अग है तो वह सुख-दु ख यथाक्रम पुण्य-पापके आस्रव-वन्धका हेतु है और यदि विशुद्धि तथा सक्लेश दोनोमेसे किसीका भी अग नही होता है तो आपके मतमे वह व्यर्थ कहा गया है ॥ ९५ ॥

96) यदि अज्ञानसे वन्धका होना अवश्यभावी माना जाये तो ज्ञेयोकी अनन्तताके कारण कोई भी केवली न हो सकेगा। यदि अल्पज्ञानसे मोक्षका होना माना जाये तो अज्ञानके बहुत होनेके कारण वन्धका प्रसग वरावर उपस्थित रहेगा और उसका विरोध न हो सकनेसे मोक्षका होना नही वन सकेगा ॥ ९६ ॥

97) अल्पज्ञानसे मोक्ष और वहुत अज्ञानसे वन्ध इन दो एकान्तोमे स्याद्वादन्यायके विद्वेषियोके अविरोध सिद्ध नही होता। अत परस्पर विरोधके कारण उभय एकान्त नही वनता। अवाच्यताका एकान्त माननेमे भी 'अवाच्य' है, यह कहना ही नही वनता ॥ ९७ ॥

98) मोहीके अज्ञानसे वन्ध होता है। वीतमोहके अज्ञानसे वन्ध नही होता। मोहरहित अल्पज्ञानसे मोक्ष होता है। मोहसहित अल्पज्ञानसे मोक्ष नही होता ॥ ९८ ॥

99) इच्छा आदि नाना प्रकारके कार्योकी उत्पत्ति कर्मबन्धके अनुसार होती है और वह कर्मबन्धन अपने कारणोके अनुरूप होता है। जिन्हे कर्मबन्ध होता है वे जीव शुद्धि और अशुद्धिके भेदसे दो प्रकारके होते है ॥ ९९ ॥

100) शुद्धि-अशुद्धि दोनो पचने-अपचनेकी योग्यताके समान दो शक्तियाँ हैं, जिनकी व्यक्ति-प्रादुर्भूति क्रमश सादि और अनादि है और यह वस्तु-स्वभाव है जो तर्कका विषय नही होता ॥ १०० ॥

101) आपके मतमे युगपत् सर्वभासनरूप तत्त्वज्ञान प्रमाण है। और जो क्रमश भासनरूप ज्ञान है वह स्याद्वाद तथा नयोसे सस्कृत होनेपर प्रमाण होता है ॥ १०१ ॥

102) युगपत्सर्वभासनरूप जो आद्य प्रमाण केवलज्ञान है उसका फल उपेक्षा है। शेष क्रमश' भासनरूप जो प्रमाण मत्यादि-ज्ञान-समूह है उसका फल ग्रहण और त्यागकी बुद्धि है तथा पूर्वमे कही हुई उपेक्षा भी उसका फल है। और अपने विषयमे अज्ञानका नाश होना सारे ही प्रमाण-रूप ज्ञानसमूहका फल है ॥ १०२ ॥

103) आपके तथा श्रुतकेवलियोके भी वाक्योमे प्रयुक्त होनेवाला 'स्यात्' शब्द अर्थके साथ सम्बद्ध होनेसे अनेकान्तका द्योतक और गम्य-बोध्यका बोधक-सूचक माना गया है ॥ १०३ ॥

104) स्यात् शब्द सर्वथा एकान्तका त्यागी होनेसे 'किं' शब्द निष्पन्न चित्-प्रकारके रूपमे कथचित् कथचन आदिका वाचक है। यह स्याद्वाद सप्तभगो और नयोकी अपेक्षाको लिये रहता है तथा हेय-उपादेयका विशेषक होता है ॥ १०४ ॥

105) स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनो सब तत्त्वोके प्रकाशक है। दोनोके प्रकाशनमे साक्षात् और असाक्षात्का भेद है। इन दोनो ज्ञानोमेसे जो किसी भी ज्ञानके द्वारा प्रकाशित अथवा उसका वाच्य नही वह अवस्तु होती है ॥ १०५ ॥

106) स्याद्वादरूप परमागमसे विभक्त हुए अर्थ-विशेषका जो सधर्मा-दृष्टान्तके-द्वारा, साध्यके साधर्म्यसे और अविरोध रूपसे व्यञ्जक है उसको नय कहते है ॥ १०६ ॥

107) त्रिकालवर्ति नयो-उपनयोके एकान्त-विषयोका जो अपृथक्स्वभाव सबन्धको लिये हुए समुच्चय-समूह है वह एक द्रव्य-वस्तु है और अनेक भेदरूप है ॥ १०७ ॥

108) नित्यत्व आदि मिथ्या धर्मोका समूह भी मिथ्या है, ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि स्याद्वादियोके यहाँ मिथ्यैकान्तता नही है। निरपेक्ष नय मिथ्या होते है। नय सापेक्ष होनेसे अर्थक्रियाकारी वस्तु हैं ॥ १०८ ॥

109) अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व विधिवाक्य अथवा निषेधवाक्यके-द्वारा नियमित किया जाता है। विधि या निषेधरूप जिस वाक्यके-द्वारा वह नियमित किया जाये, उसरूप तथा उससे अन्यथा विपक्षरूप वह अवश्य होता है। यदि ऐसा न माना जाये तो उस केवल विधि या केवल निषेध-वाक्यसे जो विशेष्य है वह नही बन सकेगा ॥ १०९ ॥

110) वस्तु तत्-अतत्रूप है। जो वाक्य उसे सर्वथा तत्रूप ही प्रतिपादन करता है, वह सत्य नही होता तब मिथ्या वाक्योसे तत्त्वार्थकी देशना कैसे बन सकती है ॥ ११० ॥

111) वाक्यका यह स्वभाव है कि वह अपने अर्थ-सामान्यका प्रतिपादन करता हुआ अन्य वाक्योके अर्थ-प्रतिषेधमे निरकुश होता है। इस वाक्य स्वभावसे भिन्न जो उस प्रकारका अन्यापोहात्मक वाक्य है वह आकाशके पुष्प-समान अवस्तु है ॥ १११ ॥

112) यदि यह कहा जाये कि सामान्य वाक्य परके अभावरूप विशेषमे वर्तता है तो यह ठीक नही, क्योकि सामान्य वाक्य विशेषमे शब्दार्थरूप नही है और इसलिए सत्यरूप न होकर मिथ्यावाक्य है। अभिप्रायमे स्थित जो विशेष उसकी प्रापिका सच्चा लक्षण 'स्याद्वाद' (स्यात् शब्दपूर्वक वाद) है। और इसलिए 'स्यात्कार' अभिप्रेत-विशेष के जानने का सच्चा साधन एव मार्ग है ॥ ११२ ॥

113) जो विधेय और ईप्सित-अर्थक्रियाका कारण है वह प्रतिपेध्यके साथ अविरोधरूप है। और जिस प्रकार विधेय प्रतिपेध्यका अविरोधी ईप्सित अर्थक्रियाका अग-कारण सिद्ध है, उसी प्रकार वस्तुका आदेय हेयपना है, अन्यथा नही। इस प्रकार स्याद्वादकी यह सम्यक् स्थिति है ।। ११३ ।।

114) इस प्रकार यह आप्तमीमासा हित चाहनेवालोंके सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेशके अर्थविशेपकी प्रतिपत्तिके लिए की गयी है ॥ ११४ ॥



# युक्त्यनुशासनम्

1) हे वीरजिन ! आप दोषो और दोषाशयोके पाश-बन्धनसे विमुक्त हुए हैं। आप निश्चितरूपसे ऋद्धमान हैं और आप महती कीर्तिसे भूमण्डलपर है। अब आपको स्तुतिगोचर मानकर हम आपको अपनी स्तुतिका विषय बनाना चाहते है ॥ १ ॥

2) यथार्थताका उलघन करके गुणोके उदय उत्कर्षकी जो आख्या कथनी है उसे लोकमे 'स्तुति' कहते हैं। परन्तु हे वीरजिन ! आप भूरिगुणोदधि है और उस गुणसमुद्रके सूक्ष्मसे सूक्ष्म अशका भी हम कथन करनेके लिए समर्थ नही है। तव हम छद्मस्थजन किस तरहसे आपकी स्तुति करके स्तोता वने, यह कुछ समझमे नही आता ॥ २ ॥

3) तो भी मैं भक्तिके वश धृष्टता धारण करके शक्तिके अनुरूप वाक्योको लिये हुए आपका स्तोता बना हूँ। किसी वस्तुके इष्ट होनेपर क्या पुरुषार्थीजन अपनी शक्तिके अनुसार क्रियाओ-प्रयत्नो-द्वारा उसकी प्राप्तिके लिए उत्साहित एव प्रवृत्त नही होते ॥ ३ ॥

4) हे वीरजिन ! आप शुद्धि और शक्तिके उत्कर्षकी उस पराकाष्ठाको प्राप्त हुए है, जो उपमा-रहित है और शान्ति-सुख-स्वरूप है। आप ब्रह्मपथके नेता है और महान् हैं, इतना कहने अथवा दूसरोको सिद्ध करके बतलानेके लिए हम समर्थ है ॥ ४॥

5) आपके शासनमे एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका स्वामी होनेकी जो शक्ति है, उसके अपवादका कारण एक तो कलिकाल है, दूसरा प्रवक्ताके वचन, उपदेशकी अकुशलता है और तीसरा श्रोताका कलुषित आशय है ॥ ५ ॥

6) हे वीरजिन ! आपका मत दया, दम, त्याग और समाधिकी निष्ठा-तत्परताको लिये हुए है। नयो तथा प्रमाणोके द्वारा सम्यक् वस्तुतत्त्वको बिलकुल स्पष्ट करनेवाला है और दूसरे सभो प्रवादोसे अबाध्य है—अद्वितीय है ॥ ६ ॥

7) आपका अर्थतत्त्व अभेद-भेदात्मक है। अभेदात्ममतत्त्व और भेदात्मकतत्त्व दोनोको स्वतन्त्र स्वीकार करनेपर प्रत्येक आकाशके पुष्प-समान हो जाता है। समवायवृत्तिके अवृत्तिमती होनेसे ससर्गकी हानि होती है और ससर्गकी हानि होनेसे सपूर्ण पदार्थोकी हानि ठहरती है ॥ ७ ॥

8) सत्तात्मक पदार्थोको नित्य माननेपर उनमे विकारकी हानि होती है, विकारकी हानिसे कर्त्तादि कारकोका व्यापार नही बन सकता, कारक-व्यापारके अभावमे कार्य नही बन सकता, और कार्यके अभावमे युक्ति घटित नही हो सकती। युक्तिके अभावमे बन्ध तथा भोग दोनो नही वन सकते और न उनका विमोक्ष ही बन सकता है। आपके मतसे भिन्न दूसरोका मत सब प्रकारसे दोषरूप है ॥ ८ ॥

9) यदि यह कहा जाये कि नित्य पदार्थोंमे विकारी होनेका स्वभाव विना किसी हेतुके ही प्रसिद्ध है तो ऐसी दशामे क्रिया और कारकका विभ्रम ठहरता है, विभ्रमकी मान्यतापर वादान्तरका प्रसग आता है। परन्तु क्या आपसे द्वेष रखनेवालेके यहाँ वादान्तर वनता है? यदि यह कहा जाये कि आबालसिद्धिरूप हेतुसे विविधार्थकी सिद्धिके रूपमे स्वभाव प्रथित है तो यह वादान्तर हुआ, परन्तु यह वादान्तर भी आपके द्वेपियोके यहाँ वनता कहाँ है ॥ ९ ॥

10) नित्य आत्मा देहसे अभिन्न है या भिन्न इस कल्पनाके होनेसे जिन्होने आत्मतत्त्वको 'अवक्तव्य' माना है उनके मतमे आत्मतत्त्व अनवधार्य तत्त्व हो जाता है। और आत्मतत्त्वके अनवधार्य होनेपर तथा प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणका विपय न रहनेपर वन्ध और मोक्षकी कौनसी स्थिति वन सकती है ॥ १० ॥

11) प्रथम क्षणमे नष्ट हुआ चित्त दूसरे क्षणमे विद्यमान नही रहता यह जो क्षणिकात्मवाद है, वह प्रवाद है, क्योकि इसका ज्ञापक कोई भी दृष्ट या अदृष्ट हेतु नही वनता। सन्तानभिन्नमे वासनाका अस्तित्व नही वन सकता ॥ ११ ॥

12) उसी प्रकार सन्तानभिन्न चित्तोमे कारण-कार्य-भाव भी नही वन सकता। जो चित्त क्षणविनश्वर निरन्वय माने गये है, उन्हे किसके साथ समानरूप कहा जाये? जो असत् है, वह आकाशके पुष्प समान हेत्वपेक्ष नही देखा जाता और न सिद्ध होता है, क्योकि कोई भी असत्-पदार्थ हेत्वपेक्षके रूपमे वादी-प्रतिवादी दोनोमेसे किसीके भी द्वारा सिद्ध नही है ॥१२॥

13) क्षणिकात्मवादमे हेतु वनता ही नही, क्योकि हेतुको यदि सत्रूप माना जाये तो इससे विभवका प्रसग आता है और यदि असत् कहा जाये तो अकस्मात्-कार्योत्पत्तिका प्रसग आयेगा। सन्तानके भिन्न क्षणोमे नाश और उदयकी एक-क्षणताका अभाव होनेसे नाशोदयैकक्षणतारूप युक्ति सदोष है ॥ १३ ॥

14) यदि पदार्थको प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक माना जाये तो इससे कृतकर्मके भोगका प्रणाश ठहरेगा और अकृतकर्मके फलको भोगनेका प्रसग आयेगा। साथ ही, कर्म भी असचेतित-अविचारित ठहरेगा। पदार्थके प्रलय स्वभावरूप क्षणिक होनेपर कोई मुक्तिमार्ग भी युक्त नही रहेगा। और वाधक भी कोई नही रहता ॥ १४ ॥

15) क्षणिक एकचित्तमे सस्थित वन्ध और मोक्ष नही बनते। मृषास्वभावा सवृति भी क्षणिक एक चित्तमें बन्ध मोक्षकी व्यवस्था करनेमे समर्थ नही है। गौणविधि मुख्यके विना देखी नही जाती। आपकी दृष्टिसे भिन्न जो दूसरी दृष्टि है वह विभ्रान्त दृष्टि है ॥ १५ ॥

16) क्षण-क्षणमे पदार्थोंको निरन्वय विनाश स्वरूप माननेपर पूर्व और उत्तर क्षणोमें उनके सर्वथा भिन्न होनेके कारण न तो कोई मातृघाती वनता है, न कोई किसीका स्वपति बनता हैं, और न कोई किसीकी स्वपत्नी ठहरती हैं। दिये हुए धनादिकका पुन वापस लेना भी नही बन सकता। अधिगत किये हुए अर्थकी स्मृति भी तव नही बनती और 'क्त्वा' प्रत्ययका सत्य अर्थ भी नही बन सकता। न कोई कुल वनता है और न कोई जाति ही वन सकती है ॥१६॥

17) शास्ता और शिष्यादिके स्वभाव-स्वरूपकी कोई व्यवस्था नही वनती । यह सव विकल्प-वुद्धि है और विकल्पवुद्धि सारी मिथ्या होती है, ऐसा कहनेवाले जो अतत्त्व-तत्त्वादिके विकल्प-मोहमे डूबे हुए हैं, उनके यहाँ निर्विकल्प-बुद्धि कौन-सी वनती है ॥ १७ ॥

18) यदि साध्य-साधनकी वुद्धि अनर्थिका है तो विज्ञानमात्र तत्त्वको सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया जाता है, उसकी सिद्धि नही वनती और जव हेतु ही सिद्ध नही तव उससे विज्ञप्ति-मात्ररूप साध्यकी सिद्धि भी नही बन सकती । यदि साध्य-साधनकी वुद्धि अर्थवती है, तो इसीसे प्रस्तुत हेतुके व्यभिचार दोष आता है । यदि विज्ञानमात्रतत्त्वको योगिगम्य कहा जाये तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि यह बात परवादियोको सिद्ध अथवा उनके द्वारा मान्य नही है ॥ १८ ॥

19) जो तत्त्व सकल विकल्पोसे शून्य है, वह स्वसवेद्य नही हो सकता, क्योकि जो विज्ञानाद्वैत तत्त्व सम्पूर्ण अभिलापोकी आस्पदतासे रहित है, वह निगद्य—दूसरोको कहनेके योग्य भी नही हो सकता । आपकी उक्तिसे जो वाह्य है वह सर्वथा एकान्तरूप विज्ञानाद्वैततत्त्व सुपुप्तिकी अवस्थाको प्राप्त है ॥ १९ ॥

20) गूँगेका स्वसवेदन जिस प्रकार आत्मवेद्य है, उसी प्रकार सवेदनाद्वैततत्त्व भी आत्मवेद्य है। उसका कथन गूँगेकी अस्पष्ट भाषाके समान प्रलाप-मात्र होनेसे निरर्थक है । साथ ही वह अनङ्गसज्ञ है, अङ्गके द्वारा सकेत रहित है । और जव वह अनभिलाप्य तथा अनङ्गसज्ञ है तव दूसरोंके द्वारा अवेद्य है । ऐसा आपसे द्वेप रखनेवाले जिनका कहना है, उनका सर्वथा अवाच्य तत्त्व इससे वाच्य हो जाता है ॥ २० ॥

21) शास्ताने अनवद्य वचनोकी शिक्षा दी, परन्तु उन वचनोके द्वारा उनके वे शिष्य शिक्षित नही हुए । यह कथन अहो दूसरा दुर्गतम अन्धकार है । हे आर्य वीरजिन ! आपके विना निश्रेयस वनता कौन-सा है, जिससे सवेदनाद्वैतको नि.श्रेयसरूप कहा जाये ॥ २१ ॥

22) जिस सवेदनाद्वैतरूप तत्त्वमे प्रत्यक्षवुद्धि प्रवृत्त नही होती, उसे यदि लिङ्गगम्य माना जाये तो उससे अर्थरूप लिङ्ग सभव नही हो सकता । वचनरूप परार्थानुमानका उस सवेदना-द्वैतरूप विषयके साथ योग नही वैठता, उस सवेदनाद्वैत तत्त्वकी क्या गति है । अत. आपको न सुननेवालोका सवेदनाद्वैत दर्शन कष्टरूप है ॥ २२ ॥

23) सवृतिवादियोंके रागादि अविद्यारूप अनलका दीपनरूप वाक्य और विमोक्षविद्या अमृतका शासनरूप वाक्यमे कोई भेद नही है । आपके शासनके विरुद्ध होनेके कारण वे दोनो ही पर-मार्थसे शून्य हैं ॥ २३ ॥

24) आपकी उक्तिमे अनभिज्ञका यह कैसा मोह है जो यह प्रतिपादन करता है कि 'गुरुके द्वारा उपदिष्ट अविद्या भाव्यमान हुई निश्चयसे विद्याको जन्म देनेमे समर्थ होती है । इसमे जो अविद्या अविद्यान्तरके जन्मका कारण सुप्रसिद्ध है, वही उसके अजन्मका भी कारण हो जाती है ॥ २४ ॥

25) परमार्थवृत्तिसे तत्त्व अभावमात्र है और वह परमार्थवृत्ति सवृतिरूप है। और सवृत्ति सर्वविशेषोसे शून्य है तथा उस अविद्यात्मिका एव सकलतात्त्विक-विशेष-शून्या सवृतिके भी जो बध और मोक्ष विशेष है वे हेत्वात्मक हैं। इस प्रकार यह उनका वाक्य है जिनके आप नाथ नही हैं ॥ २५ ॥

26) हे प्रबुद्ध-तत्त्व वीरजिन ! अनेकान्तवादी आपसे भिन्न दूसरोका जो सर्वथा सामान्यभावसे रहित, सर्वथा विशेषभावसे रहित तथा (परस्पर सापेक्षरूप) सामान्यविशेषभाव दोनोसे रहित जो तत्त्व है, वह सपूर्ण अभिलापो तथा अर्थविकल्पोसे शून्य होनेके कारण आकाश-कुसुमके समान अवस्तु ही है ॥ २६ ॥

27) यदि कोई कहे कि 'अतत-शून्य स्वभाव होनेपर भी वन्ध और मोक्ष दोनोकी उपायसे गति होती है, दोनो वचनीय है और गम्य हैं, सम्वन्धी हैं' तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि इस प्रकार सत्स्वभावरूप तत्त्व दिखाई नही पडता, विरोध देखा जाता है ॥ २७ ॥

28) आपकी युक्तिकी अभिलाप्यताके जो द्वेषी है, उन द्वेषियोकी इस मान्यतापर कि 'सम्पूर्ण तत्त्व अनभिलाप्य हैं' उपेयतत्त्वकी अवाच्यताके समान उपायतत्त्व भी सर्वथा अनभिलाप्य-अवाच्य हो जाता है ॥ २८ ॥

29) तत्त्व अवाच्य ही है, ऐसा कहना अयथाप्रतिज्ञ हो जाता है, क्योकि 'अवाच्य' इस पदमे ही वाच्यका भाव है। यदि यह कहा जाये कि तत्त्व स्वरूपसे अवाच्य ही है तो 'सर्ववचन स्वरूपवाची हैं' यह कथन प्रतिज्ञाके विरुद्ध पडता है। और यदि यह कहा जाये कि पररूपसे तत्त्व अवाच्य ही है तो 'सर्ववचन पररूपवाची हैं' यह कथन प्रतिज्ञाके विरुद्ध ठहरता है ॥२९॥

30) कोई वचन सत्यानृत ही है, जो प्रतिद्वन्दीसे मिश्र है। दूसरा कोई वचन अनृतानृत ही है, जो अनुबन्धिसे मिश्र है। इस प्रकार हे वीरजिन ! स्याद्वादी आपके विना वस्तुके अतिशायनसे प्रवर्तमान जो वचन है, वह क्या युक्त है ? स्याद्वादसे शून्य उस प्रकारका अनेकान्त वास्तविक नही है ॥ ३० ॥

31) विषयका अल्प भूरि भेद होनेपर अनृत भेदवान् होता है। आत्मभेदसे अनृत भेदवान् नही होता। अनृतका जो आत्मान्तर है, वह भेद-स्वभावको लिये हुए है और सम स्वभावको लिये हुए है। साथ ही 'च' शब्दसे उभय स्वभावको लिये हुए है। अनृतात्मा अनभिलाप्यताको प्राप्त है और द्वितीय 'च' शब्दके प्रयोगसे भेदि अनभिलाप्य, अभेदि-अनभिलाप्य और उभय-भेदाभेदि अनभिलाप्यरूप भी वह है ॥ ३१ ॥

32) तत्त्व न तो सन्मात्र है और न असन्मात्र है, क्योकि परस्पर निरक्षेप सतत्त्व और अस-तत्त्व दिखाई नही पडता। इसी तरह सर्वधर्मोके निषेधका विषयभूत कोई एक आत्मान्तर तत्त्व भी नही देखा जाता। हाँ, सत्वासत्वसे विभिन्न परस्परापेक्षरूप तत्त्व जरूर देखा जाता है और उपाधिके भेदसे हैं। ऋषिराज आपसे भिन्न जो दूसरे सर्वथा सत् आदि रूप एकान्तोके वादी हैं, उनके यह वचन अथवा इस रूप तत्त्व स्वप्नमें भी सभव नही है ॥ ३२ ॥

33) जो प्रत्यक्षके द्वारा निर्देशको प्राप्त हो 'ऐसा तत्त्व भी असिद्ध है, क्योकि जो प्रत्यक्ष अकल्पक है वह दूसरोको तत्त्वके बतलाने-दिखलानेमे किसी तरह भी समर्थ नही होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी असिद्ध है, क्योकि उसका ज्ञापन अशक्य है। प्रत्यक्षकी सिद्धिके बिना उसका लक्षणार्थ भी नही बन सकता। अत' हे वीर भगवन्! आपके अनेकान्तात्मक स्याद्वादशासनका जो द्वेषी है उसमे सत्य घटित नही होता ॥ ३३ ॥

34) पदार्थके कालान्तरस्थायी होनेपर, चाहे वह अभिन्न हो, भिन्न हो या अनिर्वचनीय हो, कर्ता और कार्य दोनो भी उसी प्रकार नही बन सकते जिस प्रकार कि पदार्थके सर्वथा क्षणिक अथवा ध्रुव होनेपर नही बनते, क्योकि तब विकारकी निवृत्ति होती है। हे वीरजिन! आपके द्वेषियोका यह श्रम व्यर्थ है ॥ ३४ ॥

35) जिस प्रकार मद्याङ्गोंके समागमपर मदशक्तिकी उत्पत्ति अथवा आविर्भूति होती है, उसी तरह भूतोंके समागमपर चैतन्य उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होता है। और यह सब शक्तिविशेषकी व्यक्ति है, कोई दैवसृष्टि नही है। इस प्रकार यह जिनका सिद्धान्त है उन अपने शिश्न (लिङ्ग) तथा उदरकी पुष्टिमे ही सन्तुष्ट रहनेवाले निर्लज्जो तथा निर्भयोके द्वारा हा! कोमलबुद्धि ठगे गये हैं ॥ ३५ ॥

36) जब जननादि हेतु अविशिष्ट देखा जाता है, तब इनके प्राणि-प्राणि के प्रति क्या विशेषता बन सकती है? यदि उस विशिष्टताकी सिद्धि स्वभाव से ही मानी जाये तो फिर चारो भूतो से भिन्न पाँचवे आत्मतत्त्वकी सिद्धि स्वभावसे क्यो नही मानी जाये? इस तत्त्वान्तर-सिद्धिको न माननेवाले जो अतावक हैं, उनका भी हाय! यह कैसा प्रपतन हुआ है ॥ ३६ ॥

37) स्वभावसे ही जगतकी स्वच्छन्द-वृत्ति है, इसलिए जगतके बड़े अनाचार मार्गोंमे भी कोई दोष नही, ऐसी घोषणा करके जो लोग दीक्षाके समकाल ही मुक्तिको मानकर अभिमानी हो रहे हैं अथवा दीक्षाका निरास जैसे बने वैसे मुक्तिको जो अमान्य कर रहे है और मासभक्षण, मदिरापान तथा मैथुनसेवन, जैसे अनाचारके मार्गोंके विषयमे स्वभावसे ही जगत की स्वच्छन्द प्रवृत्तिको हेतु बताकर यह घोषणा कर रहे हैं कि उसमे कोई दोष नही है वे सब आपकी दृष्टिसे बाह्य है और केवल विभ्रम मे पडे हुए हैं। यह बडे ही खेद का विषय है ॥ ३७ ॥

38) जो लोग शम और तुष्टिसे रिक्त हैं, प्रवृत्ति-रक्त है, उनके द्वारा प्रवृत्तिको स्वय अपनाकर, 'हिसा अभ्युदय के हेतुकी आधारभूत है' ऐसी जो मान्यता प्रचलित की गई है, वह उनका बहुत बडा अन्धकार है। इसी तरह 'प्रवृत्ति से शान्ति होती है' ऐसी जो मान्यता है, वह भी दूसरोका घोर अन्धकार है। आपका मत ही सुप्रभातरूप है ॥ ३८ ॥

39) जीवात्माके लिए दु खके निमित्तभूत जो शीर्षोपहारादिक है, उनके द्वारा देवोकी आराधना करके ठीक वे ही लोग सिद्ध होते हैं, जो दोषोके अपचयकी अपेक्षा नही रखते और सुखाभिगृद्ध हैं और यह उन्हीके युक्त है जिनके हे वीरजिन! आप ऋषि-गुरु नही है ॥ ३९ ॥

40) जो विविध विशेष है, वे सब सामान्यनिष्ठ हैं। पद जो कि विशेषान्तरका पक्षपाती होता है वह विशेषको प्राप्त कराता है। साथ ही विशेषान्तरोके अन्तर्गत उसकी वृत्ति होने से दूसरे विशेषको सामान्यरूपमे भी प्राप्त कराता है ॥ ४० ॥

41) जो पद एवकारसे उपहित है, वह अस्वार्थसे स्वार्थको अलग करता है, सब स्वार्थपर्यायो, सब स्वार्थसामान्यो और सब स्वार्थविशेषो सभीको अलग करता है और इससे पदार्थकी हानि उसी प्रकार ठहरती है, जिस प्रकार कि विरोधी की हानि होती है ॥ ४१ ॥

42) जो पद एवकारसे रहित है, वह अनुक्ततुल्य है, क्योकि उससे नियम-द्वयके इष्ट होनेपर भी व्यावृत्तिका अभाव होता है तथा पदोमे परस्पर पर्यायभाव ठहरता है। पर्यायभावके होनेपर परस्पर प्रतियोगी पदोमे से भी चाहे जिस पदका कोई प्रयोग कर सकता है और चाहे जिस पद का प्रयोग होनेपर सपूर्ण अभिधेयभूत वस्तुजात अन्यसे च्युत हो जाता है और जो प्रतियोगी से रहित होता है वह आत्महीन होता है ॥ ४२ ॥

43) यदि यह कहा जाये कि पद अभेदी है तो यह कथन विरोधी है अथवा इससे उस पदका अभिधेय आत्महीन ही नही, किन्तु विरोधी भी हो जाता है, क्योकि किसी भी विशेषका 'उस विरोधी धर्मका द्योतक स्यात्' नामका निपात ( शब्द ) है जो गौणरूपसे उस धर्मका द्योतन करता है। साथ ही वह 'स्यात्' पद विपक्षभूत धर्मकी सन्धि-सयोजनास्वरूप होता है, क्योकि दोनो मे अगपना है और स्यात्पद उन दोनो अङ्गोको जोडने वाला है। सर्वथा अवक्तव्यता श्रायस-मोक्ष अथवा आत्महितके लोपका कारण है ॥ ४३ ॥

44) जो अप्रयोग है उसका कारण उस प्रकार का प्रतिज्ञाशय है। अथवा प्रतिषेधकी युक्ति सामर्थ्य से ही घटित हो जाती है। इस प्रकार हे जिननाग! आपकी दृष्टि दूसरो के द्वारा अप्रधृष्य-अबाधितविषया है और साथ ही परधर्षिनी भी है ॥ ४४ ॥

45) विधि, निषेध और अनभिलाप्यता ये एक-एक करके तीन मूल विकल्प है। इनके विपक्षभूत धर्मकी सधि-सयोजनारूप से द्विसयोगज विकल्प तीन होते हैं और त्रिसयोगज विकल्प एक ही होता है। इस तरहसे ये सात विकल्प हे वीरजिन! सम्पूर्ण अर्थभेदमे आपके यहाँ घटित होते है। और ये सब विकल्प 'स्यात्' शब्दके द्वारा नेय हैं ॥ ४५ ॥

46) 'स्यात्' भी गुण और मुख्य स्वभावोके द्वारा कल्पित किये हुए एकान्तो को लिये हुए होता है क्योकि वह यथोपाधि विशेषका द्योतक होता है। तत्त्व तो अनेकान्त है और वह अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है। और वह तत्त्व दो प्रकारसे व्यवस्थित है—एक भावार्थवान् होनेसे और दूसरा व्यवहारवान् होनेसे ॥ ४६ ॥

47) सर्वथा द्रव्यकी कोई व्यवस्था नही बनती, न सर्वथा पर्यायकी कोई व्यवस्था बनती है और न सर्वथा पृथग्भूत-द्रव्य-पर्याय ( दोनो ) की ही कोई व्यवस्था बनती है। यदि सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व माना जाये तो यह सर्वथा द्वैयात्म्य एकको अर्पणाके साथ विरुद्ध पडता है। आपके मतमे ये धर्मी और धर्म दोनो असर्वथारूप से तीन प्रकार माने गये हैं और विरुद्ध नही हैं ॥ ४७ ॥

48) प्रत्यक्ष और आगम से अविरोधरूप अर्थका जो अर्थसे प्ररूपण है, उसे युक्त्यनुशासन कहते हैं और वही आपको अभिमत है। अर्थका रूप प्रतिक्षण स्थिति, उदय और व्ययरूप तत्त्वव्यवस्थाको लिये हुए है, क्योकि वह सत् है ॥ ४८ ॥

49) आपके शासनमे जो वस्तु एक है वह नानात्मकताका त्याग न करती हुई ही वस्तुतत्त्वको प्राप्त होती है जो वस्तु नानात्मक प्रसिद्ध है वह एकात्मताको न छोडती हुई ही आपके मतमे वस्तुत्वरूपसे अभिमत है। वस्तु जो अनतरूप है वह अङ्गअङ्गीभावके कारण क्रमसे वचन-गोचर है ॥ ४९ ॥

50) जो अश परस्पर निरपेक्ष है, वे पुरुषार्थके हेतु नही हो सकते, अशी-अशोसे पृथक् नही है। अश अशी की तरह परस्परसापेक्ष नय भी असिक्रियामे पुरुषार्थके हेतु हैं, क्योकि उस रूप-मे देखे जाते है ॥ ५० ॥

51) वे रागद्वेषादिक एकान्तधर्माभिनिवेशमूलक होते है और जीवोकी अहङ्कृतिसे वे उत्पन्न होते हैं। और एकान्तकी हानिसे वह एकान्ताभिनिवेश उसी अनेकान्तके निश्चयरूप सम्य-ग्दर्शनत्वको धारण करता है जो आत्माका वास्तविकरूप है। और चूंकि यह एकान्ताभि-निवेशका अभावरूप सम्यग्दर्शन आत्माका स्वाभाविकरूप है। अत आपके यहाँ मनका समत्व ठीक घटित होता है ॥ ५१ ॥

52) जो प्रतिपक्षदूषी है, वह तो हे वीर जिन ! आपके एकानेकरूपता जैसे पटुसिहनादोसे प्रमुक्त ही किया जाता है, क्योकि प्रत्येक वस्तु नानात्मक है, उसका नानात्मकरूपसे निश्चय ही सर्वथा एकान्तका प्रमोचन हैं। अत बन्ध और मोक्ष दोनो अपने ( अनेकान्त ) मतसे बाह्य नही है, क्योकि बन्ध और मोक्ष दोनो ज्ञवृत्ति है ॥ ५२ ॥

53) आत्मान्तरके अभावरूप जो समानता अपने आश्रयरूप भेदोसे हीन है वह वागास्पद--वचनगोचर नही होती। सामान्य और विशेष दोनोकी एकरूपता स्वीकार करनेपर एकके निरात्म होनेपर दूसरा भी निरात्म हो जाता है ॥ ५३ ॥

54) जो अमेय है और अश्लिष्ट है वह सामान्य अमेय-अप्रमेय ही है। भेदके माननेपर भी सामान्य प्रमेय नही होता, क्योकि उन द्रव्यादिकोमे उसकी वृत्तिकी अप्रवृत्तिका सद्भाव है। यदि सामान्यकी द्रव्यादिवस्तुके साथ वृत्ति मानी भी जाये तो वह वृत्ति भी न तो सामान्यको कृत्स्न विकल्परूप मानकर बनती है और न अशविकल्परूप है। जो अनन्त व्यक्तियोके समा-श्रयरूप है उस एकके ग्राहक प्रमाणका अभाव है ॥ ५४ ॥

55) नाना सतो-सत्पदार्थोंका एक आत्मा ही जिसका समाश्रय है, ऐसा सामान्य यदि माना जाये और उसे ही प्रमाणका विषय बतलाया जाये तो ऐसी मान्यतावाले सामान्यवादियोंसे यह प्रश्न होता है कि उनका वह सामान्य अपने व्यक्तियोंसे अन्य ( भिन्न ) है या अनन्य ( अभिन्न ) ? यदि वह एक स्वभावके आश्रयरूप सामान्य अपने व्यक्तियोसे सर्वथा अन्य है तो व्यक्तियो तथा सामान्य दोनोके ही अनातमा होनेपर वह अन्यत्वगुण किसमे रहेगा जिसे

अद्विष्ठ माना गया है। यदि सामान्यको अवस्तु ही इष्ट किया जाये और उसे विकल्पोसे शून्य माना जाये तो उस अवस्तुरूप सामान्यके अमेय होनेपर प्रमाणकी प्रवृत्ति कहाँ होती है ॥५५॥

56) यदि साध्यको व्यावृत्तिहीन अन्वयसे सिद्ध माना जाये तो वह सिद्ध नही होता। यदि इसके विपरीत अन्वयहीन व्यावृत्तिसे साध्य जो सामान्य उसको सिद्ध माना जाये तो वह भी नही बनता। यदि यह कहा जाये कि अन्वय और व्यावृत्ति दोनोसे हीन जो अद्वितयरूप हेतु है, उससे सन्मात्रका प्रतिभासन होनेसे सत्ताद्वैत सामान्यकी सिद्धि होती है, तो यह कहना ठीक नही है। यदि अद्वितयको सविंत्तिमात्रके रूपमे मानकर असाधनव्यावृत्तिसे साधनको और असाध्यव्यावृत्तिसे साध्यको अतद्व्युदासाभिनिवेशवादके रूपमे आश्रित किया जाये तव भी पराभ्युपेतार्थके विरोधवादका प्रसग आता है ॥ ५६ ॥

57) अनात्मा साधनके द्वारा उसी प्रकारके अनात्मसाध्यकी जो गति-प्रतिपत्ति है, उसकी सर्वथा अयुक्ति अयोजना है। यदि वस्तुमे अनात्मसाधनके द्वारा अनात्मसाध्यकी गतिकी अयुक्तिसे पक्षकी सिद्धि मानी जाये तो अवस्तुमे साधन-साध्यकी अयुक्तिसे प्रतिपक्षकी भी सिद्धि ठहरती है। और यदि साधनके विना स्वत ही सवेदनाद्वैतरूप साध्यकी सिद्धि मानी जाये तो वह युक्त नही है ॥ ५७ ॥

58) हे वीर भगवन् ! जिन वैतण्डिकोने कुसृतिका प्रणयन किया है, उन आपके शासनकी दृष्टिसे विमूढ एव निर्भेदके भयसे अनभिज्ञ जनोने परघातक परशु-कुल्हाडेको अपने ही मस्तकपर मारा है ॥५८॥

59) हे वीर अर्हन् ! आपके मतमे अभाव भी वस्तुधर्म होता है। और यदि वह अभाव धर्मीका अभाव है तो वह भावकी तरह भावान्तर होता है। और इस सबका कारण यह है कि अभावको प्रमाणसे जाना जाता है, व्यपदिष्ट किया जाता है और वस्तु व्यवस्थाके अङ्गरूपमे निर्दिष्ट किया जाता है। जो अभावतत्त्व वस्तु-व्यवस्थाका अग नही है वह अमेय ही है ॥५९॥

60) वाक्य विशेष और सामान्यको लिये हुए जो भेद है, वह विधि और प्रतिषेध दोनोका विधायक होता है। आपके यहाँ अभेदवुद्धिसे अविशिष्टता होती है, व्यावृत्ति वुद्धिसे विशिष्टताकी प्राप्ति होती है ॥ ६० ॥

61) आपका तीर्थ, शासन सर्वान्तिवान् है और गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको साथ मे लिये हुए है। जो शासन-वाक्य धर्मो मे पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नही करता, वह सर्वधर्मोसे शून्य है। अत आपका ही यह शासनतीर्थ सर्वदु खोका अन्त करनेवाला है, यही निरन्त है और यही सब प्राणियोंके अभ्युदयका कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय का साधक ऐसा सर्वोदय-तीर्थ है ॥ ६१ ॥

62) आपके इष्ट-शासनसे जी भरकर द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी, यदि समदृष्टि हुआ, उपपत्तिचक्षुसे आपके इष्टका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानश्रृङ्ग खडित हो जाता है और वह अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एव सम्यग्दृष्टि बन जाता है ॥ ६२ ॥

63) हमारा यह स्तोत्र आप-जैसे भवपाशछेदक मुनिके प्रति रागभावसे नही है, न हो सकता है। दूसरोके प्रति द्वेषभावसे भी इस स्तोत्रका कोई सबन्ध नही है। हम तो दुर्गुणोकी कथाके अभ्यासको खलता समझते है। तब फिर इसका हेतु अथवा उद्देश यही है कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते है और प्रकृत पदार्थके गुण-दोषोको जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिए यह स्तोत्र 'हितान्वेषणके उपायस्वरूप' आपकी गुण कथाके साथ कहा गया है ॥ ६३ ॥

64) हे वीर जिनेन्द्र! आप चूंकि दुरितपरकी सेनाको पूर्णरूपसे पराजित करनेमे वीर है, नि श्रेयस पदको अधिगत करनेसे महावीर है और देवेन्द्रो तथा मुनीन्द्रो जैसे स्वय स्तुत्योके द्वारा एकाग्रमनसे स्तुत्य है, इसीसे मेरे द्वारा शक्तिके अनुरूप स्तुति किये गये है। अत अपने ही प्रतिनिधिरहित मार्गमे मेरी भक्तिको सविशेष रूपसे चरितार्थ करो ॥ ६४ ॥



# स्वयम्भूस्तोत्रम्

1) जो स्वयम्भू थे, प्राणियोंके हितकी भावना एव परिणतिसे युक्त साक्षात् भूतहितकी मूर्ति थे, सम्यग्ज्ञानकी विभूतिरूप नेत्रके धारक थे और अपने गुणसमूहरूप-हाथोसे अन्धकारको दूर करते हुए, पृथ्वीतलपर ऐसे शोभायमान होते थे जैसे कि अपनी अर्थ-प्रकाशकलादिगुणविशिष्ट किरणोसे रात्रिके अधकारको दूर करता हुआ पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता था ॥ १ ॥

2) जो प्रजापति थे, जिन्होने प्रथम तो जीनेकी इच्छा रखनेवाले प्रजाजनोको कृषि आदि कर्मोंमे शिक्षित किया और फिर हेयोपादेय तत्त्वका विशेष ज्ञान प्राप्त करके आश्चर्यकारी उदयको प्राप्त होते हुए जो विदावर-श्रेष्ठज्ञानी ममत्त्व--रागसे निर्वेदको प्राप्त हो गये ॥ २ ॥

3) जो मुमुक्षु, आत्मवान् इक्ष्वाकु कुलके आदिपुरुप, सहिष्णु, अच्युत, प्रभु इस सागरवारि-वसना वसुधावधूको सतीवधूकी तरह त्याग करके प्रव्रजित हो गये ॥ ३ ॥

4) जिन्होने अपने आत्मदोपोके मूलकारणको अपने समाधि तेज से निर्दयतापूर्वक पूर्णतया भस्मीभूत कर दिया तथा जिन्होने तत्त्वाभिलापी जगत को तत्त्वका सम्यक् उपदेश दिया। और ब्रह्मपदरूपी अमृतके ईश्वर हुए ॥ ४ ॥

5) वे विश्वचक्षु-सर्वज्ञ-वृषभ, सन्तो द्वारा पूजित, समग्ररूपसे ज्ञानात्मरूप, निरञ्जन, जिन, क्षुद्रवादिशासनो द्वारा अजेय, नाभिनन्दन मेरे चित्तको पवित्र करें ॥ ५ ॥

6) देवलोकसे अवतरित जिनके प्रभावसे क्रीडाओमे भी हर्षोत्फुल्ल-मुखकमल अजेय-शक्ति बन्धुवर्गने 'अजित' ऐसा सार्थक अथवा अन्वर्थक नाम रखा ॥ ६ ॥

7) जिनका शासन अजेय था और जो सत्पुरुषोंके प्रधान नेता थे, उन अजित तीर्थंकरका परमपवित्र नाम आज भी लोकमे अपनी इष्टसिद्धिरूप विजयके इच्छुक जन समूहके द्वारा प्रत्येक मगलके लिए सादर ग्रहण किया जाता है ॥ ७ ॥

8) घातिया कर्मोंके आवरणादिरूप उपलेपसे मुक्त जो महामुनि भव्यजनोके हृदयोमे सलग्न हुए कलङ्कोकी शातिके लिए जगतका उपकार करनेमे समर्थ अपनी वचनादि शक्तिकी सम्पत्ति-के साथ उसी प्रकार प्रादुर्भूत हुए जिस प्रकार कि मेघोंके आवरणसे मुक्त हुआ सूर्य कमलोंके अभ्युदयके लिए प्रकाशमय समर्थ शक्ति-सम्पत्तिके साथ प्रकट होता है ॥ ८ ॥

9) जिन्होने उस धर्मतीर्थका प्रणयन किया जो महान् है, ज्येष्ठ है और जिसका आश्रय पाकर भव्यजन दु ख-सतापपर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं जिस प्रकार ग्रीष्मकालीन सूर्यके आतापसे सन्तप्त हुए वडे-बडे हाथी चन्दनलेपके समान शीतल गङ्गाद्रहको प्राप्त होकर अथवा गगाके अगाध जलमे प्रवेश करके सूर्यके आतापजन्य दु खको मिटा डालते है ॥ ९ ॥

10) वे ब्रह्मनिष्ठ, सम-मित्र-शत्रु, आत्मीय कषाय-दोषोको सम्यग्ज्ञानानुष्ठानरूप विद्याके द्वारा पूर्णतया नष्ट करने वाले लब्धात्मलक्ष्मी, अजितात्मा भगवान् अजित-जिन मेरे लिए जिनलक्ष्मी प्रदान करे ॥ १० ॥

11) हे शम्भव-जिन ! सासारिक तृष्णारोगोसे सतप्त जनके लिए आप इस लोकमे उसी प्रकार आकस्मिक वैद्य हुए हैं जिस प्रकार कि अनाथोके रोगोकी शातिके लिए कोई चतुर वैद्य अचानक आ जाता है ॥ ११ ॥

12) यह जगत, जो कि अनित्य है, अशरण है, अहकार-ममकारकी क्रियाओंके द्वारा सलग्न मिथ्या अभिनिवेशके दोषसे दूषित है और जन्म-जरासे पीडित है, उसको आपने निरञ्जना शातिकी प्राप्ति कराई ॥ १२ ॥

13) आपने पीडित जगतको उसके दु खका यह निदान बतलाया है कि इन्द्रिय विषयसुख विजलीकी चमकके समान चचल है और तृष्णारूपी रोगकी वृद्धिका एकमात्र हेतु है, तृष्णाकी अभिवृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है और वह ताप जगतको अनेक दु ख परम्परासे पीडित करता रहता है ॥ १३ ॥

14) बन्ध, मोक्ष, बन्ध और मोक्षके कारण, वद्ध और मुक्त तथा मुक्तिका फल, इन सव बातोकी व्यवस्था हे नाथ ! स्याद्वादी अनेकान्तदृष्टिवाले आपके मतमे ही ठीक बैठती है, एकान्तदृष्टियो-के मतोमे नही । अतएव आप ही शास्ता है ॥ १४ ॥

15) हे आर्य ! पुण्यकीर्ति, आपकी स्तुतिमे प्रवृत्त हुआ शक्र भी अशक्त रहा, तो मेरे जैसे अज्ञोकी बात ही क्या है । फिर भी मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक स्तुत चरण-कमल आप द्वारा मेरे लिए उच्च शिवसन्तति देय है ॥ १५ ॥

16) गुणोकी अभिवृद्धिसे आप 'अभिनन्दन' इस सार्थक सज्ञाको प्राप्त हुए हैं । आपने क्षमारूप सखीवाली दयावधूको अपने आश्रयमे लिया है । समाधिके लक्ष्यको लेकर उसकी सिद्धि-के लिए आप उभय प्रकारके निर्ग्रन्थत्वके गुणसे युक्त हुए हैं ॥ १६ ॥

17) अचेतन-शरीरमे और शरीर-सम्बन्धसे अथवा शरीरके साथ किया गया आत्माका जो कर्मबन्ध है उससे उत्पन्न होनेवाले सुख-दु खादिक तथा स्त्री-पुत्रादिकमे 'यह मेरा है, मै इसका हूँ' इस प्रकारके अभिनिवेशको लिये हुए होनेसे तथा क्षणभगुर पदार्थोंमे स्थायित्वका निश्चय कर लेनेके कारण जो जगत नष्ट हो रहा है, उसे आपने तत्त्वका ग्रहण कराया है ॥ १७ ॥

18) क्षुधादि-दुखोके प्रतिकारसे और इन्द्रियविषय-जनित स्वल्प सुखके अनुभवसे देह और देहधारीका सुखपूर्वक सदा अवस्थान नही वनता । ऐसी हालतमे क्षुधादि दु खोके इस क्षण-स्थायी प्रतीकार और इन्द्रिय विषयजन्य स्वल्प सुखके सेवनसे न तो वास्तवमे इस शरीरका कोई उपकार वनता है और न शरीरधारी आत्माका ही कुछ भला होता है, इस प्रकारकी विज्ञापना हे भगवन् ! आपने इस जगतको की है ॥ १८ ॥

19) आपने जगतको यह भी बतलाया है कि अनुबन्धदोष—आसक्तिसे विषय-सेवनमे अति लोलुपी हुआ भी मनुष्य इस लोकमे राजदण्डादिका भय उपस्थित होनेपर अकार्योमे प्रवृत्त नही होता, फिर जो मनुष्य इस लोक तथा परलोकमे होनेवाले विषयाशक्तिके दोषोको भले प्रकार जानता है, वह कैसे विषय-सुखमे आसक्त हो सकता है ॥ १९ ॥

20) वह अनुवन्ध और तृष्णाकी अभिवृद्धि इस लोलुपी प्राणीके लिए तापकारी है। प्राप्त हुए थोडेसे इन्द्रिय-विषय-सुखसे इस प्राणीकी स्थिति सुखपूर्वक नही बनती। इस प्रकार लोक-हितके प्रतिपादनके लिए चूँकि आपका मत है इसलिए हे अभिनन्दन प्रभु! आप ही जगतके शरणभूत हैं, ऐसा सत्पुरुषोने माना है ॥ २० ॥

21) हे सुमति मुनि! आपकी 'सुमति' यह सज्ञा अन्वर्थक है, क्योकि एक तो आपने स्वय ही सुयुक्तिनीत तत्त्वको माना है, दूसरे आपके मतसे भिन्न जो शेष एकान्त मत हैं, उनमे सम्पूर्ण क्रियाओ तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोके तत्त्वकी सिद्धि नही बनती ॥ २१ ॥

22) वह सुयुक्तिनीत वस्तुतत्त्व भेदाभेदज्ञानका विषय है और अनेक तथा एकरूप है और यह वस्तुको भेद-अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही सत्य है। जो लोग इनमेसे एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है, क्योकि दोनोमेसे एकका अभाव माननेपर दूसरेका भी अभाव हो जाता है। दोनोका अभाव हो जानेसे वस्तुतत्त्व अनुपाख्य-नि स्वभाव हो जाता है ॥ २२ ॥

23) जो सत् है, उसके कथचित् असत्वशक्ति भी होती है। जैसे पुष्प वृक्षोपर तो अस्तित्व-को लिये हुए प्रसिद्ध है परन्तु आकाशपर उसका अस्तित्व नही है, आकाशकी अपेक्षा वह असत् रूप है। यदि वस्तुतत्त्वको सर्वथा स्वभावच्युत माना जाय तो वह अप्रमाण ठहरता है। इसी-से आपकी दृष्टिसे सर्वजीवादि तत्त्व कथचित् सत्-असत्रूप अनेकात्मक हैं। इस मतसे भिन्न वह वचनविरुद्ध है ॥ २३ ॥

24) यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उदय-अस्तको प्राप्त नही हो सकती और न उसमे क्रिया-कारककी ही योजना बन सकती है। जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नही होता और जो सत् है उसका कभी नाश नही होता। दीपक भी बुझने पर सर्वथा नाशको प्राप्त नही होता, किन्तु उस समय अन्धकार रूप पुद्गल-पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है ॥ २४ ॥

25) विधि और निषेध दोनो कथञ्चित् इष्ट है। विवक्षासे उनमे मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है। इस प्रकार हे सुमति जिन! आपका यह तत्त्व-प्रणयन है। इस तत्त्व-प्रणयनके द्वारा आपकी स्तुति करनेवाले मुझे स्तोताकी मतिका उत्कर्ष होवे ॥ २५ ॥

26) पद्म-पत्रके समान द्रव्यलेश्याके धारक हे पद्म-प्रभ-जिन! आपकी सुन्दरमूर्ति पद्मालया लक्ष्मीसे अलकृत रही है। और आप भव्यरूप कमलोको विकसित करनेके लिए उसी तरह भासमान हुए हैं जिस तरह कि पद्मबन्धु-सूर्य पद्मकरोका विकास करता हुआ सुशोभित होता है ॥ २६ ॥

27) आपने प्रतिमुक्ति लक्ष्मीकी प्राप्तिके पूर्व लक्ष्मी और सरस्वती दोनोको धारण किया हे। वादको विमुक्त होने पर आपने उस पूर्ण शोभावाली सरस्वतीको ही धारण किया है जो सर्वज्ञ लक्ष्मीसे प्रदीप्त थी ॥ २७ ॥

28) आपके शरीरकी किरणोके प्रसारने मनुष्यो तथा देवताओसे भारी हुई समवसरण सभाको इस तरह आलिप्त किया है जिस तरह कि पद्माभमणि-पर्वतकी प्रभा अपने पार्श्वभागको आलिप्त करती है ॥ २८ ॥

29) आपने कामदेवके दर्पको चूर-चूर किया है और सहस्रदलकमलोंके मध्यभागपर चलनेवाले अपने चरण-कमलोंके द्वारा नभस्थलको पल्लवोंसे व्याप्त-जैसा करते हुए, प्रजाकी विभूतिके लिए भूतलपर विहार किया है ॥ २९ ॥

30) हे ऋषिवर! आप अज हैं। आपके गुणासमुद्रके लवमात्रकी भी स्तुति करनेके लिए जव इन्द्र पहले ही समर्थ नही हुआ है, तो फिर अव मेरे जैसा असमर्थ प्राणी कैसे समर्थ हो सकता है? नही हो सकता। यह आपके प्रति मेरी अति भक्ति ही है जो मुझ वालकसे इस प्रकारका यह स्तवन कराती है ॥ ३० ॥

31) यह जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य अर्थात् अविनाशी स्वरूपलीनता है वही पुरुषोका स्वार्थ है। क्षणभगुर भोग स्वार्थ नही है, क्योकि इन्द्रिय विषयसुखके सेवनसे उत्तरोत्तर तृष्णाकी वृद्धि होती है और उससे तापकी शान्ति नही होने पाती। यह स्वार्थ और अस्वार्थका स्वरूप शोभनपार्श्वों सुन्दर शरीरागोके धारक भगवान् सुपार्श्वने वतलाया है ॥ ३१ ॥

32) जिस प्रकार अजगम यत्र स्वय अपने कार्यमें प्रवृत न होकर जगम पुरुषके द्वारा चलाया जाता है, उसी प्रकार जीवके द्वारा धारण किया हुआ यह शरीर अजगम है और चेतन-पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमे प्रवृत्त किया जाता है। वीभत्सु है, पूति है, क्षयि है और तापक है। इस प्रकारके शरीरमे स्नेह वृथा है। यह हितकी वात हे सुपार्श्व जिन! आपने वतायी है ॥३२॥

33) आपने यह भी ठीक कहा है कि हेतुद्वयके अनिवार्य सयोग-द्वारा उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलघ्यशक्ति है। अहकार से पीडित हुआ ससारी प्राणी अनेक सहकारी कारणोको मिलाकर भी सुखादिक कार्योके सम्पन्न करनेमे समर्थ नही होता ॥ ३३ ॥

34) आपने यह भी वतलाया है कि यह ससारी प्राणी मृत्युसे डरता है, परन्तु उस मृत्युसे छुटकारा नही, नित्य ही कल्याण अथवा निर्वाण चाहता हे परन्तु उसका लाभ नही होता। फिर भी यह मूढ प्राणी भय और इच्छाके वशीभूत हुआ स्वय ही वृथा तप्त होता है ॥ ३४ ॥

35) आप संपूर्ण तत्त्वसमूहके प्रमाता है। माता जिस प्रकार वालकको हितकी-उसके भलेकी शिक्षा देती है, उसी प्रकार आप हेयोपादेयके ज्ञानसे रहित वालक-तुल्य जनसमूहको हितका उपदेश देनेवाले हैं, और जो गुणावलोकी जन है, उनके आप नेता हैं। इसीसे मैं भी इन सतत भक्तिपूर्वक आपकी स्तुतिमे प्रवृत्त हुआ हूँ ॥ ३५ ॥

36) मैं उन श्रीचन्द्रप्रभ-जिनकी वन्दना करता हूँ, जो चन्द्रकिरणसम गौरवर्ण द्वितीय चन्द्रमाके समान जगतमे दीप्तिमान् हुए है, जिन्होने अपने अन्त करणके कषाय वन्धनको जीता है। जो ऋद्धिधारी मुनियोंके स्वामी तथा महात्माओके द्वारा-वन्दनीय हुए है ॥ ३६ ॥

37) जिनके शरीरके दिव्य प्रभामण्डलसे वाह्य अन्धकार और ध्यान प्रदीपके अतिशयसे प्रचुर मानस अन्धकार उसी प्रकार नाशको प्राप्त हुआ जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे अन्धकार विदीर्ण होकर नष्ट हो जाता है ॥ ३७ ॥

38) जिनके प्रवचनरूप सिंहनादोको सुनकर अपने पक्षकी सुस्थितिका घमंड रखनेवाले प्रवादिजन उसी प्रकार निर्मद हुए हैं जिस प्रकार मद झरते हुए मस्त हाथी केसरी-सिंहकी गर्जनाओको सुनकर निर्मद हो जाते है ॥ ३८ ॥

39) जो अद्‌भुत कर्मतेज थे, जो अनन्तधामाक्षर विश्वचक्षु थे और जो सव ओरसे दुःखोंके पूर्ण क्षयरूप मोक्षके शास्ता थे और इस तरह जो सम्पूर्ण लोकमे परमेष्ठिताके पदको प्राप्त हुए थे ॥ ३९ ॥

40) वे दोषा–रात्रि, अभ्र–मेघ और कलक–मृगछालादिके लेपसे रहित अथवा रागादिक दोषो रूप अभ्र-कलंकके आवरणसे वर्जित दोष रहित व्याकरण, कोश, साहित्य, न्याय रूप सुस्पष्ट प्रवचन किरणमालासे युक्त, भव्य-कुमुदनियोके लिए चन्द्रमा, ऐसे पवित्र भगवान् श्रीचन्द्रप्रभ-जिन मेरे मनको पवित्र करे ॥ ४० ॥

41) हे सुविधि जिन! आपने अपने ज्ञान तेजसे उस प्रमाणसिद्ध तत्त्वका प्रणयन किया है जो सत्-असत् आदिरूप विवक्षिताविवक्षित स्वभावको लिये हुए है और एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है। यह समालीढ पद आपमे भिन्न मत रखनेवाले दूसरे मतप्रवर्तकोके द्वारा प्रणीत नही हुआ है ॥ ४१ ॥

42) आपका वह तत्त्व कथचित् तद्रूप है और कथचित् तद्रूप नही है, क्योकि वैसे ही कथचित् सत् असत्‌रूपकी प्रतीति होती है। स्वरूपादि-चतुष्टयरूप विधि और पररूपादि-चतुष्टयरूप निषेधके परस्पर अत्यन्त भिन्नता तथा अभिन्नता नही है, क्योकि सर्वथा भिन्नता या अभिन्नता माननेपर शून्य दोष आता है ॥ ४२ ॥

43) यह वही है, इस प्रकारकी प्रतीति होनेसे वस्तुतत्त्व नित्य है और यह वह नही अन्य है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी सिद्धिसे वस्तुतत्त्व नित्य नही अनित्य है। वस्तुतत्त्वका नित्य और अनित्य दोनो रूप होना तुम्हारे मतमे विरुद्ध नही है, क्योकि वह बहिरङ्ग निमित्त, अन्तरङ्ग निमित्त और नैमित्तक सबधको लिये हुए है ॥ ४३ ॥

44) पदका वाच्य प्रकृतिसे एक और अनेक दोनो रूप है—'वृक्षा' इस पदज्ञानकी तरह। अनेकान्तात्मक वस्तुके अस्तित्वादि किसी एकधर्मका प्रतिपादन करनेपर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरेधर्मके प्रतिपादनमे जिसकी आकाक्षा रहती है ऐसे आकाक्षी-सापेक्षवादी अथवा स्याद्वादीका 'स्यात्' यह निपात गौणकी अपेक्षा न रखनेवाले नियममे निश्चित रूपसे बाधक होता है ॥ ४४ ॥

45) हे सुविधि-जिन ! आपका यह स्यात् पदरूपसे प्रतीयमान वाक्य मुख्य और गौणके आशय-को लिये हुए है। आपसे द्वेष रखनेवाले सर्वथा एकान्तवादियोके लिए यह वाक्य अपथ्यरूपसे अनिष्ट है। इसलिए हे साधो ! आपके चरण-कमल जगदीश्वरोंके द्वारा वन्दनीय है और मेरे द्वारा भी वन्दनीय हैं ॥ ४५ ॥

46) हे अनघ ! आप प्रत्यक्ष-ज्ञानी-मुनिको प्रशम-जलसे भरी हुई वाक्यरश्मियाँ विद्वानोके लिए जैसी शीतल है, वैसा न तो चन्दन शीतल है न चन्द्रमाकी किरणे, न गगाका जल शीतल है और न हारयष्टि ॥ ४६ ॥

47) जिस प्रकार वैद्य विष-दाहसे मूर्च्छित हुए अपने शरीरको विषापहार मन्त्रके गुणोंसे निर्विष एव मूर्च्छा-रहित कर देता है, उसी प्रकार आपने सासारिक सुखोकी अभिलाषा-रूप अग्निके दाहसे मूर्च्छित हुए ज्ञानमय अमृतजलके सिचनसे मूर्च्छारहित शान्त किया है ॥४७॥

48) स्वकीय जीवनकी तृष्णासे दिनमे श्रमार्त और कामसुखकी तृष्णासे रात्रिमे श्रमार्त प्रजा-जन सो जाते हैं। हे आर्य-शीतल-जिन ! आप रात-दिन प्रमादरहित, आत्मविशुद्धिके मार्गमे जागते ही रहे है ॥ ४८ ॥

49) कितने ही तपस्वी सतान, धन तथा उत्कृष्ट लोककी तृष्णासे कर्म करते है, किन्तु समभावी आपने पुनर्जन्म और जराको छोडनेके लिए त्रयी प्रवृत्ति—मन-वचन-काय तीनोकी प्रवृत्तिको रोका है ॥ ४९ ॥

50) हे शीतल-जिन ! कहाँ तो आप उत्तमज्योति, अजन्मा और निर्वृत्त और कहाँ वे दूसरे जो लेशमात्र ज्ञानके मदसे नाशको प्राप्त हुए हैं। इसीलिए अपने निश्रेयसकी भावनामे तत्पर बुध-श्रेष्ठोके द्वारा आप पूजे जाते है ॥ ५० ॥

51) हे अजेयवाक्य श्रेयो-जिन ! आप इन श्रेयप्रजाजनोको श्रेयोमार्गमे अनुशासित करते हुए वीतघन विवस्वान्—मेघरहित सूर्यकी तरह अकेले ही इस त्रिभुवनमे प्रकाशमान हुए है ॥ ५१ ॥

52) आपके मतमे वह विधि प्रमाण है जो कथचित् तादात्म्य सबंधको लिये हुए प्रतिषेध रूप है तथा इन विधि-प्रतिषेध दोनोमेसे कोई एक प्रधान और दूसरा गौण होता है। और मुख्यके नियमका जो हेतु है वह नय है और वह नय दृष्टान्तसमर्थक होता है ॥ ५२ ॥

53) आपके मतमे जो विवक्षित होता है वह 'मुख्य' कहलाता है, दूसरा जो अविवक्षित होता है वह 'गौण' कहलाता है, और जो अविवक्षित होता है वह निरात्मक नही होता। इस प्रकार मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे एक ही वस्तु शत्रु, मित्र और अनुभयादि शक्तियोको लिये रहती है। वास्तवमे वस्तु दो सीमाओसे कार्यकारी होती है ॥ ५३ ॥

54) वादी प्रतिवादी दोनोंके विवादमे दृष्टान्तकी सिद्धि होनेपर साध्य प्रसिद्ध होता है, परन्तु वैसी दृष्टान्तभूत कोई वस्तु है ही नही जो सर्वथा एकान्तकी नियामक दिखाई देती हो, क्योकि आपकी अनेकान्त-दृष्टि सबमे अपना प्रभाव डाले हुए है ॥ ५४ ॥

55) हे अर्हन् ! आप एकान्त दृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिरूप न्यायवाणोसे मोह शत्रुका अथवा मोहकी प्रधानताको लिये हुए ज्ञानावरणादिरूप शत्रु-समूहका नाश करके कैवल्य-विभूतिके सम्राट् हुए है। इसीसे आप मेरी स्तुतिके योग्य है ॥ ५५ ॥

56) हे श्रीवासुपूज्य मुनीन्द्र ! आप शिवरूप अभ्युदय क्रियाओमे पूज्य हैं। वासुपूज्य हैं। त्रिदशेन्द्रपूज्य है। अल्पवुद्धि मेरे द्वारा भी पूज्य है। दीपशिखाके द्वारा क्या सूर्य पूजा नही जाता ॥ ५६ ॥

57) हे भगवन् ! पूजा-वन्दनासे आपका कोई प्रयोजन नही है, क्योकि आप वीतरागी हैं, निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नही है। क्योकि आप विवान्तवैर-वैररहित है। फिर भी आपके पुण्य गुणोका स्मरण हमारे चित्तको पाप-मलोंसे पवित्र करता है ॥ ५७ ॥

58) हे पूज्य जिन श्रीवासुपूज्य ! आपकी पूजा करते हुए प्राणीके जो सावद्यलेश होता है, वह बहु पुण्यराशिमे दोषका कारण नही वनता। विपकी एक कणिका शीतल तथा शिवाम्बु-राशि-कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्रको दूषित नही करती ॥ ५८ ॥

59) जो वस्तु गुण-दोषकी उत्पत्तिका बाह्य निमित्त होती है, वह अभ्यन्तर मूल हेतुका अङ्ग-भूत होती है। आपके मतमे अध्यात्मनिरत व्यक्तिके केवल अभ्यन्तर हेतु भी पर्याप्त है ॥ ५९ ॥

60) कार्योंमे बाह्य और आभ्यन्तर कारणोकी समग्रता आपके मतमे द्रव्यगत स्वभाव है। अन्यथा पुरुषोंके मोक्षकी विधि भी नही वनती। इसीसे परमर्द्धि सम्पन्न ऋषि ! आप बुध-जनोंके अभिवन्द्य है ॥ ६० ॥

61) जो नित्यक्षणिकादिक नय परस्परमे अनपेक्ष होनेसे स्वपरप्रणाशी है, वे ही नय, हे प्रत्यक्ष-ज्ञानी विमल जिन ! आपके मतमे परस्पर साक्षेप होनेसे स्वपर उपकारी हैं ॥ ६१ ॥

62) जिस प्रकार एक-एक कारक शेष-अन्यको अपना सहायकरूप कारक अपेक्षित करके अर्थ-की सिद्धिके लिए समर्थ होता है, उसी प्रकार आपके मतमे सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होनेवाले अथवा सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले जो नय है, वे मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट हैं ॥ ६२ ॥

63) परस्परमे एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुए जो अन्वय और भेदका ज्ञान होता है उससे प्रसिद्ध होनेवाले सामान्य और विशेषकी आपके मतमें उसी तरह समग्रता है, जिस तरह कि भूतलपर बुद्धिलक्षण प्रमाण स्वपरप्रकाशकरूपमे समग्र है ॥ ६३ ॥

64) वाच्यभूत विशेष्यका वह वचन जिससे विशेष्यको नियमित किया जाता है 'विशेषण' कहलाता है और जिसे नियमित किया जाता है वह 'विशेष्य' है। विशेषण और विशेष्य दोनोके सामान्यरूपताका अतिप्रसग आता है, किन्तु आपके मतमे कथंचित् अर्थके वाचक स्यात् पदके द्वारा विवक्षित विशेषण विशेष्यसे अविवक्षित विशेषण विशेष्यका परिहार हो जाता है ॥ ६४ ॥

65) आपके मतमे जो नय है, वे सब स्यात्पदरूपी सत्यसे चिह्नित है और रसोपविद्ध लोह-धातुओंके समान अभिमत फलको फलते है। इसीसे अपना हित चाहनेवाले आर्यजनोंने आपको प्रणाम किया है ॥ ६५ ॥

66) अनन्त दोषोके आधारभूत विग्रह–शरीरवाला, मोहमयग्रह चिरकालसे हृदयमे चिपटा हुआ था। चूंकि तत्त्व श्रद्धामे प्रसन्नता धारण करनेवाले आपने उसे पराजित कर दिया है, इसलिए आप भगवान् 'अनन्तजित' हुए है ॥ ६६ ॥

67) आप 'कषाय' नामके प्रमाथियो-पीडनशील शत्रुओका नाम नि शेष करते हुए अशेष-वित-सर्वज्ञ हुए है। और आपने समाधिरूप भैषज्य गुणोंके द्वारा सतापकारक मन्मथके दुर्मद आमय-व्याधिको नष्ट कर दिया है ॥ ६७ ॥

68) जिसमे परिश्रम रूप जल भरा है और भयरूप तरगमालाएँ उठती है, उस अपनी तृष्णा-नदीको हे आर्य-अनतजित ! आपने अपरिग्रह-रूप ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोके तेजसे सुखा डाला है, इसलिए आपका निर्वृत्ति-तेज उत्कृष्ट है ॥ ६८ ॥

69) हे भगवन् ! आपमे सुहृद्‌भाव रखनेवाला श्रीविशिष्ट सौभाग्यको प्राप्त करता है, और आपमे द्वेषभाव रखने वाला प्रत्ययकी तरह विलीन हो जाता है। परन्तु आप उन दोनोमे भी अत्यन्त उदासीन रहते हैं, आपका यह ईहित–चेष्टित बडा ही विचित्र है ॥ ६९ ॥

70) आप ऐसे हैं, वैसे हैं, इस प्रकार मुझ अल्पमतिका यह स्तुतिरूप प्रलाप लेश है। अमृत-समुद्रके अशेष माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी जिस प्रकार उसका सस्पर्श कल्याणकारक होता है उसी प्रकार हे महामुने ! आपके अशेष-माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी मेरा वह थोडा-सा प्रलाप आपके गुणोंके सस्पर्शरूप होनेसे कल्याणका ही हेतु है ॥ ७० ॥

71) अनवद्य धर्मतीर्थको प्रवर्तित करते हुए आप सत्पुरुषों द्वारा 'धर्म' इस सार्थक सज्ञाको लिये हुए माने गये है। आपने तपरूप अग्नियोंसे कर्मवनको जलाया है, शाश्वत सुख प्राप्त किया है। आप शकर है ॥ ७१ ॥

72) देव और मानवनिकायोमे श्रेष्ठ बुधजनोंसे परिवृत आप वैसे ही सुशोभित होते है, जैसे तारकाओंसे परिवृत निर्मल पूर्ण शशलाञ्छन आकाशमे सुशोभित होता है ॥ ७२ ॥

73) प्रातिहार्यों और विभवोंसे विभूषित आप उन्हीसे ही नही, किन्तु देहसे भी विरक्त रहे आपने मनुष्यो तथा देवोको मोक्षमार्ग सिखलाया, परन्तु आप शासन फलकी एषणासे आतुर नही हुए ॥ ७३ ॥

74) हे मुनि ! आपकी मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियाँ चिकीर्षासे नही हुईं और न असमीक्ष्य-कारित्वके रूपमे भी वे हुईं। इस तरह हे धीर-धर्मजिन ! आपका ईहित अचिन्त्य है ॥ ७४ ॥

75) हे नाथ ! चूँकि आप मानुषी प्रकृतिको अतिक्रान्त कर गये हैं और देवताओमे भी देवता हैं, इसलिए आप परम उत्कृष्ट देवता है । अत हे धर्मजिन ! आप हमारे श्रेयस-कल्याणके लिए प्रसन्न होवें ॥ ७५ ॥

76) जो शान्ति-जिन परशत्रुओंसे प्रजाजनोकी रक्षा करके चिरकाल तक अप्रतिम प्रतापके धारक राजा हुए और फिर जिन्होने स्वय ही मुनि होकर दयामूर्तिकी तरह प्रथम पापोकी शान्ति की ॥ ७६ ॥

77) जो शत्रुओके लिए भय उपजानेवाले चक्रसे नरेन्द्रचक्रको जीतकर चक्री नृप हुए और बादको समाधिचक्रसे दुर्जय मोहचक्रको जीतकर जो महान् उदयको प्राप्त हुए हैं ॥ ७७ ॥

78) जो राजसुभोगतन्त्र होकर राजश्रीसे राजाओमे राजसिंहकी तरह शोभित हुए वही बादमे आत्मतन्त्र होकर आर्हन्त्य लक्ष्मीसे देवो तथा असुरोकी उदारसभा—समवशरणमे शोभाको प्राप्त हुए है ॥ ७८ ॥

79) जिनके राजा होनेपर राजचक्र, मुनि होनेपर दयाकी किरणोवाला धर्मचक्र तथा बादमे पूज्य होनेपर देवचक्र, ध्यानोन्मुख होनेपर कृतान्तचक्र प्राञ्जलि हुआ ॥ ७९ ॥

80) जिन्होने अपने दोषोकी शान्ति करके आत्मशान्ति स्थापित की । जो शरणागतोकी शान्तिके विधाता हैं, वे भगवान् शान्ति जिन ससार परिभ्रमणके क्लेश और भयोकी उपशान्तिके लिए मेरे शरण्य—त्राता हो ॥ ८० ॥

81) कुन्थ्वादि सकल प्राणियोपर दयाके अनन्य विस्तारको लिये हुए हे कुन्थुजिन ! आपने पहले राज्यविभूतिके निमित्त राजाओके स्वामी चक्रवर्ती होकर बादको ज्वरादि रोग, जरा और मरणकी उपशान्तिरूप मुक्ति-विभूतिके लिए इस लोकमे धर्मचक्रको प्रवर्तित किया है ॥ ८१ ॥

82) तृष्णारूप अग्नि ज्वालाएँ स्वभावसे ही सतापित करती हैं । इनकी शान्ति अभिलषित इन्द्रिय-विषयोकी सम्पत्तिसे नही होती, उल्टी वृद्धि ही होती है, क्योकि वस्तुस्थिति ऐसी ही है । सेवन किये हुए इन्द्रिय-विषय शरीरके सन्तापको मिटानेमे निमित्तमात्र है । यह सब जानकर हे आत्मवान् ! आप विषय-सौख्य से पराङ्मुख हुए हैं ॥ ८२ ॥

83) आपने आध्यात्मिक तपकी परिवृद्धिके लिए परम दुश्चर बाह्य तप किया और आर्त-रौद्ररूप दो कलुषित ध्यानोका निराकरण करके उत्तरवर्ती दो अतिशय ध्यानोमे प्रवृत्त हुए ॥८३॥

84) आप अपने कर्मोंकी चार कटुक प्रकृतियो—घतियाकर्मोको रत्नत्रयकी सातिशय अग्निमे होम करके जातवीर्य हुए और सकलवेद विधिके प्रणेता होकर ऐसे शोभायमान हुए जैसे कि घनपटल-विहीन आकाशमे दीप्त किरणोको लिये हुए सूर्य शोभता है ॥ ८४ ॥

85) हे मुनीन्द्र ! चूकि लोकपितामहादि आपकी विद्या और विभूतिकी एक कणिकाको भी प्राप्त नही हैं, इसलिए आत्महितसाधनकी धुनमे लगे हुए श्रेष्ठ सुधीजन अज—पुनर्जन्मसे रहित अप्रतिमेय स्तुत्य आपकी स्तुति करते हैं ॥ ८५ ॥

86) विद्यमान गुणोकी अल्पताका उल्लघन करके जो उनके बहुत्वकी कथा की जाती है उसे लोकमे 'स्तुति' कहते हैं। वह स्तुति आपमे कैसे बन सकती है ? क्योकि आपके गुण अनन्त होनेसे पूरे तौर पर कहे ही नही जा सकते ॥ ८६ ॥

87) फिर भी पुण्यकीर्ति मुनीन्द्र आपका चूकि नाम-कीर्तन भी हमे पवित्र करता है, इसलिए हम आपके गुणोका लेशमात्र कथन करते हैं ॥ ८७ ॥

88) लक्ष्मीकी विभूतिके सर्वस्वको लिये हुए जो चक्रलाञ्छन सार्वभौम साम्राज्य आपको सम्प्राप्त था, वह मुमुक्षु होने पर आपके लिए जीर्ण तृणके समान हो गया ॥ ८८ ॥

89) आपके रूप-सौन्दर्यको देखकर तृप्तिको प्राप्त न हुआ दो नेत्रोवाला इन्द्र आश्चर्यचकित होकर सहस्राक्ष हो गया ॥ ८९ ॥

90) कपाय-भटोकी सैन्यसे युक्त जो मोहरूप पापी शत्रु है उसे हे धीर अरजिन! आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उपेक्षारूप अस्त्र-शस्त्रोसे पराजित कर दिया ॥ ९० ॥

91) तीन लोककी विजयसे उत्पन्न हुए कामदेवके उत्कट दर्पको आपने लज्जित किया है। धीरवीर-मुनीन्द्र! आपके सामने कामदेव हतोदय हो गया ॥ ९१ ॥

92) आपने उस तृष्णा-नदीको निर्दोप ज्ञान-नौकासे पार किया है जो इस लोक तथा परलोकमे दु खोकी योनि है और जिसका पार करना आसान नही है ॥ ९२ ॥

93) पुनर्जन्म और ज्वरादिक रोगोका मित्र अन्तक—यम सदा मनुष्योको रुलानेवाला है, परन्तु आप अन्तकका अन्त करनेवाले है, आपको प्राप्त होकर अन्तक—काल अपनी इच्छानुसार प्रवृत्तिसे उपरत हुआ है ॥ ९३ ॥

94) हे धीर! आभूषणो, वेषो तथा आयुधोके त्यागी और ज्ञान, कषायेन्द्रियजय तथा दया-की उत्कृष्टताको लिये हुए आपका रूप ही इस बातको वतलाता है कि आपने दोषोका पूर्णतया निग्रह किया है ॥ ९४ ॥

95) सब ओरसे निकलनेवाले आपके अङ्गप्रभाके वृहत् परिमडलसे बाह्य अन्धकार दूर हुआ और ध्यान-तेजसे आध्यात्मिक अन्धकार नाशको प्राप्त हुआ है ॥ ९५ ॥

96) हे नाथ! सर्वज्ञ-ज्योतिसे उत्पन्न हुआ आपका महिमोदय किस सचेतन प्राणीको प्रणम्र-शील नही बनाता ॥ ९६ ॥

97) सर्व-भाषाओमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए और ससद—समवशरणसभामे व्याप्त हुआ आपका श्रीसम्पन्न वचनामृत प्राणियोको अमृतपानकी तरह तृप्त करता है ॥ ९७ ॥

98) आपकी अनेकान्त दृष्टि सती—सच्ची है, विपरीत इससे जो एकान्त मत है वह शून्यरूप असत् है। अत जो कथन अनेकान्त दृष्टिसे रहित है, वह सब मिथ्या है, क्योकि वह अपना ही घातक है ॥ ९८ ॥

99) जो परमे विरोधादि दोष देखनेके लिए उन्निद्र रहते हैं और अपनेमे दोषोंके प्रति गज-निमीलनका व्यवहार करते हैं, वे बेचारे क्या करे ? वे आपके अनेकान्त मतकी श्रीके पात्र नही हैं ॥ ९९ ॥

100) वे एकान्तवादी अपने उस स्वघाति-दोषको दूर करनेके लिए असमर्थ हैं, आपसे द्वेष रखते हैं, आत्मघाती हैं और बाल–अज्ञ है, उन्होने तत्त्वकी अवक्तव्यताको आश्रित किया है ॥ १०० ॥

101) सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विपक्षरूप असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य ये जो नय पक्ष है, वे यहाँ सर्वथारूपमे तो अतिदूषित है और स्यात्‌रूपमे पुष्टिको प्राप्त होते हैं ॥१०१॥

102) सर्वथारूपसे प्रतिपादनके नियमका त्यागी और यथादृष्टको अपेक्षामे रखनेवाला जो 'स्यात्' शब्द है, वह आपके न्यायमे है, दूसरोंके न्यायमे नही है, जो कि अपने बैरी आप हैं ॥ १०२ ॥

103) आपके मतमे अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनोको लिये हुए अनेकान्तस्वरूप है। प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्तरूप सिद्ध होता है और विवक्षित नयकी अपेक्षासे अनेकान्तमे एकान्तरूप सिद्ध होता है ॥ १०३ ॥

104) इस प्रकार हे अरजिन ! आप निरुपम-युक्तशासन हैं, प्रिय तथा हितकारी योगोके और गुणोंके अनुशासक हैं, साथ ही दमतीर्थके नायक हैं। आपके समान फिर साधुजनोको प्रतिबोध देनेके लिए और कौन समर्थ है ॥ १०४ ॥

105) हे वरद अरजिन ! मैंने अपनी मत-शक्तिकी सम्पत्तिके अनुरूप तथा आगमकी दृष्टिके अनुसार आपके विषयमे कुछ थोडेसे गुणोका कीर्तन किया है। यह गुणकीर्तन मेरे पाप कर्मोंके विनाशमें समर्थ हो ॥ १०५ ॥

106) जिन महर्षिके सकल पदार्थोंका प्रत्यवबोध साक्षात् रूपसे उत्पन्न हुआ और इसलिए देवो और मानवो सहित सारे जगतने प्राञ्जलि होकर प्रणिपात किया ॥ १०६ ॥

107) जिनकी मूर्ति सुवर्णनिर्मित-जैसी है और स्वकीय देदीप्यमान आभासे परिमण्डल किये हुए है। वाणी भी जिनकी 'स्यात्' पदपूर्वक यथावत् कथन करनेवाली है और साधुजनोको रमाती है ॥ १०७ ॥

108) जिनके सामने गलितमान हुए प्रतितीर्थिजन पृथ्वीपर विवाद नही करते थे और पृथ्वी भी पद पदपर विकसित कमलोसे मृदु-हास्यको लिये हुए रमणीक हुई थी ॥ १०८ ॥

109) जिन-जिनेन्द्र-चन्द्रका विभव शिष्य-साधु-ग्रहोंके रूपमे हुआ तथा जिनका आत्मीय तीर्थ भी ससार समुद्रसे भय-भीत प्राणियोको पार उतरनेके लिए प्रधान मार्ग बना ॥ १०९ ॥

110) और जिनकी शुक्लध्यानरूप परम तपोग्निने अनन्त दुरितको भस्म कर दिया था, उन जिनसिंह, कृतकृत्य और अशल्य मल्लिजिनेन्द्रकी मै शरणमे प्राप्त हुआ हूँ ॥ ११० ॥

111) मुनियोके सुव्रतोकी स्थितिको अधिगत करनेवाले 'मुनिसुव्रत' इस अन्वर्थ सज्ञाके धारक हे अनघ मुनिराज ! आप मुनियोकी परिषद्मे उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए है जिस प्रकार नक्षत्र समूहसे परिवेष्टित चन्द्रमा शोभाको प्राप्त होता है ॥ १११ ॥

112) मद अहकारका निग्रह करनेवाले हे जिन ! आपका शरीर तपसे उत्पन्न हुई तरुण-मोरके कण्ठ-वर्ण-जैसी आभासे उसी प्रकार शोभित हुआ है जिस प्रकार कि ग्रहपरिवेषरुचि चन्द्रमाकी दीप्ति शोभती है ॥ ११२ ॥

113) हे यतिराज ! आपका अपना शरीर चन्द्रमाकी दीप्तिके समान निर्मल शुक्ल रुधिरसे युक्त, अतिसुगन्धित, रजरहित, शिवस्वरूप तथा अति आश्चर्यको लिये हुए रहा है और आपके वचन तथा मनकी जो प्रवृत्ति हुई है वह शिव-स्वरूप तथा अति आश्चर्यको लिये हुए हुई है ॥ ११३ ॥

114) हे वदतावर जिन ! आपका यह वचन कि चर और अचर जगत प्रतिक्षण स्थिति-जनन-निरोधलक्षणको लिये हुए है, सर्वज्ञताका चिह्न है ॥ ११४ ॥

115) आप अनुपम योगबलसे आठो पाप-मलरूप कलकोको भस्मीभूत करते हुए, ससारमे न पाये जानेवाले सौख्यको प्राप्त हुए है आप मेरी भी ससार-शान्तिके लिए निमित्तभूत होवें ॥ ११५ ॥

116) स्तुतिके समय स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु साधु स्तोताकी स्तुति कुशल परिणामकी कारण जरूर है, और वह कुशल-परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेयफलका दाता है। जब जगतमे इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है तब, हे सर्वदा अभिपूज्य नमि-जिन ! ऐसा कौन विद्वान् है जो आपकी स्तुति न करे ॥ ११६ ॥

117) हे बुद्धि-ऋद्धिसम्पन्न भगवन् ! आपने ब्रह्मप्रणिधान मनसे अर्थात् परमात्मस्वरूपमे चित्तको एकाग्र करके पुनर्जन्मके बन्धनको उसके मूल-कारण-सहित नष्ट किया है, अतएव आप विद्वज्जनोंके लिए मोक्षमार्ग अथवा मोक्षस्थान है। आपमे विभव किरणोंके साथ केवलज्ञान-ज्योतिके प्रकाशित होनेपर अन्यमती जन उसी प्रकार हतप्रभ हुए है जिस प्रकार निर्मल सूर्यके सामने खद्योत होते है ॥ ११७ ॥

118) हे सम्पूर्ण जगत्के महान् गुरु श्रीनमिजिन ! आपने वस्तुतत्त्वको अनेक नयोकी विवक्षा-अविवक्षाके वशसे विधेय, निषेध, उभय, अनुभय तथा मिश्र भग रूप निर्दिष्ट किया है। साथ ही अपरिमित विशेषोका कथन किया है, जिनमेसे एक-एक विशेष सदा एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये रहता है, और सप्तभगके नियमको अपना विषय किये रहता है ॥ ११८ ॥

119) प्राणियोकी अहिंसा जगतमे परमब्रह्म जानी गई है। वह अहिंसा उस आश्रमविधिमें नही बनती जिसमें अणुमात्र भी आरम्भ होता है। अत उसकी सिद्धिके लिए परमकरुणा-भावसे सम्पन्न आपने ही बाह्याभ्यन्तररूपसे उभय-प्रकारके परिग्रहको छोडा है और फलत परमब्रह्मकी सिद्धिको प्राप्त किया है। किन्तु जो विकृतवेष और उपधिमे रत हैं उन्होने उस बाह्याभ्यन्तर परिग्रहको नही छोडा है। ॥ ११९ ॥

120) आभूषण, वेष तथा व्यवधानसे रहित और इन्द्रियोकी शान्तताको लिये हुए आपका नग्न दिगम्बर शरीर चूँकि यह बतलाता है कि आपने कामदेवके वाणोके विपसे होनेवाली चित्तकी पीडा अथवा अप्रतीकार व्याधिको जीता है और बिना भयकर शस्त्रोके ही निर्दयहृदय क्रोधका विनाश किया है, इसलिए आप निर्मोह है और शान्ति-सुखके स्थान है। अत हमारे शरण्य है ॥ १२० ॥

121-22) विकसित कमलदलके समान दीर्घ नेत्रोंके धारक और हरिवशमे ध्वजरूप हे अरिष्ट-नेमि जिनेन्द्र ! आप भगवान्, ऋषि और शीलसमुद्र हुए हैं, आपने परमयोगरूप शुक्लध्यानाग्निसे कल्मषेन्धनको भस्म किया है और ज्ञानकी विपुल किरणोसे सम्पूर्ण जगत अथवा लोकालोकको जानकर आप निर्दोष विनय तथा दमरूप तीर्थके नायक हुए है। आप जरामे रहित और भवसे विमुक्त हुए हैं ॥१२१-१२२ ॥

123-124 ) आपके उस निर्मल चरण-युगलको, जो देवेन्द्रोके मुकुटोकी मणियो और रत्नोकी किरणोके प्रसारसे उपचुम्बित है, जिसका तलभाग विकसित कमलदलके समान रक्तवर्ण है और जिसकी अँगुलियोका उन्नत प्रदेश नखरूप-चन्द्रमाओकी किरणोंके परिमण्डलसे अति सुन्दर मालूम होता ह, वे सुधी महर्षिजन प्रणाम करते हैं जो अपना आत्महितसाधनमे दत्तचित्त है और जिनके मुखपर सदा स्तुति-मन्त्र रहत हे ॥ १२३-१२४ ॥

125-126) जिनके शरीरका दीप्तिमण्डल द्युतिको लिये हुए सुदर्शनचक्ररूप रविमण्डलकी किरणोंसे जड़ित है और जिनका शरीर नीले कमल-दलकी राशिके समान श्यामवर्ण है उन गरुडध्वज और हलधर दोनो लोकनायकोने जो स्वजनभक्तिसे प्रमुदितचित्त और धर्मरूप विनयाचारके रसिक थे, आपके दोनो चरणकमलोको बन्धु-जनोके साथ बार-बार प्रणाम किया ॥ १२५-१२६ ॥

127-128) जो पृथ्वीका ककुद है, विद्याधरो की स्त्रियोसे सेवित शिखरोसे अलकृत है और जिसके तट मेघ-पटलोसे व्याप्त हैं वह विश्रुत ऊर्जयन्त नामका पर्वत इन्द्रद्वारा लिखे गये आपके चिह्नोको धारण करता है, इसलिए तीर्थस्थान है और जो सदा तथा आज भी भक्तिसे उल्लसितचित्त ऋषियोद्वारा सब ओरसे निरन्तर अतिसेवित है ॥ १९७-१२८ ॥

129-130) हे नाथ ! आपने इस अखिल विश्वको सदा कर-तल-स्थित स्फटिक मणिके समान युगपत् जाना है, और आपके इस जाननेमे बाह्यकरण और अन्त करण ये अलग-अलग तथा दोनो मिलकर भी न तो कोई बाधा उत्पन्न करते हैं और न किसी प्रकारका उपकार ही सम्पन्न

करते है। इसीसे हे बुधजन-स्तुत! आपके न्याय-विहित और अद्भुत उदय-सहित चरित-माहात्म्यको भले प्रकार अवधारण करके हम बड़े प्रसन्न-चित्तसे आपमे स्थित हुए है ॥ १२९-१३० ॥

131) तमालवृक्षके समान नील-श्यामवर्णके धारक, इन्द्रधनुषो तथा विद्युद्गुणोसे युक्त और भयकर वज्र, वायु तथा वर्षाको सब ओर बखेरनेवाले ऐसे वैरि-वशवर्ती मेघोसे उपद्रुत होनेपर भी जो महामना योगसे चलायमान नही हुए ॥ १३१ ॥

132) जिन्हे उपसर्ग प्राप्त होनेपर धरणेन्द्र नामके नागने चमकती हुई बिजलीकी पीत-दीप्तिको लिये हुए बृहत्फणाओंके मण्डलरूप मण्डपसे उसी प्रकार वेष्ठित किया जिस प्रकार कृष्णसध्यामे विद्युतोपलक्षित मेघ अथवा विविधवर्णोंकी सध्यारूप विद्युतसे उपलक्षित मेघ पर्वतको वेष्टित करता है ॥ १३२ ॥

133) जिन्होने अपने योगरूप खड्गकी तीक्ष्ण धारासे दुर्जय मोहशत्रुका घात करके उस आर्हन्त्यपदको प्राप्त किया है जो कि अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी पूजाके अतिशयका स्थान है ॥ १३३ ॥

134) जिनको ईश्वर तथा विधूतकल्मष देखकर वैसे ही होनेकी इच्छा रखनेवाले वनवासी वे तपोधन भी अपने श्रम–प्रयासमे निष्फल बुद्धि होते हुए शमोपदेश–मोक्षमार्गोपदेशकी शरणको प्राप्त हुए ॥ १३४ ॥

135) वे श्रीपार्श्व-जिन मेरे द्वारा प्रणाम किये जाते है, जो कि सच्ची विद्याओ तथा तपस्याओके प्रणेता हैं, पूर्णबुद्धि है, उग्रवशरूप आकाशके चन्द्रमा है और जिन्होने मिथ्या दर्शनादिरूप कुमार्गकी दृष्टियोसे उत्पन्न होने वाले विभ्रमोको विनष्ट किया है ॥ १३५ ॥

136) हे वीर जिन! आप उस निर्मलकीर्तिसे, जो गुणोसे समुद्भूत है, पृथ्वीपर उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाशमे नक्षत्र-सभा-स्थित उस प्रभा-दीप्तिसे शोभता है जो कि कुन्दपुष्पोकी शोभाके समान सब ओरसे धवल है ॥ १३६ ॥

137) हे वीर जिन! आपका शासन-माहात्म्य कलिकालमे भी जयको प्राप्त है। उसके प्रभावसे गुणोमे अनुशासन प्राप्त शिष्यजनोका भव विनष्ट हुआ है। इतना ही नही, किन्तु जो दोषरूप चाबुकोका निराकरण करनेमे समर्थ है और अपने ज्ञानादि-तेजसे जिन्होने आसन-विभुओको निस्तेज किया है, वे भी आपके इस शासन-माहात्म्यकी स्तुति करते है ॥१३७ ॥

138) हे मुनिनाथ! 'स्यात्' शब्द-पुरस्सर कथनको लिये हुए आपका जो स्याद्वाद है वह निर्दोष है, क्योकि दृष्ट और इष्ट प्रमाणोके साथ उसका कोई विरोध नही है। दूसरा 'स्यात्' शब्द-पूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है, वह निर्दोष प्रवचन नही है, क्योकि दृष्ट और इष्ट दोनो के विरोधको लिये हुए है ॥ १३८ ॥

139) आप सुरो तथा असुरोसे पूजित हैं, किन्तु ग्रन्थिकसत्वोंके हृदयसे प्राप्त होनेवाले प्रणामसे पूजित नही है। आप तीनो लोकके प्राणियोके लिए परमहितरूप है, आवरणरहित ज्योतिको

लिये हुए हैं और उज्ज्वलधामको प्राप्त हुए है अथवा अनावरण ज्योतिसे जो स्थान प्रकाशमान है उसको प्राप्त हुए हैं ॥ १३९ ॥

140) आप उस गुणभूषणको धारण किये हुए हैं जो सभ्यजनो अथवा समवसरण-सभा-स्थित भव्यजनोको रुचिकर है और श्रीसे ऐसे रूपमे पुष्ट है जिससे उसकी शोभा और भी बढ जाती है। और अपने शरीरकी कान्तिसे आप उस मृगलाञ्छन-चन्द्रमाको जीतते हैं जो अपनी दीप्तिमे मग्न है और सबको सुन्दर तथा प्यारा मालूम होता है ॥ १४० ॥

141) मुमुक्षुओको इच्छित प्रदान करनेवाले आप मद और मायासे रहित हैं, आपका जीवादि-पदार्थोंका परिज्ञान अतिशय प्रशसनीय है, और आपने श्रीविशिष्ट तथा कपट-रहित यम और दमका उपदेश दिया है ॥ १४१ ॥

142) जिस प्रकार झरते हुए मदके दानी और गिरिभित्तियो–पर्वतकटनियोका विदारण करनेवाले श्रीमान् गजेन्द्रका स्वाधीन गमन होता है उसी प्रकार परम अहिंसादानके दानी हे वीर जिन ! शमवादोकी रक्षा करते हुए आपका उदार विहार हुआ है ॥ १४२ ॥

143) हे वीर जिनदेव ! जो परमत है वह मधुर वचनोके विन्यासमे मनोज्ञ होता हुआ भी बहुगुणोकी सम्पत्तिसे विकल है, किन्तु आपका मत-शासन नयोंके भङ्ग रूप अलकारोसे अलंकृत है अथवा नयोकी भक्ति-उपासनारूप आभूषणोको प्रदान करता है और इस तरह बहुगुण-सम्पत्तिसे युक्त है, पूर्ण है और समन्तभद्र है।



# जिनशतकम्

1) कामस्थान-इष्टस्थान मोक्षको प्रदान करनेमे समर्थ श्रीमान् केवलज्ञान आदि लक्ष्मीसे सम्पन्न जिनेन्द्रदेवके पदसामीप्यको प्राप्त करके पापोंको जीतनेके लिए मैं उस स्तुतिविद्याकी प्रसाधना करना चाहता हूँ जो उत्तम कामस्थानको प्रदान करनेमे समर्थ है ॥ १ ॥

2) हे भव्यजनो! जिनेन्द्रदेवका जो अपरिमित गुणसमुद्र है, वह अत्यन्त निर्मल, गम्भीर, पवित्र, श्रीसम्पन्न और जगतका सारभूत है। तुम उसमे स्नान करो—एकाग्रचित्त होकर उसमे अवगाहन करो, उसके गुणोको पूर्णतया अपनाओ और फलस्वरूप शीघ्र ही शिवको-आत्मकल्याणको प्राप्त करो ॥ २ ॥

3-4) जो पीडारहित-अनन्तसुखसम्पन्न हैं, प्राप्त हुई-ज्ञानावरणकर्मके अत्यन्त क्षयसे उपलब्ध-केवलज्ञानरूपी बुद्धिसे सहित हैं, जिन्हे उपाय-उपगम्य-सेवनीक ( समझकर ) इन्द्र आदि श्रेष्ठ पुरुष नमस्कार करते हैं, जो पाप-कर्म मलसे रहित हैं, जो ससार समुद्रके पारको पा चुके है अथवा जिन्होने सब पदार्थ जान लिये हैं, जो शरणमे आये हुए भव्यपुरुषोको लक्ष्मीद्वारा विस्तृत करते है-केवलज्ञानादि लक्ष्मीसे युक्त करते है और जो उत्कृष्ट तथा अविनाशी मोक्षमन्दिरमे सदा निवास करते है, वे कल्याणप्रदाता जिनेन्द्र भगवान् भक्तिसे सन्मुख आये हुए मुझ भक्तकी सदा रक्षा करें, उनके भक्तिपूर्वक आराधनसे मै अपना आत्मविकास करनेमे समर्थ हो सकूँ ॥ ३-४ ॥

5-6) हे ऋषभदेव! आप नम्र मनुष्योकी सासारिक व्यथाओको हरने वाले है, शोकरहित हैं, आपका हृदय उत्तम है, लोककल्याणकारक भावनासे पूर्ण है। हे प्रभो! आप भामण्डल, सिंहासन अशोकवृक्ष पुष्पवृष्टि, मनोहर दिव्यध्वनि, श्वेतच्छत्र, चमर और दुन्दुभिनिनादसे शोभित होकर अनेक स्तोत्रोमे श्रम करनेवाले-मधुरध्वनिसे अनेक स्तुति करनेवाले तथा दर्दुर आदि-वाद्योंसे सहित दिव्यजनोंके-देवेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदिके साथ ( समवसरणभूमिमे ) आसीन-स्थित हुए थे और उन्हीके साथ आपने आकाशविहार किया था ॥ ५-६ ॥

7) हे प्रभो! यद्यपि आप समवसरणमे अनेक निर्विकार- कामेच्छासे रहित-सुन्दर देवियोके द्वारा सेवित होते हैं, बहुत देवियाँ आपकी उपासना करती है तथापि आत्मवान्-जितेन्द्रिय होनेके कारण आप महान्-पूज्य ही माने जाते हैं, अत निर्मल बुद्धिके उत्पन्न करनेवाले विधाता आप ही हैं ॥ ७ ॥

8) हे आर्य! यह समस्त लोक और अलोक आपके केवलज्ञानका ही ज्ञेय है-आपका केवलज्ञान लोकवर्ति समस्त पदार्थों और अलोकाकाशको जानता है-अत वह आपके ज्ञानरूप समुद्रका एक द्वीप है ॥ ८ ॥

9) हे प्रभो ! यद्यपि आप उदासीन हैं–रागद्वेषसे रहित हैं तथापि आपकी सेवा करनेवाले— विशुद्ध चित्तसे आपका ध्यान करनेवाले–पुरुष कल्याणको ही प्राप्त होते हैं और अहकारसे पूर्ण अथवा रागद्वेषसे पूर्ण अन्य कुदेवादिककी सेवा करनेवाले पुरुष अकल्याणको प्राप्त होते हैं। अत आप ही अर्चितेश्वर है ॥ ९ ॥

10) हे स्तुत ! आपकी स्तुति करनेवाला पुरुष पृथ्वीपर उन समवसरण-सभाओको पाकर अत्यन्त शोभित होता है जो सभाएँ अष्ट महाप्रातिहार्यरूप लक्ष्मीसे शोभित हैं, सगीतमय स्तोत्रोसे जिनका वर्णन किया जाता है, श्रेष्ठ पुरुषोके नमस्कारसे जो पूज्य हैं और जिन्होंने अपने वैभवसे अन्य सभाओको तिरस्कृत कर दिया है ॥ १० ॥

11-12) हे स्तुत्य ! हे दिव्यध्वनिरूप किरणोंसे शोभायमान सूर्य ! जो ज्ञानवान् पुरुष, विनाशको नष्ट करनेके लिए–अजर, अमर पद पानेके उद्देश्यसे, अविनाशी शोकरहित एव निर्बाध-प्रताप और केवलज्ञानसे सम्पन्न आपके लिए सम्यक् प्रकार शुद्ध भावोंसे नमस्कार करता है तथा सब कर्मोंको नष्ट करनेवाले आपके स्तवनमे तल्लीन होता है, वह दु खोको पाकर भी अन्तमे पुण्यस्वरूप-अविनाशी परमसुखको प्राप्त होता है ॥ ११-१२ ॥

13) हे भगवन् ! आपने विज्ञानवृद्धिकी प्राप्तिको रोकनेवाले इन ज्ञानावरणादि कर्मोंसे अपनी विशेष रक्षा की है–ज्ञानावरणादि कर्मोंको नष्ट कर केवलज्ञानादि विशेष गुणोको प्राप्त किया है तथा आप परिग्रहरहित–स्वतन्त्र हैं। इसलिए पूज्य और सुरक्षित है। एव आपने ज्ञानावरणादि कर्मोंके विस्तृत–अनादिकालिक सम्बन्धको नष्ट कर दिया है, अत आपकी विशालता-प्रभुता स्पष्ट है–आप तीनो लोकोके स्वामी है ॥ १३ ॥

14) हे भगवन् ! आपका यह मोक्षमार्ग उन्ही जीवोको प्राप्त हो सकता है जो कि पुण्यबन्धके सन्मुख हैं अथवा जिन्होंने पहले पुण्यबन्ध कर लिया है। समवसरणमे आपके चार मुख दिखाई देते हैं, आपका केवलज्ञान भी पूर्ण है–ससारके सब पदार्थोंको एक साथ जानता है। यद्यपि आप ममताभावसे–मोहपरिणामोसे रहित हैं तथापि ससार सम्बन्धी अनेक बडी-बडी व्याधियोको नष्ट कर देते हैं। हे प्रभो ! मेरे भी जन्म-मरणरूप रोगको नष्ट कर दीजिए ॥ १४ ॥

15) हे भगवन् ! आप स्वय माहात्म्यको प्राप्त हैं, आपका शरीर भी लक्ष्मीसे–अनुपम सौन्दर्य-से सहित है। अथवा आप कमलोपर विहार करते हैं और आपकी आज्ञा भव्यजीवोका हित करनेवाली है। हे प्रभो ! जो आपका गुणगान करता है, उसकी वाणीको महत्त्व प्राप्त होता है—उसकी वाणी अनेक अतिशयोसे पूर्ण होती है अत मै भी आपके चरणकमलोको–उनके गुणोको विस्तृत करता हूँ, उनकी स्तुति करता हूँ ॥ १५ ॥

16) उत्तम, अविनाशी और जरारहित हे अजित प्रभो ! आप क्षमा आदि गुणोसे वर्धमान हैं, साधुपुरुषोंके अज्ञानअन्धकारको नष्ट करनेवाले हैं, विजयी हैं और काम-क्रोध आदि शत्रुओसे अजित हैं–काम-क्रोध आदि दोषोसे रहित हैं। हे दयालु देव ! वह दिव्य तेज–केवलज्ञान–मुझे भी दीजिए ( जिसके प्रतापसे आप परमपूज्य उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुए हो ) ॥ १६ ॥

17) समर्थ अथवा चतुर राजाओसे शोभित, केवलज्ञानसे सहित, और मोह-विकारसे शून्य, हे अजित देव ! आप आत्मीय जनोको बढाने वाले हैं–उन्नत पदपर पहुँचाने वाले है और महान् ऐश्वर्यसे सहित इन्द्र चक्रवर्ती आदि तथा काम-क्रोध आदि अन्तरङ्ग शत्रुओको जीतने वाले बडे-बडे मुनियोको अनुरञ्जित-आनन्दित करते हैं। हे प्रभो ! वह सम्यग्ज्ञान मुझे भी दीजिये जिसके प्रसादसे आप इस उत्कृष्ट दशाको प्राप्त हुए हो ॥ १७ ॥

18-19) जिनके पापबन्ध करानेवाली रागादिचेष्टाओका सर्वथा अभाव हो गया है और जिनकी अपार नयलक्ष्मीको भूमितलपर मिथ्यादृष्टि लोग प्राप्त नही हो सकते ऐसे इन्द्र, चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषोंके नायक, अद्वितीय पूज्य, हे शभव जिनेन्द्र ! आप सबके स्वामी हैं–रक्षक हैं, अत अपने दिव्य तेजद्वारा मेरी भी रक्षा कीजिये। मेरा आचार पवित्र और उत्कृष्ट है। मै ससारके दु खोसे डरकर शरीरके साथ आपके समीप आया हूँ ॥ १८-१९ ॥

20) हे मोहरहित शभव जिनेन्द्र ! आप अपनी अभिमत विशाल लक्ष्मीसे ही अमेयात्मा—अनन्तज्ञानी हुए हो। अत आप मुझे भी उत्तम पुण्य या सुखसे सहित वह धाम–स्थान, तेज अथवा ज्ञान प्रदान कीजिये जिसका कभी अन्त न हो ॥ २० ॥

21) अज्ञानान्धकारसे रहित हे अभिनन्दन जिनेन्द्र ! जो आपको नमस्कार करते हैं, उनकी आप रक्षा करते है। आप मोहसे रहित है, वन्दनाके ईश्वर है—सबके वन्द्य है, अनन्त चतुष्टय तथा अष्ट प्रातिहार्यरूप लक्ष्मीसे सहित हैं, अज है—भावी भवग्रहणरूप जन्मसे रहित है—और नेता हैं–मोक्षमार्गके उपदेशक है, अत मेरी भी रक्षा कीजिए–मुझे भी ससारके दु खोसे बचाइए ॥ २१ ॥

22) समृद्धि-सम्पन्न, अनन्त ऋद्धियोसे सहित और अन्तरहित हे अभिनन्दन स्वामिन् ! आपको नमस्कार करनेवाला पुरुष ( आपके ही समान सबका ) ईश्वर हो जाता है। जो बडी-बडी ऋद्धियोके धारी हैं, वे आपके विषयमे अनम्र नही है–आपको अवश्य ही नमस्कार करते है और जो आपकी स्तुति कर नम्र हुए है वे कभी नष्ट नही होते—अवश्य ही अविनाशी मोक्ष-पदको प्राप्त होते है ॥ २२ ॥

23) हे अभिनन्दन जिन ! आप अनन्त-चतुष्टयरूप समृद्धिसे सुशोभित है। जो समृद्धिशाली पुरुष प्रसन्नचित्त होकर अपनी विभूतिके साथ आपकी पूजा करता है—आपको नमस्कार करता है—वह अवश्य ही अनन्त हो जाता है—जन्ममरणसे रहित सिद्ध हो जाता है ॥ २३ ॥

24) हे मधुरभाषी अभिनन्दन जिन ! आप केवलज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न हैं। आपको पाकर ससारमे कोई भी जीव नष्ट नही हुआ—आपके चरणकमलोका आश्रय पानेवाला प्रत्येक प्राणी अवश्य ही अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त हो जाता है। ससारमे नष्ट वही हुआ है—जन्म-मरणके दु ख वही उठा रहा है—जिसने हृदयसे आपको नमस्कार नही किया। हे स्वामिन् ! जो आपको नमस्कार कर दुष्कर्मोंको नष्ट करता है वह अवश्य ही ज्ञानादि गुणोसे वर्धमान या सम्पन्न हो जाता है ॥ २४ ॥

25) हे सुमति जिनेन्द्र ! आप कर्मरूप शत्रुओको जीतनेवाले प्राणियोंके उपासनीय है। आप सदा उनका हित करनेवाले है। आपके द्वारा प्ररूपित आगम और आपकी चेष्टाएँ उत्तम हैं। आप अज हैं—जन्म-मरणकी व्यथासे रहित हैं, सबके स्वामी है। हे दानशील भगवन् ! मुझे भी मोक्षरूप कल्याण प्रदान कीजिए ॥ २५ ॥

26 ) हे विनाश और अविवेकसे रहित ! अथवा हे अविनाशी आर्जव धर्मसे सहित ! हे आर्य ! हे सर्वोत्तम ! हे अपरिमित-विशाल गौरवसे युक्त ! सुमतिदेव ! जिनका शरीर तपाये हुए सुवर्णके समान अत्यन्त गौरवर्ण है ऐसे आपके लिए मैं नमस्कार करता हूँ। आप मेरे जन्म-मरणके दु ख नष्ट कीजिए तथा ससारके दु खोसे मेरी रक्षा कीजिए ॥ २६ ॥

27 ) हे प्रभो ! आपके चरणकमल पूर्वसचित पापकर्मसे रहित हैं, आपत्तियोसे शून्य हैं, और अपरिमित लक्ष्मीके आधार हैं तथा आप स्वय भी अनुपम आभासे सहित हैं। सम्यग्ज्ञानके देनेवाले हे पद्मप्रभ जिनेन्द्र ! मेरे भी पापकर्म नष्ट कीजिए ॥ २७ ॥

28 ) हे विभो ! आप उत्तम कान्ति, भक्ति अथवा ज्ञानसे सम्पन्न जीवोंके देव हो—उनमें अत्यन्त श्रेष्ठ हो—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शत्रुओसे अजेय हो, अनन्त पदार्थोंका निरूपण करनेवाले हो अथवा ज्ञान-दर्शनादि गुणोसे विस्तृत और सीमारहित हो। हे पद्मप्रभदेव ! मैं आपको अन्तरहित अविनश्वर मानकर बडी धृष्टतासे नमस्कार करता हूँ और बडी धृष्टतासे ही आपकी पूजा कर रहा हू ॥ २८ ॥

29) हे भगवन् सुपार्श्व ! आप, स्तुति करनेवाले और निन्दा करनेवाले दोनोंके विषयमे समान हैं। रागद्वेषसे रहित हैं। सबको पवित्र करनेवाले हैं—सबको हितका उपदेश देकर कर्मबन्धनसे छुटानेवाले हैं। अत आप एक असहाय ( दूसरे पक्षमे प्रधान ) होनेपर भी नेताकी तरह सबके द्वारा आश्रयणीय हैं—सेवनीय है ॥ २९ ॥

30) हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! आप चन्द्रमा-जैसी प्रभासे सम्पन्न है, परन्तु चन्द्रमा और आपमे निम्नलिखित व्यतिरेक—विशेषताएँ हैं। आप सबके रक्षक हैं, सबको सुख देनेवाले है, परन्तु चन्द्रमा चकवा-चकवी आदिको दु ख देनेवाला है। आप अजेय है, किसीके द्वारा नही जीते जा सकते परन्तु चन्द्रमा राहुके द्वारा जीत लिया जाता है। आप तीनो लोको तथा अलोकमे भी प्रकाशमान रहते हैं, सब जगहके पदार्थोंको जानते हैं परन्तु चन्द्रमा सिर्फ पृथ्वी-मण्डलपर ही प्रकाशमान रहता है। आपकी शोभा अतिविस्तृत है, परन्तु चन्द्रमाकी शोभा सीमित है। आप क्षय-रहित है, किन्तु चन्द्रमा क्षयसहित है, कृष्णपक्षमे क्रम क्रमसे क्षीण होता जाता है। आप अमेय हैं, अपरिमित हैं अर्थात् आपके गुणोका कोई परिमाण नही है अथवा आप प्रमाणके विषय नही हैं, परन्तु चन्द्रमा मेय है, परिमित है, उसके १६ कलायें हैं तथा प्रमाणका विपय है, आप सूर्यमण्डलके दैदीप्यमान रहते हुए भी शोभायमान रहते हैं परन्तु चन्द्रमा सूर्यमण्डलके सामने शोभा-रहित हो जाता है ॥ ३० ॥

31) हे विभो ! आप चन्द्ररूप हैं, क्योकि जिस तरह चन्द्रमा उदय होते ही आकाशको प्रकाशित करता है उसी तरह आप भी केवलज्ञानके प्राप्त होनेपर-समस्त लोकाकाश और अलो-

काशको प्रकाशित करते है। चन्द्रमा जिस तरह हरिणके मनोहर चिह्नसे युक्त है उसी तरह आप भी मनोहर चिह्न जो 'अर्धचन्द्र' उससे युक्त है। चन्द्रमा जिस तरह सोलह कलाओका आलय है उसी तरह आप भी केवलज्ञान आदि अनेक कलाओके आलय-स्थान हैं। चन्द्रमा जिस तरह कुमुदो-नीलकमलोको विकसित करता हुआ उदित होता है उसी तरह आप भी कु-पृथिवी-गत समस्त जीवोंके आनन्दको वढाते हुए उदित हुए हैं-उत्पन्न हुए है और चन्द्रमा जिस प्रकार कमलाप्रिय है—(कमल + अप्रिय) कमलोका शत्रु है—उन्हे निमीलित कर देता है उसी प्रकार आप भी कमलाप्रिय हैं—केवलज्ञानादि लक्ष्मीके प्रिय हैं।

इस श्लोकमे विशेषण सादृश्यसे अष्टम तीर्थंकरको चन्द्रमा वतलाया गया है। श्लोकगत समस्त विशेषणोंसे जैसे अष्टम तीर्थंकर और चन्द्रमामे सादृश्य सिद्ध किया गया है वैसे ही उन दोनोमे वैसादृश्य—व्यतिरेक भी सिद्ध होता है। इस पक्षमे श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा-

हे भगवन् ! आप चन्द्रमाकी तरह शोभायमान हैं अवश्य, परन्तु आपमे उसकी अपेक्षा नीचे लिखी हुई विशेषताये हैं—चन्द्रमा सिर्फ आकाश-विवरको प्रकाशित करता हुआ उदित होता है, परन्तु आप अखिल विश्वको प्रकाशित करते हुए (द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा) अनादि-कालसे उदित ही है। चन्द्रमाका चिह्न कृष्ण है-कलङ्करूप है, जिससे वह कलङ्की कहलाने लगा है परन्तु आपका चिह्न अर्धचन्द्र अत्यन्त मनोहर है अथवा आपके शरीरमे जो १००८ सामुद्रिक चिह्न हैं वे भी अत्यन्त सुन्दर है। चन्द्रमा कलालय है—अपनी कलाओका लय-विनाश लिये हुए है परन्तु आप केवलज्ञान आदि कलाओके आलय—घर हैं। चन्द्रमा कुमुद्-कुत्सित-वैपयिक मुद् हर्पको अथवा दुर्जन पुरुपोके हर्पको ( पक्षमे कुमुद पुष्पको ) वृद्धिगत करता है परन्तु आप उत्कृष्ट आत्मीय आनन्दको अथवा समस्त पृथ्वीगत-जीवधारियोंके आनन्दको वृद्धिगत करते है—वढाते हैं। चन्द्रमा उदित होकर अस्त हो जाता है परन्तु आप हमेशा उदित ही रहते हैं—आप कभी अस्तमित नही होते। चन्द्रमा कमलोको अप्रिय है—विरोधी है परन्तु आप कमलोंके अप्रिय नही हैं ( पक्षमे कमला—अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीके-प्रिय-पति हैं )। हे भगवन् ! इस तरह आप अनोखे चन्द्रमा है ॥ ३१ ॥

32) हे प्रभो ! आप चन्द्रमाके समान शोभायमान हैं अवश्य, परन्तु आपमे और उसमे भारी भेद है। आप केवलज्ञानरूप तेजके स्थान हैं—तेजस्वी है, परन्तु चन्द्रमा तेजसे रहित है। आप तिरोधानसे रहित है—ससारके किसी भौतिक पदार्थसे आपका आवरण नही होता, परन्तु चन्द्रमा मेघ आदिसे आवृत हो जाता है—छिपा लिया जाता है। आप विमल हैं—कर्ममल-कलङ्कसे रहित है परन्तु चन्द्रमा समल है—कलङ्कसे सहित है। आप अक्षय हैं—आपके केवलज्ञानादि गुणोका कभी नाश नही होता, परन्तु चन्द्रमा क्षय-सहित है—उदय होनेके वाद अस्त हो जाता है। आप अदोपाकर हैं—दोपोकी आकर (खानि) नही हैं। आपने क्षुधा तृपा आदि अठारह दोप नष्ट कर दिये हैं परन्तु चन्द्रमा ऐसा नही है, वह दोपाकर है अनेक दोपोकी खान है ( ससारी पुरुप जो ठहरा ) पक्षमे दोपा—रात्रिको करनेवाला है। आपने असर्वज्ञरूप ताराओको अस्तकर दिया है—आपके लोकालोकावभासी सर्वज्ञत्वके सामने ससार-के अन्य अल्पज्ञ—हरिहरादि-प्रभावरहित हो जाते हैं परन्तु चन्द्रमा अपनेसे हीनद्युति-ताराओको अस्त नही कर सकता। आप सकल हैं—सम्पूर्ण है अथवा केवलज्ञान, सद्वक्तृत्व आदि अनेक

कलाओसे सहित हैं—परन्तु चन्द्रमा विकल है—अपूर्ण है—कलाओंसे रहित है। आपका उदय महान् है—आप एक स्थानमें स्थित होते हुए भी अपने ज्ञानगुणसे ससारके समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं—परन्तु चन्द्रमाका उदय सीमित है—वह चल फिरकर सिर्फ थोडेसे पदार्थों-को प्रकाशित कर पाता है ॥ ३२ ॥

33) हे भगवन्! जिस अत्यन्त दु ख देनेवाले मोहरूप अन्तरङ्ग और सघन अन्धकारको नष्ट करनेके लिए हजार किरणोको धारण करनेवाला सूर्य भी समर्थ नही है, उस अन्धकारको आप जडमूलसे नष्ट कर देते है ॥ ३३ ॥

34) हे भगवन्! सूर्यकी किरणोका समूह दुष्ट उलूकके लिए अन्धकार रूप परिणत होता हैं तथा सबको सन्ताप करनेवाला होता हैं परन्तु हमेशा प्रकाशमान रहनेवाला आपकी किरणो अथवा वचनोका समूह न तो किसीको अन्धकाररूप होता है और न किसीको सन्ताप देनेवाला होता है—आपके वचनोंसे सबका अज्ञान अथवा मोहरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है और सबको आनन्द होता है। सूर्यका काल रात्रिसे व्यवहित है परन्तु आपका काल अव्यवहित है—आप दिन-रात—हर समय प्रकाशमान रहते हैं। सूर्यके समयका मेघ आदि प्रतिपक्षी पदार्थोंसे घात हो जाता है, मेघ वृक्ष आदि पदार्थ सूर्य तथा उसके प्रकाशको ढक लेते हैं परन्तु आपके समयका सिद्धान्त ( दर्शन ) का घात ससारके अन्य किन्ही भी प्रतिवादियोद्वारा नही हो सकता। आपका स्याद्वाद सिद्धान्त अजेय है। सूर्य दिनमे भास्वत्–प्रकाशमान रहता है परन्तु आप सदा प्रकाशमान रहते है। अतएव हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र! आप सूर्यसे भी अधिक शोभायमान हैं ॥ ३४ ॥

35) सदा एक रूप रहनेवाले हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र! आप ऊर्ध्व-मध्य-पाताल लोकरूप विशाल–अपरिमित–कमलवनको विकसित करनेके लिए सूर्य हैं तथा सबके प्रधान और प्रियबन्धु हैं, अत आपको नमस्कार हो ॥ ३५ ॥

36) हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र! आपके चरणकमल सुन्दर समवसरणादि लक्ष्मी और नि श्रेयस आदि कल्याणको देनेवाले हैं, कान्तिसे बढे हुए हैं–कातिमान् हैं, अत्यन्त पवित्र है, अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग लक्ष्मीको वरने वाले है, प्रक्षालित हैं अथवा इन्द्र, चक्रवर्ती, योगीन्द्र और विविध लक्ष्मीवान् पुरुषोंके द्वारा प्रक्षालित हैं, कल्याण रूप हैं और अत्यन्त शुद्ध है। अत उन्हे नमस्कार करता हूँ ॥ ३६ ॥

37-38) जो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मीसे शोभायमान हैं, जो सबके द्वारा मेय–सेवनीय हैं और जो ( विश्वकी किसी अन्य शक्तिसे ) अपराजित है—जीते नही जा सके हैं, ऐसे अत्यन्त-श्रेष्ठ, जन्मरहित और सर्वप्रिय मोक्षलक्ष्मीके प्रसिद्ध नायक हे पुष्पदन्त जिनेन्द्र! आपके विषयमे की गई मन, वचन, कायकी छोटी-छोटी चेष्टाओसे—आपके चिन्तवन-स्तवन तथा नमस्कारसे–प्राणियोको जिस श्रेष्ठ पुण्यका बन्ध होता है वह मात्र अनुमानसे सभावित होनेपर भी स्तुतिके योग्य ठहरता है। हे प्रभो! आप मुझे भी वह मोक्षसुख दीजिये जिससे फिर कभी वह सुख दु:ख-बद्ध न हो—दुखको प्राप्त न हो ॥ ३७-३८ ॥

39) हे शोकका क्षय करनेवाले ! हे व्याधियोंसे रहित ! हे आत्मज्ञानियोमे श्रेष्ठ ! पुष्पदन्त भगवान् ! आपके विश्वप्रकाशी केवलज्ञानमे ये तीनो लोक गोष्पदके—कीचडमे चिह्नित हुए गायके खुरके—समान जान पडते है ॥ ३९ ॥

40) हे गम्भीरहृदय पुष्पदन्त भगवान् ! आपका यह पवित्र मत-आगम आस्वादन किये जाने-पर—श्रवण, पठन, चिन्तन आदि किये जानेपर—प्रत्येकको आपके भक्त और विद्वेषी दोनो प्राणियोको—ज्ञानवृद्धि एव प्रीतिका देने वाला है, क्योकि अमृत आस्वादन किये जाने पर किस वुद्धिमान् को अच्छा नही लगता ? भले ही वह उससे द्वेष रखता हो ॥ ४० ॥

41) हे प्राणिलोचन ! प्रभो ! यह आश्चर्यकी बात है कि आप पृथिवीके—पृथिवीगत प्राणियोंके पक्षमे—ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गलोके—घातक होकर भी पालक है—रक्षक हैं—और शीतल–शीतगुण विशिष्ट—ठण्डे, पक्षमे—दशम तीर्थंकर शीतल होकर भी पावक–अग्नि, पक्षमें-पवित्र करनेवाले हैं ॥ ४१ ॥

42) हे भव्यजीवो ! तुम उस जिनेन्द्ररूपी क्षीरसमुद्रको प्राप्त कर यथेष्ट स्नान करो, कर्ममलको धोकर अपने आपको पवित्र बनाओ, जो कि तीनो लोकोमे श्रेष्ठ है, उत्सव अथवा तेजका स्थान है, विमल है, कर्ममल और कर्दम आदिसे रहित है, अत्यन्त है, विनाश-रहित और पार-रहित है, तथा गम्भीर है, धीरवीर और गहरा है ॥ ४२ ॥

43) हे तीर्थके आदिमे होनेवाले ! जरारहित ! श्रेयान्स भगवन् ! प्रयत्नपूर्वक समीपीकृत तथा मन, वचन, कायकी एकाग्रतासे की गई आपको पूजा सासारिक सन्तापको हरती है, पुण्यकी रक्षा करती है और अनेक कल्याण प्राप्त कराती है, अत आप ही जगत्के सर्वश्रेष्ठ नायक हैं ॥ ४३ ॥

44) हे सर्वज्ञ ! सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त होनेपर आपमे कभी अज्ञान नही था, आपके शरीरपर कभी आभूषण न थे तथा आपत्ति, शारीरिक व्यथा, मानसिक व्यथा, तरह-तरहके वेष, छल-कपट, पाप, क्रोध, अपराध तथा जन्म आदि कभी नही थे इस कारण आप ही सबके नायक है ॥ ४४ ॥

45) हे प्रभो ! हर्षपूर्वक पुण्य प्रदान करनेके लिये हमेशा प्रकाशमान और विस्तृत आपके चरणकमलोके मनोहर सौन्दर्यको देखकर उनसे उसे लेनेके लिये ही मानो ये तीन लोकके जीव आपको नमस्कार करते हैं ॥ ४५ ॥

46-47) हे वीतराग ! हे सर्वज्ञ ! आप सुर, असुर, किन्नर आदि सभीके लिये आश्रयणीय है, सेव्य हैं, सभी आपका ध्यान करते है, आप सबका हित करने वाले हैं अत हिताभिलाषीजन सदा आपको घेरे रहते है, आपकी भक्ति वन्दना आदि किया करते हैं। आपकी शरणको प्राप्त हुए भक्त पुरुष भयको नष्ट कर, निर्भय हो, हर्षसे रोमाञ्चित हो जाते है। आप पराग—कषाय-रजसे-रहित है। ज्ञानवान्-श्रेष्ठ पुरुषोसे सहित है, पूज्य हैं तथा रागद्वेषरूप सग्रामसे आपका वेग नष्ट हो गया है, आप रागद्वेषसे रहित है। मै आपके दर्शन मात्रसे ही आरोग्यता और निर्भयताको प्राप्त हो गया हूँ। हे श्रेयान्स देव ! मेरी रक्षा कीजिये ॥ ४६-४७ ॥

48) हे प्रभो ! जब देवोने आपका अभिषेक किया और भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि तीनो लोकोंके जीवोने आपकी सेवाकी तब ऐसा कौन होगा जो आपकी सेवा न करे ? हे वासुपूज्य ! आप मेरे विषयमे ईश्वरोंके ईश्वर है, मेरे लिए सर्वश्रेष्ठ ईश्वर आप ही हैं, अतः आप ही पूजनीय है। आप जैसे अर्हत्पुरुषसे भिन्न और कौन है जो मेरा स्वामी हो सके ॥ ४८ ॥

49) इन सर्वज्ञ वासुपूज्य स्वामीके चरणकमलोमे नमस्कार करनेवाला पुरुष निश्चयसे पुण्यवान् और उच्च होता हुआ अत्यन्त शोभायमान होता है। इनका शरीर यद्यपि एक मुखवाला है तथापि उसमे चारो ओरसे मुख दिखाई देते है—वह चतुर्मुख है तथा छाया-कान्तिसे (पक्षमे परछाईंसे ) रहित होकर भी अत्यन्त शोभायमान होता था ॥ ४९ ॥

50) हे भव्यजनो ! जो एक साथ सब पदार्थोंको जानते हैं, मगलरूप हैं, वुद्धिमानोंके पूज्य हैं, खेदरहित हैं, अनन्त शक्तिसे सहित हैं और इन्द्र, चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुष जिनकी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ऐसे अन्तरग वहिरग लक्ष्मीसे सहित इन विमलनाथ तीर्थंकरको पूजो तथा नमस्कार करो और उसके फलस्वरूप तत्क्षण उस कुशल अथवा सुखको बिना किसी रुकावटके प्राप्त करो जो कि वुद्धिमानोके द्वारा पूज्य है, परिश्रमसे रहित है और बड़े-बड़े पुरुष जिसकी निरन्तर चाह रखते हैं ॥ ५० ॥

51) जब कि पूजा और नमस्कार करनेसे भव्य पुरुषोको तत्क्षणमे अनेक कल्याण प्राप्त होते है—उनका ससार-भ्रमण तक रुक जाताहै, तब मैं भी अपने दु खोको नष्ट करने के उद्देश्यसे अत्यन्त हर्षित होता हुआ मृत्युरहित और समस्त अज्ञानको नष्ट करनेवाले उन विमलनाथ स्वामीकी शरणमे जाता हूँ उनकी पूजा और वन्दना करता हू जोकि सर्वोत्तम हैं, सर्वपूजित हैं, और परम अहिंसक हैं तथा मैं इसके विपरीत चतुर्गतिरूप ससारमें भ्रमण करनेवाला हूँ॥ ५१ ॥

52) हे पापरहित विमल जिनेन्द्र ! आप शरणमे आये हुये ससारी प्राणियोको विना किसी क्लेशके शरीर रहित अवस्था—सिद्धत्व पर्याय—प्राप्त करा देते हैं तथा आपको नमस्कार करनेसे प्राणी सबका स्वामी और नायक हो जाता है। अत हे भव्यजनो ! ऐसे इन विमल स्वामीको तुम भी नमस्कार करो ॥ ५२ ॥

53) हे प्रशसनीय क्षमासे युक्त ! हे अहकार-शून्य ! हे साधुपुरुषोकी पीडाको नष्ट करनेवाले ! हे कर्मशत्रुओके घातक ! हे सर्वश्रेष्ठ ! विमल स्वामिन् ! आप मुझे इस जन्ममरणरूप विनाशसे दूर कीजिए—मेरे जन्म-मरणके दु ख नष्ट कीजिए, जिससे मैं भी ( आपकी तरह ) उत्तम स्थानको—स्वात्मस्थितिरूप निर्वाणपदको—प्राप्त हो सकूँ ॥ ५३ ॥

54) हे अनुपम सौन्दर्यसे शोभायमान ! हे अष्ट महाप्रातिहार्यरूप विभूतिसे सम्पन्न ! हे सुर-असुरोंके द्वारा वन्दनीय ! हे उत्तम दिव्यध्वनिसे सहित ! हे इच्छित पदार्थोंके देने वाले ! हे अत्यन्त नम्र साधुपुरुषोंके रक्षक ! हे श्रेष्ठ ! हे क्षोभरहित ! समवसरण-समुद्रसे सयुक्त ! अनन्त-जिनेन्द्र ! मेरी रक्षा कीजिए—मुझे ससारके दु खोसे बचाइए ॥ ५४ ॥

55) एकान्तवादरूप समस्त असत्यको नष्ट करनेवाले ! सर्वश्रेष्ठ ! हे अनन्त जिनेन्द्र ! सिद्धपरमेष्ठीकी स्तुति करनेसे जिनके मुख पूज्य गिने जाते हैं और जो आपके चरणोमे नम्र रहते हैं, ऐसे इन्द्र, चक्रवर्ती आदि समस्त नायक-प्रधान पुरुष भी मोक्षप्राप्तिके लिए विना किसी क्लेशके—सहज स्वभावसे प्रेरित होकर—आपको नमस्कार करते हैं ॥ ५५ ॥

56) हे वाधा ( विनाश ) रहित ! हे इन्द्रियदमन अथवा क्षमासे वृद्ध ! हे पूज्य ! हे उत्तम क्षमा आदि धर्मोंके पूरक-धारक ! हे दिव्यध्वनिरूप ! धनसे सहित ! हे निर्दोष ! हे मोक्षरूप उत्तम सुखके देनेवाले धर्म भगवन् ! मेरे दु खको—जन्ममरणकी बाधाको नष्ट कीजिए ॥५६॥

57) हे नम्र-मनुष्योके रक्षक ! हे मत्कृत ( मेरे द्वारा की गई ) स्तुतिसे पूजित ! हे अविनाशी ! हे दुष्कर्मरूपी मलको नष्ट करनेवाले ! धर्म महाराज ! मेरी रक्षा कीजिए—मुझे ससारके दु खोसे बचाकर अविनाशी मोक्षपद प्रदान कीजिए। क्योकि आप महान् दाता हैं—सबसे बड़े दानी हैं और जन्म, जरा आदिको नष्ट करनेवाले हैं ॥ ५७ ॥

58) मै आपके उस अनुपम रूप-सौन्दर्यकी उपासना और स्तुति करता हूँ जो कि सब जीवोको आश्चर्य करनेवाला है, सदा उदयरूप रहता है, उत्तमताकी पराकाष्ठा है, आरूढ है, विनाशरहित है और मेरे मनरूपी दर्पणमे प्रतिबिम्बित हो रहा है ॥ ५८ ॥

59) हे भगवन् ! यदि कोई चाहे तो नावके द्वारा समुद्रोको पार कर सकता है, परन्तु स्तुतिरूप वचनोसे आपके गुणोको पार नही कर सकता, आपके गुण अनन्त हैं। यद्यपि यह निश्चित है तथापि भक्तपुरुष क्षणभरकी आपकी भक्तिसे अपने आपको पवित्र बना सकता है, आपकी भक्तिका माहात्म्य अचिन्त्य है ॥ ५९ ॥

60) हे नाथ ! जिस प्रकार पारस पत्थरके स्पर्शसे लोहा सुवर्णरूप होकर तेज धारण करता है और उसके फलस्वरूप अत्यन्त श्रेष्ठ हो जाता है उसी प्रकार भव्य पुरुष भी आपकी सेवासे आराधनासे अत्यन्त प्रत्यक्ष केवलज्ञानसे सहित होता हुआ विशुद्ध-सुस्थिर आत्मीय तेजको धारण कर लेता है तथा उसके वचन भी श्रेष्ठ हो जाते हैं ॥ ६० ॥

61) हे कल्प-समर्थ ! जहाँ सब अर्थों-प्रयोजनोकी सिद्धि-पूर्ति होती है ऐसी सर्वार्थसिद्धि नामक पृथिवीको पाकर गर्भ, जन्म आदि कल्याणकोसे सहित हो आप स्ववान्-आत्मवान् (पक्षमे धनवान्) हुए थे—उत्पन्न हुए थे तथा इसके बाद आपने अनन्तचतुष्टयरूप अपूर्व अर्थकी सिद्धिसे सहित होनेपर भी विहार किया था। ( हे भगवन् ! इन सब बातोसे स्पष्ट है कि 'परार्था हि सता चेष्टा'—सत्पुरुषोकी समस्त चेष्टाएँ परोपकारके लिए ही होती हैं ) ॥ ६१ ॥

62) हे देवोके देव ! यह पृथिवी आपके जन्म लेनेसे ही पूज्य मानी जाती है, इस विपयमे मुझे कुछ भी आश्चर्य नही है, क्योकि आपके जन्म लेनेसे पहले ही यह पृथ्वी रत्नवर्षा आदिके द्वारा धन्य गिनी जाने लगती है तथा लक्ष्मीसे सम्पन्न हो जाती है ॥ ६२ ॥

63) हे धीर ! हे स्थिर ! हे उदार ! आपके उत्पन्न होते ही सबसे पहले, समस्त देव और इन्द्रोने अद्भुत अन्यन्त उत्तुङ्ग एव शोभा-सम्पन्न मेरुपर्वतपर क्षीरसागरके जलसे आपका अभिषेक किया था यह आश्चर्यकी बात है ।। ६३ ।।

64) हे पूज्य ! अभिषेकके बाद इन्द्रोके समूहने जब आपके चरणकमलोको नमस्कार किया था, तब उनके मुकुटरूपी घटसे मनोहर किरणरूपी दुग्ध प्रकट हुआ था, उसमे आपके चरण-कमलोने मानो चिरकालतक स्नान किया था ।। ६४ ।।

65) हे भगवन् ! हम लोगोको अब तक सन्देह था कि मेरुपर्वतका ऐसा सुन्दर रूप कहाँसे आया ? क्या आपकी सगतिसे अथवा आपका वहाँ जन्माभिषेक होनेसे उसका वैसा सुन्दररूप हो गया ? या मूल्य देकर खरीदा गया अथवा किसी अन्य सुन्दर वस्तुका रूप उसमे सकीर्ण कर दिया गया—मिला दिया गया ? परन्तु अब हमे निश्चय हो गया कि मेरुका वह सुन्दररूप आपकी समतिसे आज्ञामात्रसे हो गया है, किसी दूसरी जगहसे नही आया है ।। ६५ ।।

66) हे भगवन् ! जिस भव्य जीवने आपको स्वामी मानकर अपने हृदयमे धारण किया है, वह पुण्यवान् क्यो न होगा ? अवश्य होगा । क्योकि मेरुपर्वत, आपके द्वारा अधिष्ठित होनेसे ही श्रीसम्पन्न और महान् हो गया था ।। ६६ ।।

67) हे प्रभो ! आप चक्रवर्ती हैं—राज्य अवस्थामे आपने चक्ररत्न हाथमे लेकर षट्खण्ड भरत क्षेत्रकी दिग्विजय की थी । इस क्रमसे आपके अविनाशी और महान् गुणरूपी मेरुपर्वतकी स्तुति करनेवाले कौन प्रसिद्ध पुरुष दिशा भूल हुए हैं, अर्थात् कोई भी नही ।। ६७ ।।

68) हे प्रभो ! यद्यपि आप समस्त परिग्रह और समस्त पृथिवी छोडकर दीक्षित हो गये थे तथापि आपने तीनो लोकोको अनुशासित किया था, लोकत्रयके समस्त प्राणी आपके उपदिष्ट मार्ग पर चलते थे । इसके अतिरिक्त आपने अशान्तिके कारणस्वरूप लोभको भी जीत लिया था, फिर भी आप लक्ष्मीवान् और विद्यावानोमे ईश्वर गिने जाते हैं ।। ६८ ।।

69) केवलज्ञानरूप शरीरसे आलिङ्गित तथा अनन्त बलसे सहित हे शान्ति जिनेन्द्र ! आपका यह परमौदारिक शरीर बडी महिमाको धारण करनेवाला है, क्षमारूप अलकारसे अलकृत है, सुन्दरताका स्थान है और शान्तिरूपता—सौम्यतारूप गौरवसे सहित है ।। ६९ ।।

70) हे स्वामिन् ! आप जिस समवसरणमे विराजमान हुए थे उसका विस्तार यद्यपि साढे चार योजनमात्र था तथापि उसमे भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी कल्पवासी मनुष्य तिर्यञ्च आदि तीनो लोकोके जीव पूर्णस्वके साथ बैठ जाते थे । और जो आपके समीप आकर आपका आश्रय लेते हैं, आपका ध्यान करते हैं वे शीघ्र ही आप जैसी उत्कृष्ट लक्ष्मीसे सुशोभित होते हैं आपके समान परमात्मपदको पा लेते हैं ।। ७० ।।

71) हे विद्वानोंके देव—सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता—सर्वज्ञ ! आप अन्य समस्त प्राणियोंके रक्षक और स्वामी हैं। आपने जिन नौ निधियोको तुच्छ समझकर अनादरके साथ छोड दिया या वे निधिया आपको छोडनेके लिए असमर्थ होकर मानो भयसे ही दूर-दूर निवास कर रही है ॥ ७१ ॥

72) हे परिग्रहरहित भगवन् ! यद्यपि समस्तपतिभाव–सर्वस्वामित्व आपमे और सूर्यमे समानरूपसे प्रकाशमान है—जिस तरह आप समस्त जगत्के स्वामी है, उसीतरह सूर्य भी समस्त जगत्का स्वामी है, फिर भी आप सूर्यके स्वरूपसे सगत नही है, सूर्य आपकी बराबरी नही कर सकता, क्योकि आपने अपने कर्मशत्रुओको सर्वथा नष्ट कर दिया है। इसलिए आप अहीनभावेन सगत, उत्कृष्टतासे सहित हैं। परन्तु सूर्यके अन्धकार आदि शत्रु अब भी विद्यमान हैं, गुफा आदि तिरोहित स्थानो तथा रात्रिमे अब भी अन्धकार रहा आता है। इसलिए वह 'हीनभावेन सगत' अनुत्कृष्टतासे सगत है। सूर्य ज्योतिष्क-देवोमे सबसे उत्कृष्ट–इन्द्र नही, किन्तु प्रतीन्द्र है, इसलिए आप समस्त पतिभावकी अपेक्षा 'इनभावेन सगत'—सूर्यके समान होनेपर भी शत्रुसद्भाव तथा हीनभावकी अपेक्षा उसके समान नही है ॥ ७२ ॥

73) हे प्रभो ! द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक अथवा नैगमादिक नय, नेवला, सर्प आदि प्राणी और वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुएँ ये सब तथा इनके सिवाय और भी जो पृथिवीपर परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, परस्परमे कभी नही मिलते, वे सब आपके प्रभावसे–माहात्म्यसे, एक साथ सगत हो गये थे, आपसके विरोधको भूलकर मिल गये थे तथा कितने ही अन्य कार्य देवोको ऋद्धिसे निष्पन्न किये गये थे ॥ ७३ ॥

74) हे भगवन् ! आप अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप अन्तरङ्ग विभूति तथा अष्ट प्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग विभूतिसे विभूषित हैं, साथमे निरम्बर भी हैं अर्थात् इतने निर्धन हैं कि आपके पास एक वस्त्र भी नही है। अत. आपको सुशोभित कहनेमे कुछ आश्चर्यसा मालूम होता है, परन्तु यह निश्चित है कि आप जिस प्रसिद्ध सिहासनपर आरूढ होते है, वह अत्यन्त सुशोभित होने लगता है। अत आपके सुशोभित होनेमे कोई आश्चर्य नही है ॥ ७४ ॥

75) हे स्वामिन् ! हे अजेय ! आप अपराध-रहित हैं—निष्पाप हैं, कामकी बढती हुई महिमाको नष्ट करनेवाले है, तीनो लोकोंके स्वामी हैं और जन्ममरणरूप संसारको नष्ट करने वाले है, अत हे शान्ति भगवन् ! आपको नमस्कार हो ॥ ७५ ॥

76) हे भगवन् ! आप अनेक रोग तथा पापोको नाश करनेवाले हैं। आपने अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट कर दिया है। आपकी बडी महिमा है। योगियोमे प्रसिद्ध गणधरादि देव आपकी पूजा करते हैं। आप खेद-स्वेद आदि दोषोको नष्ट करनेवाले हैं तथा अत्यन्त मृदुताको प्राप्त है। अतः आपको नमस्कार हो ॥ ७६ ॥

77) हे भगवन् ! आप पराभवको नष्ट करनेवाले हैं—आपका कोई पराभव नही कर सकता अथवा आपने आत्माका पराभव करनेवाले कर्मसमूहको नष्ट कर दिया है। आप नाशसे (मृत्युसे) रहित हैं, अलोकाकाश, चतुर्गतिभ्रमणके कारण कर्मपुञ्ज, तथा षड्द्रव्यात्मक पृथिवी-

लोकको जाननेवाले हैं, इन्द्रादिदेवो द्वारा प्रसिद्ध मेरुपर्वतपर की हुई पूजाको प्राप्त हैं और क्लेश, विनाश तथा जडताको नष्ट करनेवाले हैं। अत आपको नमस्कार हो ॥ ७७ ॥

78) दु खी मनुष्योकी वडी-बडी पीडाओको नष्ट करनेवाले तथा नय और प्रमाणोंके वचनरूप किरणोसे लोगोंके अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाले शान्तिजिनके लिए प्रयत्नपूर्वक इन स्तोत्रोको कहता हूँ ॥ ७८ ॥

79) हे स्वसमान—अपने ही समान आप गर्थात् उपमासे रहित ! हे शोभमान ! हे निष्पाप ! भगवन् ! आप मुझे समृद्धिसम्पन्न—ज्ञानदर्शनादिरूप आत्मसम्पत्तिसे पूर्ण युक्त कीजिए। मैं आपके चरणोमे आनत हूँ। मेरा मानसिक उद्वेग यद्यपि नष्ट नही हुआ तथापि नष्टमानके समान हो रहा है। अत मुझे अपने ही समान समृद्ध कीजिए ॥ ७९ ॥

80) हे भगवन् ! इस लोकमे सिद्ध होकर आप दु खरूप समुद्रमे डूबी और डूबनेवाली सन्तोकी सन्ततिके उद्धारके लिए ही मानो लोकाग्र सस्थानपर चले गये॥ ८० ॥

81) हे अनिज ! हे जन्म-मरणरहित कुन्थु जिनेन्द्र ! आप अत्यन्त शुद्ध हैं। जो पुरुष आपको नमस्कार करता है, वह पृथिवी-लोकमे सब तरहके रोगोंसे रहित होता है और परलोकमे मुक्तिको प्राप्त करता है अथवा स्वर्गमे उत्पन्न होता है ॥ ८१ ॥

82) हे भगवन् ! आप सब जीवोको आश्रय देनेमे समर्थ हैं। इस लोकमे जो पुरुष आपको नमस्कार करता है, वह अत्यन्त हीन होनेपर भी अतिगुरु-श्रेष्ठ हो जाता है। जब यह बात है तब हे प्रभो ! ऐसा कौन मूर्ख अथवा नीतिज्ञ होगा जो आपको नमस्कार कर आपके आश्रय अथवा शरणमे आना न चाहेगा ॥ ८२ ॥

83) विनम्रो द्वारा प्राप्य, ज्ञानियोंके स्वामी, दु खोके दूर करनेवाले, पापविनाशक, अज्ञान-शून्य, जरारहित—कुन्थुजिनेन्द्र ! मैं अत्यन्त शान्त होता हुआ आपको वन्दना करता हूँ ॥८३॥

84) हे प्रभो ! आपकी दिव्यध्वनि समुद्रकी गर्जनाके समान अत्यन्त गम्भीर है। आप समस्त पदार्थोंके जाननेवाले है। पापोंके नाश करनेवाले हैं। ज्ञानादिगुणोंमे वृद्ध हैं। क्षय-रहित हैं। हे भगवन् ! आपकी क्षमा अपार और अविनाशी है। इसलिए आप मुझ वृद्धको भी प्रसन्न कीजिए, सुशोभित कीजिए तथा पालित कीजिए ॥ ८४ ॥

85) नरकादि कुगतियोको निवारण करनेवाले, भक्तपुरुषोंके रक्षक, इष्टफलोंके देनेवाले, शूर-वीर अरजिन ! आप महान्से भी महान् है, श्रेष्ठ हैं और आपकी दिव्यध्वनि उस तरह सब जगह अप्रतिहत है जिस तरह समस्त आकाशमे व्याप्त होनेवाले बादलोमे जल रहता है। हे प्रभो ! आप मेरी तथा अन्य जीवोकी रक्षा कीजिए ॥ ८५ ॥

86) हे त्रिलोकपति अरजिन ! आप विनाश-रहित हैं, इन्द्रोंके भी इन्द्र हैं, शान्तरूप हैं, चारु-रुचि पुरुष आपकी स्तुति करते है, आप आहाररहित हैं, अज हैं, वडे-बडे पुरुष आपको

नमस्कार करते हैं, आप सबके स्वामी हैं और बुढापा तथा व्याधियोंसे रहित है। अत आप मेरी रक्षा कीजिए ॥ ८६ ॥

87) हे प्रभो! आप व्रतोंके स्वामी हैं अथवा व्रतोंसे शोभायमान हैं, इन्द्र-अहमिन्द्र आदि भी आपको नमस्कार करते है, आप समस्त रोगोको नष्ट करनेवाले है, उत्तम शोभाके स्वामी हैं और अविनाशी है। हे नाथ! मोक्ष सुखको विस्तृत कीजिए और मेरी रक्षा कीजिए ॥ ८७ ॥

88) हे उत्कृष्ट नायक, इन्द्रोंके इन्द्र, मायारहित अथवा स्वपर-प्रकाशकज्ञानसयुक्त इन्द्रियदमनरूप सयमसे शोभायमान, सत्यवादिन्, क्रीडा, पीडा, बुढापा तथा अहङ्कारसे रहित अरस्वामिन्! मुझे एकमात्र सुख-शान्तिको ही प्राप्त कराइए—ससारके दु खोसे छुडाकर पूर्ण सुख-शान्ति प्रदान कीजिए ॥ ८८ ॥

89) हे अरजिन! आप समस्त प्राणियोकी रक्षा करनेवाले है, उत्कृष्ट लक्ष्मीसहित है, निर्भय हैं, स्थिर हैं, अगाध-बुद्धिके धारक है, जरा-मरणसे रहित है, शूरवीर है, श्रेष्ठ और अविनाशी ज्ञानादि-सम्पत्तिसे युक्त हैं तथा अक्षर हैं—विनाशरहित है। अत मेरी भी रक्षा कीजिए—मै ससार-परिभ्रमणसे निवृत्त होना चाहता हूँ ॥ ८९ ॥

90) जिन्होने भव्य-पुरुषोके जन्म मरण आदि रोग नष्ट कर दिये है, जो हर एक समय अनन्त पदार्थोको जानते रहते हैं, जिनकी स्तुति करनेसे साधुपुरुष तीर्थंकर जैसे सातिशय पुण्यकर्मको प्राप्त हो जाते हैं तथा जिनका आगम दिव्य ध्वनि और ज्ञान सबसे विशाल है ऐसे मल्लितीर्थंकरको प्राप्त होकर हे भव्यजनो! नमस्कारपूर्वक उनकी स्तुति करो ॥ ९० ॥

91) हे मुनिसुव्रत स्वामिन्! आप क्षयरहित हैं, कर्मरूप शत्रुओको जीतनेवाले हैं, अनन्त हैं—अपरिमित गुणोसे सुशोभित है, नाशरहित हैं अथवा आहाररहित हैं, केवलज्ञानरूप स्थानमे स्थित हैं और प्रणत पुरुषोको बढानेवाले है—समृद्ध करनेवाले हैं। हे प्रभो! हमारी भी यह ग्लानि और रागादिरूप पापपरिणति दूर कीजिए ॥ ९१ ॥

92) हे भगवन्! आप परम पवित्र हैं—राग आदि दोषोंसे रहित हैं, आपकी दिव्यध्वनि और आपका केवलज्ञानरूपी तेज अजेय है—इन्हे कोई नही जीत सकता। आप अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, आपने छद्मस्थ अवस्थामे केवलज्ञान प्राप्त होनेके पहले—अनेक व्रतोको धारण किया था, आप क्षय रहित हैं, अनेक आश्चर्य-सहित हैं—ऋद्धियो और प्रातिहार्योंसे युक्त है—आपके समस्त पाप नष्ट हो गये हैं आप जिनेन्द्र हैं तथा सबके स्वामी हैं। हे मुनिसुव्रत भगवन्! हमारी भी सासारिक ग्लानि और पापपरिणतिको नष्ट कर दीजिए ॥ ९२ ॥

93) हे नमिजिन! आप अपरिमेय है—हमारे जैसे अल्पज्ञानियोंके द्वारा आपका वास्तविक रूप नही समझा जाता। आप सबके स्वामी हैं। आपका ज्ञान सब जीवोको प्रबोध करनेवाला है। आप किसीसे उसकी इच्छाके विरुद्ध नमस्कार नही कराते। आप वीतराग हैं और मोहरहित हैं। अत. आपको सदाकाल नमस्कार करता हूँ—हमेशा आपका ध्यान करता हुआ

आपकी स्तुति करता हूँ। प्रभो! मेरा—मुझ शरणागतका—भी सदा ध्यान रखिए—मै आपके समान पूर्णज्ञानी तथा मोहरहित होना चाहता हूँ ॥ ९३ ॥

94) प्रभो! जो आपको भक्ति-पूर्वक नमस्कार करता है, उसके आप सब रोग नष्ट कर देते है तथा जो ज्ञानादिलक्ष्मीसे रहित हैं—वस्तुत: निर्धन हैं—उनके भी समस्त सासारिक रोगोको नष्ट कर देते है। इसके सिवाय आप अत्यन्त सुन्दर हैं। हे नमिजिन! ज्ञान गुणको घातनेवाले तथा जीवके शुद्ध स्वरूपको नष्ट करनेवाले इन कर्मरूपी रोगोने मेरा समस्त प्रभुत्व अथवा स्वातन्त्र्य हर लिया है। अत आप मेरे हृदय-मन्दिरमे प्रवेश कीजिए, जिससे कि मेरी स्वतन्त्रता मुझे प्राप्त हो सके ॥ ९४ ॥

95) हे नमिजिन! आप पूज्य हैं, दयास्वरूप हैं अथवा दयासे शोभायमान हैं, अनेकान्तरूप सत्यवाणीके द्वारा ही आपका स्वरूप जाना जाता है। आपके उपदेशकी चर्चा मात्रसे समस्त भय नष्ट हो जाते है। आपने अनेकान्तके-परस्पर सापेक्ष नयवादके-द्वारा समस्त जगतको जीत लिया है। आपकी सब स्तुति करते हैं। विश्वकी कोई भी शक्ति आपको नही जीत सकती—आप अजेय हैं। इन्द्र, नरेन्द्र आदि असख्यात जीव आपको नमस्कार करते हैं। हे प्रभो! मेरे जन्म-मरणके दु खोको दूर कीजिए ॥ ९५ ॥

96) हे नमिजिन! आप भयरहित हो, महापुण्यवान् हो-तीर्थंकर नामकर्म-जैसी पुण्यप्रकृतिके उदयसे युक्त हो, पवित्र हो, दानशील हो, अत्यन्त उत्कृष्ट अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सेवित हो, मुनियोंके स्वामी हो, केवलज्ञानरूपी शुद्धिसे अमेय हो—आपका केवलज्ञान मानरहित है-अनन्त है। आप अनन्तवीर्यसे सहित हैं, यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। हे प्रभो! आपमे जो अनन्त आत्मीय सुख है, वह मुझे भी शीघ्र दीजिए ॥ ९६ ॥

97) मैं अहकार रहित, उत्कृष्ट एव सम्पूर्ण चारित्रके धारक, पूज्य और ज्ञानवान् मुनियोंके स्वामी भगवान् नेमिको मन-वचन-कायसे पुन पुन नमस्कार करता हुआ, उनकी निरन्तर स्तुति करता हूँ ॥ ९७ ॥

98) हे भगवन्! आपका यश अत्यन्त निर्मल है, आप अल्पज्ञानियोंके ज्ञानके अगोचर हैं—अल्पज्ञानी आपके वास्तविक रूपको नही समझ पाते, आप आर्य पुरुषोमे अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, इन्द्र अहमिन्द्र आदि प्रधानजनोके भी स्वामी हैं, व्रतियो—मुनियोके नाथ हैं और बडे-बडे उत्कृष्ट पडितजन भी आपकी स्तुति करते हैं। हे प्रभो! मुझे वह सर्वोत्कृष्ट मोक्षरूप सुख ही प्रदान कीजिए जिसके आप नायक हैं—अन्य वैषयिक सुखकी मुझे इच्छा नही है ॥ ९८ ॥

99) हे पार्श्व प्रभो! आप कर्मरूप शत्रुओको जीतनेवाले हैं, सबके स्वामी हैं, आपके चरण-कमल अत्यन्त शोभायमान हैं, सर्वत्र विजयको देनेवाले हैं और कठिनसे कठिन पापोका क्षय करनेके लिए समर्थ हैं। हे भगवन्! आपके चरणकमल हमारे अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करें ॥ ९९ ॥

100) हे पार्श्वजिन! आप ममतारहित हैं—पर पदार्थोंमे 'यह मेरा है और मैं इनका हूँ' ऐसा भाव नही रखते। आपका आगमरूपी अमृत अत्यन्त उत्कृष्ट है, आपका केवलज्ञान अत्यन्त

दिव्यध्वनिको धारण करनेवाले है और कर्मरूप शत्रुओको जीतनेवाले हैं। हे प्रभो ! मेरे हृदयमे विराजमान होकर मेरी रक्षा कीजिए ॥ १०८ ॥

109) हे श्रीवर्धमान ! अनेक भव्य जीवोने आपके विविध गुणोकी स्तुति की है, आप दु खोको नष्ट करनेवाले हैं, अन्तरहित है, आपने एकान्तवादरूप असत्यको नष्ट कर दिया है, गणधरादि देवोने आपकी कीर्तिको अत्यन्त विस्तृत किया है—आपके शासनका प्रचार कर आपका उज्ज्वल यश सब ओर फैलाया है। आप इन्द्र आदि उत्तम पुरुषोके नायक हैं, पूजित है और आपका मुख भी अत्यन्त प्रशसनीय है। हे पूज्य ! हम लोग सासारिक दु खोंसे पीडित है, अनेक व्याधियोंसे घिरे हुए हैं और आपके चरणोमे विनत हैं। आप हम लोगोको वह केवलज्ञानरूप महाविद्या प्रदान कीजिए जो कि जन्म-मरणको नष्ट करनेवाली है। हे प्रभो ! हमारे इन नये बँधनेवाले पापोको भी नष्ट कर दीजिए अर्थात् सवर और निर्जराकी पूर्ण कला सिखलाकर हमे शीघ्र बन्धन-मुक्त कीजिए ॥ १०९ ॥

110) हे भगवंन् ! जो आपको नमस्कार करते हैं, उनका ससार सम्बन्धी प्रचुर भय आपकी दिव्यध्वनिके माहात्म्यसे नष्ट हो जाता है। आप ज्ञानादिगुणोंसे हमेशा वढते ही रहते हैं, आपका गुणरूपी समुद्र बडा सुन्दर है। आप ससारी जीवोकी मुक्तिके कारण हो, कल्याणरूप हो। समस्तदेव आपके बंदी है—चारण हैं—सदा ही आपका गुणगान किया करते हैं। आप मनोवाछित वरोको देनेवाले हो। श्रेष्ठज्ञानी हो, बडे-बडे चतुर मनुष्य आपका स्तवन किया करते हैं, आप सर्वोत्कृष्ट हैं, ससारपरिभ्रमणको नष्ट करनेवाले हैं, पूज्य हैं, वन्दनीय हैं और पञ्च-परावर्तनरूप ससारसे रहित हैं। हे प्रभो ! भक्तिसे प्रणत होता हुआ मैं भी आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ११० ॥

111) हे भगवन् ! आपका अज्ञान नष्ट हो गया है, आप कर्ममलसे रहित है, जैनशासन अथवा अप्रतिहत आज्ञाके स्वामी हैं, मूर्च्छादिक परिग्रहसे रहित हैं। आपका ज्ञान अत्यन्त शोभायमान है, आप अत्यन्त पवित्र हैं, प्रकाशमान हैं, नमस्कारके मुख्य स्वामी हैं—इन्द्रादि सब प्रधान पुरुष आपको ही नमस्कार करते हैं। आप रोगरहित हैं, सज्जनोंके अधिपति हैं, अन्तरहित हैं, रक्षक हैं, अथवा अनन्त प्राणियोके रक्षक हैं और उत्तम जिनेन्द्र है। हे प्रभो ! आप नम्र मनुष्योकी रक्षा करते हुए, काम-क्रोध आदि अन्तरङ्ग शत्रुओको नष्ट करते हुए, नमस्कार करनेवालोको समृद्ध-सम्पन्न करते हुए और मुझको पवित्र—रागद्वेषसे रहित—करते हुए चिरकाल तक हानिविहीन केवलज्ञान-लोचनसे युक्त रहे ॥ १११ ॥

112) हे अत्यन्त सुन्दर ! हे अनन्तगुणोके धारक ! हे ज्ञानावरणादि—कर्मसमूहसे रहित ! हे इन्द्रोके द्वारा पूज्य ! हे अविनाशी ! हे समवसरणादि लक्ष्मीके धारक ! हे रागरहित ! हे द्वेषसे दूर रहनेवाले ! हे शोभायमान ! हे उत्तमवाणीके धारक ! हे स्वामिन् ! हे श्रेष्ठ ऋद्धियोके नायक ! हे रक्षक ! हे जरारहित ! हे मानसिक व्यथाओको हरनेवाले ! हे क्षोभरहित ! हे विद्वानोमे श्रेष्ठ ! हे गुरो ! हे नित्य ! श्रीवर्द्धमान जिनेन्द्र ! आप अपने भक्त जनोको भयकर निष्ठुर और दुर्धर—कष्टसाध्य रोगोसे रक्षित करते हुए मुझ चिरस्नेहीकी भी रक्षा कीजिए ॥ ११२ ॥

113) हे देवाधिदेव ! बुद्धि वही है जो आपका स्मरण करे—मस्तक वही है जो आपके चरणोमे नत रहे, जन्म वही सफल और श्रेष्ठ है, जिसमे ससार परिभ्रमणको नष्ट करनेवाले आपके चरणोका आश्रय लिया गया हो, पवित्र वही है जो कि आपके मतमे अनुरक्त हो, वाणी वही है जो कि आपकी स्तुति करे, और बुद्धिमान् पडितजन वे ही हैं जो कि आपके दोनो चरणोमे नत रहे ॥ ११३ ॥

114) हे भगवन् ! मेरी श्रद्धा केवल आपके ही मतमे है, मै स्मरण भी आपका ही करता हूँ, पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ भी आपको अजलि बाधनेके लिए ही हैं, मेरे कान भी आपकी कथा सुननेमे आसक्त है, मेरी आँखे केवल आपके रूपको देखती है, आपकी स्तुति करनेका ही मुझे व्यसन है और मेरा मस्तक भो आपको नमस्कार करनेमे तत्पर रहता है। हे केवलज्ञानके स्वामो ! इस तरह मैं आपकी सेवा करता हूँ। इसीलिए ससारमे मै तेजस्वी सुजन और पुण्यवान् ही हूँ ॥ ११४ ॥

115) जिनका स्तवन ससाररूप अटवीको नष्ट करनेके लिए अग्निके समान है, जिनका स्मरण दु खरूप समुद्रसे पार होनेके लिए नौकाके समान है, जिनके चरण भक्त पुरूषोंके लिए उत्कृष्ट निधीके समान है, जिनकी श्रेष्ठ प्रतिकृति सब कार्योकी सिद्धि करने वाली है और जिन्हे हर्ष-पूर्वक प्रणाम करनेवाले एव जिनका मङ्गलगान करनेवाले—नग्नाचार्यरूपसे - पक्षमे स्तुतिपाठक-चारण—रूपसे रहते हुए भी मेरी उन्नतिमे कुछ बाधा नही होती, वे देवोंके देव जिनेन्द्र भगवान् दानशील, कर्मशत्रुओपर विजय पानेवाले और सवके मनोरथो को पूर्ण करनेवाले हो ॥ ११५ ॥

116) जो इस समय परम पूज्य और विनाशरहित मोक्षस्थानको पाकर परम ऐश्वर्यका अनुभव कर रहे हैं, जिनको नमस्कार करने मात्रसे पूर्ण अनन्त सुख प्राप्त हो जाता है, जिनकी भक्तिसे यह जीव अधिक शान्तिको पाकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्ररूप मार्गके द्वारा स्वालयमे जाकर निवास करता है और इसके बडेसे बडे पाप नष्ट हो जाते है तथा सब रोग दूर हो जाते है। जो अपने पूजको—भक्तोंके लिए उत्तम भोग प्रदान करते है, वे देवाधि-देव जिनेन्द्र भगवान् मेरे लिए भी मोक्षरूप लक्ष्मी प्रदान करें ॥ ११६ ॥

## रत्नकरण्डकम्

1) जिन्होने अपनी आत्मासे सब पापोको नाश कर दिया है तथा जिनके ज्ञानमे अलोक सहित तीनो लोक दर्पणके समान प्रतिभाषित होते हैं, ऐसे श्रीवर्द्धमान स्वामीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

2) जो सब जीवो को ससारके दुखोंसे छुडाकर उत्तम सुखमें धारण करा दे, कर्मोंके नाश करनेवाले उस समीचीन धर्मका मैं उपदेश करता हूँ ॥ २ ॥

3) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्मके ईश्वर धर्म कहते हैं । यदि ये विपरीत होते हैं, तो ससारको बढानेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

4) यथार्थ देव, शास्त्र और गुरुका तीन मूढता रहित, आठ अग सहित और आठ मद रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ॥ ४ ॥

5) आप्तको निश्चयसे दोष रहित, सर्वज्ञ और आगमेशी होना चहिए अन्यथा आप्तता नही हो सकती ॥ ५ ॥

6) जिसके भूख, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, स्मय, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, आरति स्वेद, खेद, निद्रा, आश्चर्य और शोक, ये अठारह दोष नही होते है, वही आप्त कहा जाता है ॥ ६ ॥

7) वह आप्त परमेष्ठी, परज्योति, विराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ, आदि-मध्य-अन्त रहित, सार्व और शास्ता आदि नामोंसे कहे जाते हैं ॥ ७ ॥

8) शास्ता रागके बिना, अपना प्रयोजन न होने पर भी जीवोको हितका उपदेश देते हैं । शिल्पि-के करस्पर्शसे बजता हुआ मृदग क्या अपेक्षा रखता है ॥ ८ ॥

9) जो आप्त अर्थात् अरहतदेवका कहा हुआ हो, कोई भी जिसका उलघन न कर सके, जिसमे प्रत्यक्ष व परोक्षसे किसी प्रकारका विरोध न आये, जो तत्त्वोका उपदेश करनेवाला हो, सबका भला करनेवाला हो और जो कुमार्गका नाश करने वाला हो उसको शास्त्र कहते हैं ॥ ९ ॥

10) जो विषयोकी आशासे रहित हो, आरम्भ रहित हो, परिग्रह रहित हो और ज्ञान, ध्यान तथा तपमे सदा लीन रहता हो, वही तपस्वी प्रशसनीय है ॥ १० ॥

11) तत्त्व यही हैं, इसी प्रकार हैं, अन्य नही हैं, और अन्य प्रकार भी नही है, इस प्रकार सन्मार्गमे तलवारके पानीके समान निश्चल श्रद्धान करना नि शकित अग है ॥ ११ ॥

12) कर्मके आधीन अत सहित दु खोंसे मिश्रित और पापबोज सुखमें अनास्थारूप श्रद्धान नि.कांक्षित अंग है ॥ १२ ॥

13) स्वभावसे अपवित्र किन्तु रत्नत्रय गुणसे पवित्र धर्मात्माके शरीरमे ग्लानि नही करना, उसके गुणोमे प्रीति करना सम्यग्दर्शनका तीसरा अग निर्विचिकित्सा है ॥१३॥

14) दु.खोके खोटे मार्गकी अथवा खोटे मार्गमे स्थित व्यक्तिकी न मनसे सराहना करना, न शरीरके हस्त, मुखाकृति आदि चेष्टाओसे उसकी प्रशसा करना और न वचनसे उसकी स्तुति गुणगान करना सम्यग्दर्शनका चौथा अमूढदृष्टि अग है ॥ १४ ॥

15) रत्नत्रयमार्ग स्वय शुद्ध-निर्दोष है, यदि उसमे अज्ञानी और असमर्थ जनोद्वारा कोई निन्दा आदि दोष लगाया जाय तो उसका निराकरण करना उपगूहन अग है ॥ १५ ॥

16) यदि कोई धर्मात्मा पुरुष धर्म श्रद्धासे अथवा धार्मिक आचरणसे डिग रहा हो तो धर्ममे प्रेम रखनेवाले ज्ञानी पुरुषोद्वारा उसे उसमे स्थिर करना स्थितिकरण अग है ॥ १६ ॥

17) अपने साधर्मी बन्धुओंके प्रति सद्भावपूर्वक निश्छलभावसे यथायोग्य आदरभाव रखना वात्सल्य अग है ॥ १७ ॥

18) अज्ञानरूपी अन्धकारके फैलावको शक्तिपूर्वक दूर करके जिनशासनकी महिमाको प्रकाशित करना प्रभावना अग है ॥ १८ ॥

19,20) इन आठ अगोका जिन्होने पालन किया और लोकमे प्रसिद्ध हुए उनमे प्रथम अगमे अजन चोर, द्वितीयमे अनन्तमति, तृतीयमे उद्दायन, चौथेमे रेवती, पाँचवेंमे जिनेन्द्रभक्त, छठेमे वारिषेण, सातवेंमे विष्णु और आठवेमे वज्र कुमार प्रसिद्ध हुए। इनकी कथाएँ आचार्य प्रभाचन्द्रने इसी ग्रन्थकी रत्नकरण्डकटीकामे दी है। उन्हे जानना चाहिए ॥ १९,२० ॥

21) इन अगोमेसे एक भी अग कम हो तो सम्यग्दर्शन जन्मकी परम्पराके छेदन-नाश करनेमे उसी प्रकार असमर्थ है जिस प्रकार एक अक्षरसे रहित मत्र सर्पादिद्वारा काटे गये पुरुषकी वेदनाको दूर करनेमे असमर्थ है ॥ २१ ॥

सम्यग्दर्शनको आरम्भमे उसका स्वरूप बतलाते हुए अमूढ—मूढतारहित कहा गया है। वे मूढताएँ तीन है–१ लोकमूढता, २ देवमूढता और ३ पाखण्डिमूढता। सबसे पहले लोकमूढताका स्वरूप आचार्य कहते है।

22) धर्मबुद्धिसे नदी, समुद्रमे स्नान करना, बालू—रेत तथा पत्थरोका स्तूपाकार ढेर लगाना, पर्वतसे गिरना और अग्नि जलाकर उसमे प्रवेश करना ये सब लोकमूढ है ॥ २२ ॥

23) वरकी चाहसे आशाके वशीभूत होकर राग-द्वेषसे मलिन देवताओंकी उपासना करना देवतामूढ है ॥ २३ ॥

24) परिग्रहसे युक्त, आरम्भसे सहित और हिंसामे रत तथा ससाररूपी भवरमे फसे पाखण्डियों—साधुओ (गुरुओ) का धर्म (कल्याण) बुद्धिसे आदर-सत्कार करना पाखण्डिमूढ है ॥२४॥

25) ज्ञान, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, वल, सम्पत्ति, तपश्चर्या और शरीरसौन्दर्य इन आठका अभिमान करना मद कहा गया है जो इनका मद नही करता वह सम्यग्दृष्टि है ॥ २५ ॥

26) जो व्यक्ति उक्त आठ प्रकारके मदोमेसे किसी एकका भी मद करके दूसरे धर्मात्माओ का तिरस्कार करता है--उन्हे हीन समझता है। वह अपने धर्मका तिरस्कार करता है, क्योकि धर्म धर्मात्माओंके विना नही रहता ॥ २६ ॥

27) उक्त मदोको कैसे दूर करना चाहिए ? इस विषयमे ग्रन्थकार दिशाबोध करते हुए तीन कारिकाएँ प्रस्तुत करते हैं—यदि पाप-मिथ्यात्व नही रहा, तो अन्य वैभवसे कोई प्रयोजन नही और यदि पाप-मिथ्यात्वका आस्रव वना हुआ है तो अन्य वैभवके रहने पर भी उससे आत्म-हित नही हो सकता ॥ २७ ॥

28) चाण्डालका पुत्र होने पर भी यदि वह सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न है और मिथ्यात्वसे रहित है तो उसे 'देव' कहा गया है, क्योकि वह राख से आच्छादित अ गारके छिपे हुए तेजके सदृश है ॥ २८ ॥

29) धर्म (सम्यग्दर्शन) के प्रभावसे कुत्ता भी देव हो जाता है और अधर्म (किल्विष-मिथ्यात्व) के प्रभावसे देव भी कुत्तेकी पर्यायको प्राप्त हो जाता है। वास्तवमे जीवोंके धर्म (सम्यग्दर्शन) से बढकर अन्य कोई सम्पदा नही है। इससे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है और उसका कारण है—मद। सम्यग्दृष्टि बननेके लिए और मिथ्यात्वरहित होनेकेलिए आठों प्रकारके मदोको दूर करना आवश्यक है ॥ २९ ॥

30) निर्दोष सम्यग्दर्शनके पालकोको यह भी आवश्यक है कि वे किसी भयसे, चाहसे, स्नेह (प्रसन्नता) से और लोभसे कुदेव, कुशास्त्र और कुलिंगियो (कुगुरुओ) को न प्रणाम (नमस्कार) करें और न उनकी विनय करें ॥ ३० ॥

31) सम्यग्दर्शनकी सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे पूर्व साधना (उपासना) करना चाहिए, क्योकि सम्यग्दर्शन मोक्षके मार्गमें कर्णधार—खेवटिया है ॥ ३१ ॥

32) इतना ही नही, बल्कि सम्यग्दर्शनके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलप्राप्ति सभव है। और उसके न होने पर उनकी उसी प्रकार सम्भावना नही, जिस प्रकार बीजके अभावमे वृक्षकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलका लगना असम्भव है ॥ ३२ ॥

33) मिथ्यात्व-रहित गृहस्थ मोक्षमार्गमे स्थित है किन्तु मिथ्यात्वसे युक्त साधु (अनगार) मोक्ष-मार्गमे स्थित नही है। इसलिए मोही-मिथ्यात्वी मुनिसे मोह (मिथ्यात्व) रहित गृहस्थ श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

34) वास्तवमे सम्यक्त्व (सम्यक्दर्शन) के समान तीनो कालो और तीनो लोकोमे कोई वस्तु कल्याणकारी नही है और मिथ्यात्वके समान कोई अन्य वस्तु जीवोंके लिए अकल्याणकारी नही है ॥ ३४ ॥

35) सम्यग्दर्शनका माहात्म्य प्रकट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शनसे युक्त हैं वे व्रतरहित-अव्रती होकर भी नारकी, तिर्यञ्च, नपुसक और स्त्रीपर्यायको प्राप्त नही होते और न खोटे कुल, विकलाग, अल्पायु तथा दरिद्रपनेको प्राप्त होते है ॥ ३५ ॥

36) इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि ऐसे मानवतिलक-पुरुषशिरोमणि होते है, जो ओज (उत्साह) से, तेज (प्रताप) से, विद्या (बुद्धि) से, वीर्य (बल) से, यश (कीर्ति) से, वृद्धि (उन्नति) से, जय (विजय) से और विभव (वैभव)-ऐश्वर्यसे युक्त होते हैं, महाकुल—लोकपूजित उत्तम कुलोमे जन्म लेते हैं तथा महार्थ—उत्तम कार्य करने वाले एव विपुल सम्पत्तिके स्वामी होते हैं ॥ ३६ ॥

37) इसके अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्रके अनन्य भक्त होते हैं, आठ गुणोसे अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, ईशत्व, वशित्व, कामरूपित्व नामकी आठ दिव्यशक्तियोंसे तथा पुष्टिसे—अपने शरीरावयवोंके दिव्य सगठनसे सन्तुष्ट रहते हुए—सदा प्रसन्नताका अनुभव करते हुए और अतिशय शोभासे सम्पन्न होते हुए स्वर्गमे चिरकाल तक देव-देवाङ्गनाओ की सभामे आनन्दपूर्वक रहते हैं ॥ ३७ ॥

38) इतना ही नही- स्वर्गके भोगोको भोगकर सम्यग्दृष्टि नव निधियो और चौदह रत्नोंके स्वामी और सर्वभूमि-षट्खण्डपृथिवीके अधिपति होते हुए चक्र (सुदर्शन चक्र नामके आयुध-रत्नको प्रवर्तित करनेमे समर्थ होते हैं अर्थात् चक्रवर्ती सम्राट् होते हैं और उनके चरणोमे राजाओंके मुकुट झुकते हैं—मुकुटबद्ध मण्डलीक राजा उन्हे बड़ी विनयसे प्रणाम किया करते है ॥ ३८ ॥

39) सम्यग्दर्शनका और भी माहात्म्य बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते है कि सम्यग्दृष्टि, जिन्होने सद्दृष्टिसे पदार्थोंका अच्छी तरह निर्णय किया है, धर्मचक्रके धारक तीर्थंकर भी होते हैं, जिनके चरण-कमल देवेन्द्रो, असुरेन्द्रो (धरणेन्द्रो), नरेन्द्रो (चक्रवर्तियो) तथा गणधर-मुनीन्द्रों द्वारा स्तुत किये जाते है और जो लौकिक जनोके लिए शरणदाता होते हैं ॥ ३९ ॥

40) सम्यग्दर्शनकी शरणको प्राप्त सम्यग्दृष्टि जीव अन्तत. ऐसे मोक्षको प्राप्त होते हैं; जो जरारहित है, रोगमुक्त है, क्षयरहित है, बाधाओ और कष्टो से रहित है, शोकमुक्त है, भय-रहित है, शकाओंसे शून्य है, असीम सुख एव ज्ञानके ऐश्वर्यसे युक्त है और द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकारके कर्ममलोंसे रहित है ॥ ४० ॥

41) जिनेन्द्रकी भक्तिमे रत भव्य जीव (सम्यग्दृष्टि) अपरिमित देवेन्द्रोंके समूहकी महिमाको, पृथिवी-पतियो द्वारा प्रणम्य चक्रवर्तियोके चक्ररत्नको और सम्पूर्ण लोकको अपना उपासक बनाने वाले धर्मेन्द्रचक्र—तीर्थंकर पदको प्राप्त कर अन्तमें शिवपदको प्राप्त करता है ॥ ४१ ॥

42) न कम, न अधिक, विपर्ययसे रहित और बिना सन्देहके जो जैसाका तैसा यथार्थ ज्ञान होता है उसे शास्त्रज्ञोने सम्यग्ज्ञान कहा है ।। ४२ ।।

43) सम्यग्ज्ञान यहाँ मोक्ष-मार्गका प्रकरण होनेसे श्रुतज्ञान विवक्षित है । उसके चार भेद हैं—१ प्रथमानुयोग, २ करणानुयोग, ३ चरणानुयोग और ४ द्रव्यानुयोग । इनमे प्रथमानुयोग वह है जिसमे पुण्य और पापरूप अर्थका आख्यान—कथन किया जाता है, पुण्य पुरुषोका चरित और कथाएँ वर्णितकी जाती हैं तथा जो रत्नत्रय एव समाधिका निदान—कारण है ऐसा सम्यक् बोध प्रथमानुयोग को जानता है—बतलाता है ।। ४३ ।।

44) जो लोक-अलोकके विभागका, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी आदि युग परिवर्तनका और चारों गतियोका दर्पणकी तरह यथार्थ ज्ञान कराता है वह करणानुयोग है ।। ४४ ।।

45) गृहस्थो और गृहत्यागी मुनियोके चरित्रकी उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षाका अग है अथवा इन तीनोका प्रकाशक जो सम्यग्ज्ञान है वह चरणानुयोगश्रुत है ।। ४५ ।।

46) जो जीव और अजीव इन दो समीचीन तत्त्वोको, पुण्य और पापको तथा बन्ध और मोक्षको अपने श्रुतज्ञानरूप प्रकाशकेद्वारा प्रकाशित करता है वह द्रव्यानुयोगश्रुतरूप दीपक है ।। ४६ ।।

47) दर्शनमोहरूप अन्धकारके हट जानेपर सम्यग्दर्शनके लाभपूर्वक जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है वह साधु-भव्यात्मा राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए चारित्र—हिंसादिकी निवृत्तिको स्वीकार करता है ।। ४७ ।।

48) वस्तुत हिंसादिकी निवृत्ति हो जानेपर ही राग-द्वेष की निवृत्ति होती है । जिसे धनादि अर्थ और वृत्ति—आजीविकाकी अपेक्षा नही है वह कौन पुरुष है जो राजाओकी सेवा-चाटुकारिता करेगा । अर्थात् वह उनकी सेवा नही करेगा । तात्पर्य यह कि हिंसा आदि पापोको छोड देनेपर राग-द्वेष सुतरा छूट जावेंगे । उन्हे छोडनेके लिए किसी अन्य उपायकी आवश्यकता नही ।। ४८ ।।

49) हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुनसेवन और परिग्रह ये पाँच पापकी नालियाँ हैं—पापके अनेक द्वार हैं । इनसे विरक्त होना सम्यग्ज्ञानीका चारित्र है । अर्थात् इनसे विरत होना सम्यक्चारित्र है ।। ४९ ।।

50) वह चारित्र दो प्रकारका है—१. सकलचारित्र और २ विकलचारित्र । समस्त परिग्रहोंसे विरतो—साधुओके सकलचारित्र होता है—वे हिंसादि पापोका पूर्णतया त्याग कर देते हैं और जो परिग्रहो से युक्त सागार—गृहस्थ हैं उनका विकल—एकदेशचारित्र होता है । तात्पर्य यह कि पापोके त्यागका नाम सम्यक्चारित्र है और वह एक देश और सर्वदेश रूपसे किया जाता है । गृहत्यागी मुनि उन पापोका त्याग सर्वदेश (मन, वचन और काय) से करते

हैं। अतः उनका चारित्र सकलचारित्र कहा जाता है तथा गृहस्थ उन पापोका त्याग एकदेश ( मुख्यतया काय ) से करते है। अत उनका वह त्यागचारित्र विकलचारित्र कहा गया है ॥ ५० ॥

51) गृहस्थोका चारित्र तीन प्रकार का है—१ अणुव्रतरूप, २. गुणव्रतरूप और ३ शिक्षाव्रतरूप। इनमे अणुव्रतरूप चारित्र पाच तरहका, गुणव्रतरूप चारित्र तीन प्रकारका और शिक्षाव्रतरूप चार प्रकारका है। ऐसा क्रमश कहा गया है ॥ ५१ ॥

52) हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुनसेवन और मूर्च्छा (ममत्व परिणामरूप परिग्रह) इन पाच स्थूल पापोंसे विरक्त होना अणुव्रत है। अर्थात् इन पाचो पापोका एकदेश त्याग करना अणुव्रत है ॥ ५२ ॥

53) इनका क्रमशः स्वरूप बतलाते हैं। सकल्पपूर्वक काय, वचन और मनरूप तीन योगो तथा कृत, कारित और अनुमोदन से जो त्रस (दो इन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय) जीवोको नही मारता—उनका घात नही करता उसे ज्ञानी जनोने स्थूल हिंसासे विरमण—अहिंसाणुव्रत कहा है ॥ ५३ ॥

54) इसके पाच अतिचार—दोष हैं—१ उक्त त्रस जीवोके अगोका छेदन करना, २ रस्सी आदिसे एक स्थानपर बाधना, ३ दण्ड, चाबुक आदिसे उन्हे पीडा पहुँचाना, ४ शक्तिसे अधिक उनपर बोझ लादना, और उनके आहार-पानीको रोकदेना ये स्थूलहिंसात्यागव्रतके पांच दूषण हैं ॥ ५४ ॥

55) स्थूल झूठको न बोलना, न दूसरेसे बुलवाना तथा जो सत्य विपदाका निमित्त बने उसे भी न स्वय बोलना और न दूसरेसे बुलवाना उसे सन्तजन स्थूलमृषावादविरति—सत्याणुव्रत कहते हैं ॥ ५५ ॥

56) निन्दा करना, गोपनीय बातको प्रकट करना, यहाँकी वहाँ, वहाँकी यहाँ बातको कहना—चुगली करना, कपटपूर्ण लेखादि लिखना और धरोहरके अशको छिपाना ये पाच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं ॥ ५६ ॥

57) किसी अन्यके रखे हुए, गिरे हुए, भूले हुए अथवा छूटे हुए द्रव्यको न स्वय ग्रहण करना और न उठाकर दूसरेको देना, उसे स्थूल चोरीसे विरतिव्रत—अचौर्याणुव्रत कहते है ॥ ५७ ॥

58) चोरीका उपाय बताना, चोरीके द्रव्यको लेना, दूसरोकी सम्पत्तिको हड़प जाना या नुकसान पहुँचाना, अनुचित लाभ उठानेकेलिए अधिक मूल्यकी वस्तु ( घृतादि ) मे कम मूल्यकी समान वस्तु ( तैलादि ) को मिलाना—मिलावट करना और लेने-देनेके मापो ( बाट, तराजू, गज, नापनेकी वस्तुओ ) को कम-बढ रखना ये पाच अचौर्याणुव्रतके पाच अतिचार ( दोष ) है ॥ ५८ ॥

59) जो पापके भयसे न स्वयं परायी स्त्रियोका सेवन करता है और न दूसरेको उनके सेवनकी प्रेरणा करता है वह परदार-निवृत्ति नामका चौथा अणुव्रत है। इसीका दूसरा नाम स्वदार-सन्तोष भी है ॥ ५९ ॥

60) अपने तथा स्वजनोसे भिन्न अन्योके पुत्र-पुत्रियोका विवाह कराना, कामसेवनके निर्दिष्ट अगोको छोडकर अन्य अंगोसे कामक्रीडा करना, भण्डपनेको लिए हुए काय-वचनकी चेष्टा करना, कामसेवनकी तीव्र लालसा रखना और पर पुरुषोंके साथ रमण करने वाली व्यभिचारिणी या वेश्या स्त्रियोके साथ काम-सेवन करना ये पाच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार हैं ॥ ६० ॥

61) धन ( रुपया-पैसा, आभूषण आदि ) और धान्य ( अनाज आदि ) बाह्य परिग्रहका परिमाण करके उनसे अधिक पदार्थोमे निःस्पृह होना परिग्रह-परिमाणव्रत है। इसीका दूसरा नाम इच्छापरिमाण भी है ॥ ६१ ॥

62) अधिक लाभकी इच्छासे बहुत वाहन ( बैलगाड़ी, ट्रक, बस आदि ) चलाना, धन-धान्य आदिका अधिक सग्रह करना, दूसरोके लाभादिको देखकर अधिक आश्चर्य ( विषाद ) करना, और अधिक लाभकी लालसा रखना और लोभके वश किसी ( दास-दासी, घोड़ा, बैल आदि ) पर अधिक भार लादना ये पाच परिग्रह परिमाणव्रतके अतिचार हैं ॥ ६२ ॥

63) जो इन पाच अणुव्रतोको, जो निधिस्वरूप है, अतीचार-रहित ( उक्त अतिचारोको न लगाते हुए ) निर्दोष पालन करते हैं वे सुरलोकको प्राप्त होते हैं, [जहाँ जन्म लेते ही अवधिज्ञान, अणिमा-महिमा आदि आठ गुण ( ऋद्धिया ) और दिव्य ( रोगादि-रहित उत्तम ) शरीर ये सब उन्हे उपलब्ध होते हैं ॥ ६३ ॥

64) इन पांच अणुव्रतोंका पालन करनेसे मातङ्ग ( इस नामका एक चाण्डाल ) अहिंसाणुव्रतमे, धनदेव ( सेठ ) सत्याणुव्रतमे, वारिषेण ( राजकुमार ) अचौर्याणुव्रतमे, नीली ( इस नामकी एक वणिक पुत्री ) ब्रह्मचर्याणुव्रतमे और जय ( राजा ) परिग्रहपरिमाणव्रतमे प्रसिद्ध होकर उत्तम एवं विशेष पूजा-सम्मानादि प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए हैं ॥ ६४ ॥

65) इसके विपरीत धनश्री ( सेठानी ) हिंसामे, सत्यघोष ( पुरोहित ) असत्यमे, तापस ( एक साधु ) चोरीमे, आरक्षक ( कोट्टपाल अब्रह्ममे और श्मश्रुनवनीत ( मूछोपर लगे मक्खनसे व्यापार करनेका अभिलाषी ) परिग्रहमे प्रसिद्ध होकर लोकनिन्दाको प्राप्त हुए ॥ ६५ ॥ इनकी कथाऐं इस ग्रन्थपर प्रभाचन्द्र द्वारा लिखी टीकामे द्रष्टव्य हैं।

66) श्रमणश्रेष्ठों ( श्रीजिनेन्द्रो ) ने मद्य, मास और मधु इन तीनके त्यागके साथ उपर्युक्त पांच अणुव्रतोको गृहस्थोके आठ मूलगुण कहे हैं। इन मूलगुणोका पालन उन्हे आवश्यक है ॥ ६६ ॥

67) सन्त जनोने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण इन तीनको अणुव्रतोकी वृद्धि करनेसे गुणव्रत कहा है ॥ ६७ ॥

68) दशों दिशाओ-विदिशाओका आने जानेका परिमाण करके 'उससे बाहर नही जाऊगा' इस प्रकारका सूक्ष्म पापोंकी निवृत्तिके लिए, मरण पर्यन्तसकल्प-व्रत ग्रहण करना दिग्व्रत है ॥ ६८ ॥

69) इस व्रतमे दशो दिशाओंमे आनेजानेके लिए लोक-प्रसिद्ध समुद्र, नदी, वन, पर्वत, देश और योजनोकी मर्यादा कही गयी है ॥ ६९ ॥

70) जो गृहस्थ दिग्व्रत की मर्यादा के भीतर स्थूलपापविरतिरूप अणुव्रतोका पालन करता है उसके वे अणुव्रत ही मर्यादाके बाहर पाँचो पापोंके सर्वथा त्यागरूप महाव्रतपनेको प्राप्त होते हैं ॥ ७० ॥

71) ली हुई मर्यादाके बाहर दिग्व्रतधारीके प्रत्याख्यानावरणकषायके कृशहो जानेके कारण उसके चारित्रके घातक परिणाम अत्यन्त मन्द हो जाते हैं वे जानने मे नही आते फिर भी वे उसके परिणाम महाव्रत जैसे कहे गये है, क्योंकि वहाँ उसके न स्थूल पाप हैं और न सूक्ष्म—दोनों प्रकारके पापोंसे निवृत्ति रहती है ॥ ७१ ॥

72) प्रश्न उठता है कि महाव्रत किसे कहते हैं ? ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि हिंसा आदि पाचो पापोका मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदनासे त्याग कर देना महाव्रत है और वह महात्माओ-प्रमत्त सयत आदि गुणस्थानवर्ती मुनियोंके होता है ॥ ७२ ॥

73) इस व्रतके पाच अतिचार हैं–१. ऊपरकी दिशासम्बन्धी मर्यादाका उल्लघन, २. नीचेकी दिशा सम्बन्धी मर्यादाका उल्लघन, ३ दिशाओ-विदिशाओकी सीमाका उल्लघन, ४. क्षेत्रकी मर्यादाको बढा लेना तथा ५ की हुई मर्यादाओंको भूल जाना ये दिग्व्रतके पाच दोष हैं ॥ ७३ ॥

74) जो दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर निष्प्रयोजन पापमय प्रवृत्तियोंसे विरक्त होना उसे व्रत-धारियोमे अग्रणी तीर्थंकर आदिने अनर्थदण्डव्रत कहा है ॥ ७४ ॥

75) पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसादान, अपध्यान और दुःश्रुति ये पाच भेद अनर्थदण्डके निष्पाप महानुभावोने बतलाये हैं। इनसे विरक्त होनेके कारण इस व्रतके पाच भेद हैं ॥ ७५ ॥

76) तिर्यंचोको क्लेश पहुँचाने वाले व्यापारकी, उनकी हिंसा करनेकी, उनके द्वारा खेती आदि आरम्भ करनेकी, उन्हे झासा देकर पकडने आदिकी कथाओके प्रसगको छेडना पापोपदेश नामका पहला अनर्थदण्ड है ॥ ७६ ॥

77) फरसा, तलवार, गेतो, कुदाली, अग्नि, हथियार, विष, सांकल आदि हिंसासाधनोको दूसरोंके लिए देना हिंसादान नामका दूसरा अनर्थदण्ड है ॥ ७७ ॥

78) द्वेषभावसे किसोको मारने-पीटने, बांधने, उसके अगोको छेदने आदिका और रागभावसे परस्त्री-परधन आदिका निरन्तर खोटा चिन्तन करना उसे जिन शासनके विशेषज्ञोने अपध्यान नामक तीसरा अनर्थदण्ड वतलाया है ॥ ७८ ॥

79) व्यर्थके आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मान और कामके प्रतिपादनादि द्वारा चित्तको मलिन करनेवाले शास्त्रोका सुनना व पढना दुःश्रुति नामक चौथा अनर्थदण्ड है ॥ ७९ ॥

80) पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायुके निरर्थक आरम्भको—विनाही प्रयोजन पृथ्वीके खोदने जलके बहाने, अग्निके जलाने, वायुके पखे आदिद्वारा उत्पन्न करने-ताडने-रोकनेको, व्यर्थ पेड-पौधे-टहनी-पत्ते आदिको तोडनेको और विना प्रयोजन इधर-उधर भ्रमण करने-कराने ( घूमने-घुमानेको ) प्रमादचर्या नामका पाचवा अनर्थदण्ड कहते हैं ॥ ८० ॥

81) राग-मिश्रित हसी-ठट्ठे और मजाक उडानेका भण्ड वचन बोलना, उक्त वचनके साथ शरीरकी कुचेष्टा करना, वहुत अधिक बोलना, वकवाद करना, भोगोपभोगकी सामग्रीको आवश्यकतासे अधिक जुटाना और प्रयोजनका विचार न करके कार्यको अधिक रूपमे कर डालना ये पांच अनर्थदण्डव्रतके अतीचार है ॥ ८१ ॥

82) दिग्व्रत और परिग्रह परिमाण व्रतमे ली हुई सीमाके भीतर भी प्रयोजन वाले पदार्थोंमे रहनेवाले रागो तथा आसक्तियोको कम करनेके लिए इन्द्रियोंके विषयोका अमुक काल तक सेवन करने और न करने का परिमाण करना भोगोपभोग परिमाणव्रत है ॥ ८२ ॥

83) प्रश्न उठता है कि भोग और उपभोग किसे कहते है ? इसका उत्तर देते हुए स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि पाचो इन्द्रियोके विषयोमे जिन्हें एक बार भोगकर छोड दिया जाता है उन्हें भोग और जिन्हें बार-बार भोगा जाता है उन्हे उपभोग कहते हैं। जैसे भोजन पानी आदि भोग है, क्योकि उन्हे एक बार ही भोगा जाता है। तथा वस्त्र, मकान आदि उपभोग हैं क्योकि उन्हे वार-वार भोगा जाता है—उन्हे उपयोगमे लिया जाता है ॥ ८३ ॥

84) त्रसजीवोकी हिंसाका परिहार करनेके लिए मधु और मासका तथा प्रमाद ( चित्तकी असावधानता, अपनेको भूल जाना, विवेकका नाश होना ) को दूर करनेके लिए मद्यका त्याग जिनेन्द्रकी शरणमे आये लोगोको कर देना चाहिए ॥ ८४ ॥

85) इसके सिवाय उन्हें कम सुख और अधिक हिंसा होनेके कारण मूली आदि, गीले-सचित्त अदरक आदि, मक्खन, नीमके फूल और केतकीके फूल इन सबका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ ८५ ॥

86) इसके अतिरिक्त जो वस्तु प्रकृतिके प्रतिकूल है—हानिकारक है उसे भी वे त्याग दें तथा जो अनिष्ट न होते हुए भी अनुपसेव्य है—उनके सेवन योग्य नही है उसे भी छोड देना चाहिए। क्योकि योग्य विषयसे संकल्प (नियम) पूर्वक विरत होना व्रत है ॥ ८६ ॥

87) भोग और उपभोगकी वस्तुओका त्याग नियम और यम इन दो प्रकारसे किया जाता है। नियम तो कुछ कालकी मर्यादाको लिए हुए होता है और यम जीवन पर्यन्तके त्यागको लिए हुए होता है—धारण किया जाता है। ये नियम और यम दोनो व्यक्तिकी शक्ति और सुविधाको दृष्टिमे रखकर कहे गये हैं। व्यक्ति व्रती जीवन बनाकर आत्महित (रत्नत्रय-धारण) करे, यह ग्रन्थकारका शुभाशय है ॥ ८७ ॥

88-89) भोज्य पदार्थों, सवारीकी चीजो, सोनेके साधनो, स्नानके प्रकारो, शरीरमे रागवर्धक केसर-चन्दनादिके विलेपनो तथा मिस्सी-अजनादिके प्रयोगो, फूलोंके उपयोगो, ताम्बूलवर्गकी वस्तुओ, वस्त्राभूषणोंके प्रकारो, कामक्रीडाओ, सगीतो—नृत्य-वादित्रयुक्त गायनो और सामान्य गीतोमे आज अमुक समय तक दिनको, रात्रिको, पक्षभरके लिए, एक महीने तक, दो महीने तथा ऋतु विशेष पर्यन्त, दक्षिणायन, उत्तरायन अथवा छह माह पर्यन्त इत्यादि रूपसे कालकी मर्यादा करके उनका त्याग करना 'नियम' कहलाता है ॥ ८८, ८९ ॥

90) पचेन्द्रियोंके विषयरूपी विषसे उदासीन न होना, भोगो और उपभोगोको छोड देनेपर भी पुनः उनका बार-बार स्मरण करना, वर्तमान भोगोपभोगोमे अतिलालसा रखना, भावी भोगोपभोगोकी अतिगृद्धताके साथ आकाक्षा करना और भोगे जाने वाले भोगो और उपभोगोको अत्यासक्तिके साथ भोगना ये पाच भोगोपभोगपरिमाणव्रतके पाँच अतीचार हैं ॥ ९० ॥

## शिक्षाव्रत

91) देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं ॥ ९१ ॥

92) दिग्व्रतमे परिमाण किये गये विशाल क्षेत्रका कालकी मर्यादाको लेकर जो प्रतिदिन सकोच करना—घटाना है वह अणुव्रतधारी श्रावकोका देशावकाशिक शिक्षाव्रत है ॥ ९२ ॥

93) किसी घर, किसी रमणीक उपवन आदि, किसी गाँव, किसी खेत, किसी नदी, किसी वन और कोश—चारकोश तक जाने-आनेकी सीमाको बांधना देशावकाशिक व्रतकी क्षेत्र-विषयक मर्यादा कही गयी है—स्मरणयोग्य है ॥ ९३ ॥

94) एक वर्ष, एक ऋतु, एक अयन, एक माह, चार माह, एक पक्ष, एक नक्षत्रके उदयकालको प्राज्ञोने देशावकाशिकव्रतकी काल-मर्यादा बतलाई है ॥ ९४ ॥

95) इस देशावकाशिक व्रतके धारण करनेसे सीमाओंके भीतर और बाहर दोनो ही क्षेत्रोमे स्थूल तथा सूक्ष्म पापोका त्याग हो जानेसे इस देशावकाशिकके द्वारा व्यक्ति महाव्रतोको साधता है—उनका उसे फल प्राप्त होता है ॥९५ ॥

96) देशावकाशिक व्रतमे स्वीकृत देश तथा कालकी मर्यादाके बाहर स्वय न जाकर वहाँ किसीको भेजकर कार्य करना, वहाँसे वस्तुओको मँगाना, मर्यादास्थलपर पहुँचकर आवाज

देना, अपना रूप दिखाना तथा ककण-पत्थर आदि फेंककर इशारा करना ये पाँच इस व्रतके अतीचार हैं ॥ ९६ ॥

97) अमुक कालकी समाप्ति पर्यन्त हिंसादि पाँचो पापोका सम्पूर्ण (मन, वचन, काय) रूपसे देशावकाशिक व्रतकी क्षेत्रमर्यादाके भीतर और बाहर सर्वत्र त्याग करना आगमके ज्ञाताओने दूसरा सामायिक शिक्षाव्रत कहा है ॥ ९७ ॥

98) सामायिकके कालकी मर्यादा बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि आगमके ज्ञाताओंने केशबन्धन, मुष्टिबधन, वस्त्रबन्धन, पर्यङ्कबन्धन और खडे होकर अथवा बैठकर कायोत्सर्ग (शरीरादिसे ममत्वत्याग) करना इनको सामायिकका समय कहा है अर्थात् इस प्रकारका अनुष्ठान (क्रियाविशेष) सामायिकव्रतका बाह्याचार है ॥ ९८ ॥

99) यह सामायिक कहाँ किया जाना चाहिए, इसे बतलाते हुए कहा है कि वनोमे मकानोमे तथा चैत्यालयोमे अथवा पर्वतकी गुफा आदिमे जो उपद्रव (बाधा) रहित एकान्त स्थान हो वहाँ इस सामायिकको प्रसन्न चित्तसे स्थिर होकर बढाना (करना) चाहिए ॥ ९९ ॥

100) सामायिकमे दृढता लानेके लिए आचार्यमहोदय कुछ महात्त्वपूर्ण निर्देश देते हुए कहते हैं कि उपवास या एकाशनके दिन व्यापार और मनकी व्यग्रतासे रहित होकर तथा अन्तरंगके विकल्पोको छोडकर इस सामायिकको दृढ करना चाहिए ॥ १०० ॥

101) इसकी क्या उपयोगिता है, इसे भी बतलाते है कि यह सामायिकव्रत अहिंसा आदि पाँचो अणुव्रतोका पूरक है। अतः इसे न केवल पर्व-दिनोमे, अपितु प्रतिदिन सावधान होकर और आलस्यका त्यागकर यथाविधि, जैसे भी हो, बढाना चाहिए—सचयन करना चाहिए ॥ १०१ ॥

102) इस सामायिक व्रतका महत्त्व बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि सामायिकमे सभी आरम्भो और परिग्रहोका अभाव रहता है—किंचिद् भी उनका सद्भाव नही रहता। अत. उस समय गृहस्थ. वस्त्रद्वारा उपसर्ग किये गये मुनिकी तरह मुनि-अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

103) सामायिकमें जब गृहस्थ स्थित हो, उस समय वे मौन धारण करें और शीत, गर्मी, डास-मच्छर आदिकी बाधा तथा उपसर्गको भी निश्चलभावसे सहन करें ॥ १०३ ॥

104) सामायिकमे श्रावक इस प्रकार ध्यान करे—चिन्तन करें कि मैं चतुर्गति-भ्रमणरूप संसारमे चिरकालसे बस रहा हूँ, जो अशरण है—उसमे विनाशसे रक्षा करने वाला कोई नही है, अशुभ है, अनित्य है, दुःखरूप है, आत्मस्वरूप नही है और मोक्ष उससे विपरीत स्वरूप वाला है—वह शरणरूप, शुभरूप, नित्यरूप, सुखस्वरूप और आत्मस्वरूप है ॥ १०४ ॥

105) वचनका दोषयुक्त प्रयोग करना, शरीरका असत् प्रयोग करना, मनका अन्यथा प्रयोग करना--खोटा चिन्तन करना, अनादर (अनुत्साह) करना और सामायिककी विधि या पाठको भूल जाना ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रतके अतीचार है ॥ १०५ ॥

106) चतुर्दशी और अष्टमीको सदिच्छापूर्वक चारो—अन्न, पान, खाद्य और लेह्यरूप आहारोका त्याग करना प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है ॥ १०६ ॥

107) उपवासके दिन पाँचो पापो, अलकरण, खेती आदि आरम्भो, इत्र फुलेल आदि गन्ध-द्रव्योंके लेपनादि, पुष्पोंके सूंघने, स्नान करने, आँखोमे अजन आंजने और सुँघनी आदि पदार्थोंका परिहारकर देना चाहिये ॥ १०७ ॥

108) उपवासके दिन क्या करना चाहिए, इसका भी आचार्य निर्देश करते हैं—उपवासके दिन आलस्यरहित होकर उपवास करने वालेको स्वय उत्कण्ठापूर्वक धर्मरूप अमृतको दोनो कानोसे पीना चाहिए और दूसरोको पिलाना चाहिए अर्थात् सुनना-सुनाना चाहिए। तथा स्वाध्याय और ध्यानमे रत रहना चाहिए ॥ १०८ ॥

109) ऊपर कहे 'प्रोषधोपवास' मे दो पद दिये गये हैं—१ प्रोषध और २ उपवास। इन दोनोके अर्थको बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि चारो प्रकारके आहारोका परित्याग-करना उपवास है और एक बार भोजन करना प्रोषध है तथा उपवास करके जो आरम्भ (भोजन-पारणा) का आचरण करना है वह प्रोषधोपवास है ॥ १०९ ॥

110) उपवासके दिन भूख-प्याससे पीडित होकर शीघ्रतादिवश जीव-जन्तुकी देख-भाल किये विना योग्य रीतिसे झाडे-पोछे जो किसी चीजका ग्रहण करना-उठाना, धरना और विछाना तथा उस दिनकी विधेय क्रियाओके प्रति अनुत्साह रखना और उन्हें भूल जाना या व्यतिक्रमसे करना ये पाँच प्रोषधोपवासव्रतके अतीचार हैं ॥ ११० ॥

111) सम्यग्दर्शन आदि गुणोके निधि, गृहत्यागी तपस्वी-साधुके लिए बदलेमे कुछ प्राप्त करने की इच्छाके बिना धर्मके निमित्त शक्ति पूर्वक जो आहार आदिका दान देना है उसे वैयावृत्य कहते हैं ॥ १११ ॥

112) केवल आहार आदिका दान देना ही वैयावृत्य नही है अपितु उनके गुणोमे अनुराग रखते हुए उनके कष्टो, रोगों और उपसर्गोको दूर करना, उनके पैरोको दबाना तथा और भी उनका जो और जितना उपकार है वह सब भी करना वैयावृत्य है ॥ ११२ ॥

113) दाता, दान और पात्र इन तीनोकी विशेषताओको बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते है कि नवधा भक्ति[1] पूर्वक देय द्रव्य दान है, सप्तगुणोसे[2] सहित, मनशुद्धि, वचन शुद्धि और कायशुद्धि

१ पडिगहणमुच्चठाण पादोदकमच्चण च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य णवविह पुण्ण ॥

२ श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्ति. ।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातार प्रशंसन्ति ॥

(शरीर शुद्धि) से युक्त व्यक्ति दाता होता है और पाँच अप सूनाओ[१] तथा खेती आदि आरम्भोका जिन्होने त्याग कर दिया है और पूर्ण सयम धारण कर लिया है वे उत्तम पात्र हैं ऐसे पात्रो को दिया गया आहारादि द्रव्य दान कहा गया है ॥ ११३ ॥

114) गृहत्यागी अतिथियो ( साधुओ ) की दानादिरूपसे की गयी पूजा-भक्ति घरके पच-सूनाओ एव आरम्भोसे उत्पन्न एव सचित गृहस्थोके पाप कर्मको उसी प्रकार दूर कर देती है जिस प्रकार जल वस्त्रादि मे लगे रुधिर—रक्तको धो डालता है ॥११४॥

115) ज्ञान-ध्यान-तपमे लवलीन मुनिजनो को प्रणाम—'नमोऽस्तु' करनेसे उच्च गोत्र, आहारादि दान देनेसे भोग, उपासना करनेसे लोक सम्मान, भक्तिसे सुन्दर रूप और स्तुतिसे यश की प्राप्ति होती है ॥११५॥

116) दानका महत्त्व बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि जैसे अल्प भी बडका बीज जमीनमे समयपर डाल देने पर बहुत छाया और मीठे बहुत फलोको देता है उसी प्रकार पात्रमे दिया गया अल्प भी दान गृहस्थोको बहुत विभव और स्वर्गादिके मीठे फलोको प्रदान करता है ॥११६॥

117) आहार, औषध, उपकरण ( पीछी, कमण्डलु, शास्त्र ) और आवास ( वसतिका आदि स्थान ) का तपस्वियोको दान देनेसे वैयावृत्यविज्ञ पुरुषोने चार प्रकारका कहा है ॥११७॥

118) उक्त चार प्रकारके वैयावृत्य ( दान ) मे प्रसिद्ध होनेवाले श्रीषेण, वृषभसेना, कौण्डेश और शूकरके दृष्टान्त क्रमशः जानना चाहिए। आहारदानमे श्रीषेण, औषधदानमे वृषभसेना, शास्त्रदानमे कौण्डेश और आवासदानमे शूकरकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं ॥११८॥

119) इच्छित फलको देनेवाले और इच्छाओको नाश करनेवाले देवाधिदेव। श्री अरहन्तदेवके चरणोमे बडे आदर एव भक्तिके साथ नित्य पूजा करना चाहिए, जो सब दुःखोको हरनेवाली है ॥११९॥

120) राजगृह नगरमे हर्षोन्मत्त मेढकने एक फूलसे अर्हन्त देवके चरणोकी पूजाके माहात्म्यको सत्पुरुषोंके समक्ष प्रकट किया था। जिन-पूजाके करनेका कितना महत्त्व है, यह उसमे ढकने बतलाया ॥१२०॥

121) हरे ( सचित्त ) पत्र-पुष्पादिसे ढके आहार आदिको देना, हरे पत्रादिकपर रखकर आहारादिको देना, दान देनेमें अनादर ( अनुत्साह ) रखना, दानकी विधिको भूल जाना और दूसरे दाताओंसे ईर्ष्याभाव करना ये पाँच वैयावृत्य, अतिथिसविभाग व्रतके अतीचार हैं ॥१२१॥

---

१ खडनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी प्रमार्जनी।
पचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्ष न गच्छति ॥
—टीकामें प्रभाचन्द्र

122) जिसके निवारणका कोई उपाय नही, ऐसे उपसर्ग, दुष्काल, बुढापा और रोगके उपस्थित होनेपर जीवनमे परिपालित धर्म ( श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ) की रक्षाके लिए शरीरका विधिपूर्वक त्याग करना सल्लेखना ( समाधिमरण ) है ॥१२२॥

123) जीवनके अन्त समयमे समाधिमरणपूर्वक शरीर छोडना, इसे सर्वज्ञदेवने तपका फल कहा है। अत. अपनी जितनी शक्ति हो उसके अनुसार समाधिमरण ( सल्लेखना ) मे पूरा प्रयत्न करना चाहिए ॥१२३॥

124, 125) सल्लेखना लेनेवाले व्रतीके लिए आवश्यक निर्देश करते हुए आचार्य कहते हैं कि वह स्नेह ( प्रीति ), वैर ( द्वेषभाव ), सग ( सम्बन्ध ) और परिग्रह ( धन-धान्यादि बाह्य वस्तुओमे ममत्व परिणाम ) को छोडकर शुद्ध मनसे अपने रिश्तेदारो आदि और मित्रो पडोसियों आदिको प्रिय वचनोद्वारा स्वय क्षमा करे और उनसे भी अपनेको क्षमा करावे। इसके साथ ही स्वय किये, दूसरे से कराये और दूसरेको करते हुए देखकर उसका अनुमोदन किये समस्त पापोकी निश्छल भावसे आलोचना करके मरण पर्यन्तके लिए सम्पूर्ण महाव्रतोको आरोपित करे। वह गृहस्थ होता हुआ भी उनकी अपनेमे कल्पना करे ॥१२४, १२५॥

126) समाधिमरण ले लेनेपर वह शोक, भय, विषाद, क्लेश, कलुषता और द्वेष को भी छोडकर तथा बल और उत्साह को बढाकर अमृतोपम आगम वचनो ( स्मरणश्रवण चिन्तनादि ) द्वारा मनको प्रसन्न रखे ॥१२६॥

127-128) समाधिमरणकी विधि बतलाते हुए कहते है कि समाधिमरणमे क्रमश आहार (भोजन) को कम करते हुए वह पूर्णतया छूट जाये तो स्निग्ध दूध आदि पेयकी वृद्धि करे—उसे लेना शुरू करे। उसके बाद स्निग्ध पेयको भी छोडकर खरपान ( रूखे पेय-छाछ, काजी ) आदि लेवे और इसके पश्चात् उसे रूखे पेयका भी त्यागकर शक्ति-अनुसार उपवास करे और उपवास करते-करते अर्हन्तादि पचपरमेष्ठियोके ध्यानमे मनको लगाते हुए पूर्ण सावधानीसे—गृहीत व्रतोका निर्दोष पालन करते हुए शरीरको त्यागे ॥१२७-१२८॥

129) व्रतोकी तरह सल्लेखनाके भी अतीचार बतलाते हुए आचार्य कहते है—१ जीनेकी अभिलाषा, २ जल्दी मरने ( प्राणोको छूटने ) की इच्छा, ३ लोक-परलोकका भय, ४ मित्रो ( बन्धु-बान्धवो ) की स्मृति और ५ आगामी भोगोकी वाछा ये पाँच सल्लेखनाके अतीचार भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहे हैं ॥१२९॥

130) जो उपर्युक्त प्रकारसे श्रद्धा और ज्ञानके साथ बारह व्रतोका पालन और अन्त समयमे सल्लेखना धारण करता है वह समस्त दुःखोसे छुटकारा पाता हुआ सुख-समुद्ररूप, जिसका कोई तट नही—अन्तरहित है और जो दुष्प्राप्य है, नि श्रेयस् ( मोक्ष ) तथा अभ्युदय ( स्वर्गादि ) को प्राप्त करता है ॥१३०॥

131) जो जन्मो ( देहान्तर प्राप्तियो ), जराओ ( वृद्धावस्थाओ ), आमयो ( आधि-व्याधि-रूप रोगो ), मरणो, शोको, दुःखो और भयो तथा राग-द्वेष-काम क्रोधादि विकारोसे रहित, सदैव स्थिर रहनेवाला शुद्ध सुखरूप निर्वाण है, उसे निःश्रेयस् कहते हैं ॥१३१॥

132) निःश्रेयस ( मोक्ष ) मे व्रतधारी और अन्त समयमे समाधिमरणपूर्वक मरण करनेवाले केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तवीर्य, स्वास्थ्य, अनन्तसुख, सन्तोष और निर्विकारता इन गुणो-से युक्त होते हुए न्यूनाधिकतासे रहित अनन्तकाल तक सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥१३२॥

133) सैकडो कल्पकाल बीत जाने पर भी निःश्रेयसको प्राप्त सिद्धजीवोके कोई काम-क्रोधादि विकार नही होता, यदि तीनो लोकोको भ्रमानेवाला कोई उपद्रव भी हो जाय तब उनके कोई विकार सम्भव नही है—वे अपने स्वरूपमे ही सदा अवस्थित रहते है ॥१३३॥

134) जो निःश्रेयस—निर्वाणको प्राप्त होते है वे कीट और कालिमासे रहित कान्तिवाले सुवर्ण-के समान देदीप्यमान होते हुए तीन लोकके चूडामणिकी शोभाको धारण करते हैं—सर्वश्रेष्ठ बन जाते हैं ॥१३४॥

135) निर्दोष व्रतोका पालन और समाधिपूर्वक हुआ मरण अभ्युदयको प्राप्त कराता है। वह अभ्युदय कैसा है, इसे आचार्य बतलाते है कि पूजा-सम्मान, धन, आज्ञाका स्वामित्व, बल, परिजन ( सेवकगण व बन्धुजन ) इच्छाओ और भोगोकी प्रचुरता जहाँ आश्चर्यकारी है और लोकको चमत्कृत करनेवाली है अर्थात् लौकिक उत्कर्षका अभ्युदय कहते हैं ॥१३५॥

136) श्रावकधर्मका सामान्य कथन करके उसका विशेष कथन करते हैं—भगवान् जिनेन्द्र-देवने श्रावकोके ग्यारह पद कहे हैं, जिन्हे उनकी ग्यारह प्रतिमाएँ कही जाती हैं। इनमे श्रावक उत्तरोत्तर क्रमश पूर्व गुणोके साथ अपने पदकी वृद्धि करते हुए ठहरते हैं—उनका पालन करते हैं ॥१३६॥

137) उन ग्यारह पदोका प्रतिपादन क्रमश किया जाता है। जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है, ससार, शरीर और भोग इन तीनोसे उदासीन है—उनमे आसक्त नही है, पंचपरमेष्ठियोके चरणोकी शरणको प्राप्त है—इन्हीकी पूजा-उपासना-भक्ति सतत करता है और यथार्थ मार्गकी ओर प्रवृत्त है, वह दार्शनिक प्रथम पदका धारक श्रावक कहा जाता है ॥१३७॥

138) निरतिचार पाँचो अणुव्रतो और सप्तशीलो ( तीन गुण व्रतो और चार शिक्षाव्रतो ) को भी जो तीनो ( मिथ्यात्व, माया और निदान ) शल्योसे रहित होकर धारण करता है वह व्रतियोमे व्रतिक पदका धारी श्रावक माना गया है ॥१३८॥

139) जो चारो दिशाओमे क्रमश. तीन-तीन आवर्त और चार प्रणाम, दो आसन करनेवाला यथाजात मुनिकी तरह स्थित, तीनो योगोसे शुद्ध और तीनो ( प्रात., मध्याह्न और सायं ) कालोमे वन्दना ( जिनस्मरण ) करता है वह 'सामायिक' नामक तृतीय पदधारी ( प्रतिमा-धारी ) श्रावक है ॥१३९॥

140) जो प्रत्येक मासके चारो पर्व दिनो—दोनो अष्टमियो और दोनो चतुर्दशियोमे अपनी शक्तिको न छिपाकर, शुभ ध्यानमे रत हुआ एकाग्रताके साथ नियमसे प्रोषधोपवास करता है वह 'प्रोषधोपवास' नामक चतुर्थ पदका धारी ( प्रोषधपूर्वक अनशन करनेवाला ) श्रावक है। अर्थात् उसे चौथी प्रतिमाधारी श्रावक कहा गया है ॥१४०॥

141) जो दयालु श्रावक मूल ( जड ), फल, शाक, शाखा ( कोंपल ), गाठकन्द ( जमीन के अन्दर उत्पन्न होनेवाली गाजर मूली आदि वनस्पतियाँ ), फूल और बीज इन्हे कच्चे नही खाता वह सचित्तविरत पदका धारी—पाचवी प्रतिमाधारक श्रावक है ॥१४१॥

142) जो रात्रिमे अन्नसे बनी हुई चीजो, पेय पदार्थों, अन्न से भिन्न दूसरे खाने के पदार्थों—पेडा, बर्फी, मेवा, मुरब्बा, इलायची, लौंग, पान, सुपारी आदि और लेह्य–चाटकर खाए जाने वाले रबड़ी आदि पदार्थोंको नही खाता है वह जीवोंपर दया रखनेवाला 'रात्रिभुक्त-विरत' नामके छठे पदका धारक श्रावक कहा जाता है ॥१४२॥

143) जो श्रावक शरीरको मल ( रुधिर, रज, वीर्य आदि सात धातुओ ) से उत्पन्न होनेवाला, मलका जनक, मल-मूत्रादिको बहानेवाला, दुर्गन्धयुक्त, ग्लानिका उत्पादक देखता हुआ काम (मैथुन) से विरक्त होता है वह 'ब्रह्मचर्य' पदका धारी सातवी प्रतिमावाला श्रावक है ॥१४३॥

144) जो सेवा, खेती, व्यापार आदि आरम्भोसे, जो जीव हिंसाके कारण हैं, विरक्त होता है—उन्हे त्याग देता है वह 'आरम्भविरत' नामक पदका धारी अष्टम श्रावक है ॥१४४॥

145) जो बाह्य दश प्रकारके धन-धान्यादि परिग्रहोमे ममत्वका त्यागकर निर्मम भावमे लीन रहता हुआ सन्तोषपूर्वक आत्मामे स्थित रहता है वह रात दिन परिचयमे आनेवाले 'परिग्रहसे विरत' पदका धारक नवमी प्रतिमावाला श्रावक है ॥१४५॥

146) जो अपने परिवारजनोको खेती आदि आरम्भके विषयमे और धन-धान्यादि परिग्रहके रखनेमे तथा अन्य लौकिक न्यायालय आदिके कार्योंमे अनुमति—करने-करानेकी सलाह नही देता वह समबुद्धि रखनेवाला 'अनुमतिविरत' पदका धारी अर्थात् दशवी प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥१४६॥

147) जो मुनि घरसे वनमे जाकर और गुरुके निकट व्रतोको ग्रहण कर अनशनादि तपोको तपता हुआ भिक्षावृत्तिपूर्वक आहार ग्रहण करता है वह वस्त्रखण्ड ( वस्त्रके एक टुकड़े ) का धारी उत्कृष्ट श्रावक है अर्थात् वह ग्यारहवे पदका धारक श्रावक कहा गया है ॥१४७॥

148) ग्रन्थका समापन करते हुए आचार्य कहते हैं कि पाप जीवका शत्रु ( अकल्याणकारी ) है और धर्म बन्धु ( कल्याणकारी–हितकारी ) है, ऐसा निश्चय करनेवाला आगमको जानता है—आगमके अनुसार यदि प्रवृत्ति करता है तो वह निश्चय ही अपने श्रेय ( हित ) का ज्ञाता है। तात्पर्य यह कि धर्म और अधर्मको जानकर धर्ममे प्रवृत्ति करना चाहिये और अधर्मसे निवृत्त होना चाहिए॥१४८॥

149) जिस भव्य जीवने अपने आत्माको निर्दोष ज्ञान, निर्दोष दर्शन और निर्दोष चारित्र अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नोका पिटारा बनाया है उसे तीनो लोकोमे समस्त पदार्थों अथवा प्रयोजनोकी सिद्धि उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार पतिको चाहनेवाली कन्याको समस्त अर्थोंकी सिद्धि हो जाती है ॥१४९॥

150) ग्रन्थकार स्वामी समन्तभद्र समाप्ति-मंगलाचरण करते हुए कहते हैं कि जिनेन्द्रके चरण-कमलोको देखनेवाली दृष्टि-लक्ष्मी ( सम्यग्दर्शन सम्पत्ति ) सुख भूमि ( सुख उत्पन्न करने ) के रूपमे मुझे उसी प्रकार सुखी करे, जिस प्रकार सुख उत्पन्न करनेवाली कामिनी ( पतिव्रता पत्नी ) कामी ( पति ) को सुखी करती है, शुद्धशीलाके रूपमे उसी प्रकार मेरी रक्षा करे, जिस प्रकार शुद्धशीला माता पुत्रकी रक्षा-पालना करती है, और गुणभूषाके रूप मे उसी प्रकार मुझे पवित्र करे जिस प्रकार गुणभूषा कन्या कुल को पवित्र करती है—उसकी प्रतिष्ठा-को बढाती है ॥१५०॥

# स्वामिसमन्तभद्रकृता देवागमापरनामधेया आप्तमीमांसा

भट्टाकलङ्कदेवविरचिताप्तमीमांसाभाष्येण वसुनन्द्याचार्यकृतदेवागमवृत्त्या
पण्डितजुगलकिशोरमुख्तारकृतहिन्दीव्याख्यया चोपेता ।

SVĀMI SAMANTABHADRA'S DEVĀGAMA-ĀPTAMĪMĀMSĀ

with Āptamīmāmsābhāsya of Bhaṭṭa Akalaṅkadeva, Devāgamavṛtti
of Ācārya Vasunandi and Hindi exposition of
Pandita Jugalkishor Mukhtar.

स्वामिसमन्तभद्रकृता देवागमापरनामधेया आप्तमीमांसा ।

1) देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥

अकलङ्कदेवविरचितमाप्तमीमासाभाष्यम् ।

§ 1. उद्दीपीकृतधर्मतीर्थमचलज्योतिर्ज्वलत्केवला-
लोकालोकितलोकलोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितम् ।
वन्दित्वा परमार्हता समुदयं गा सप्तभङ्गीविधि
स्याद्वादामृतगर्भिणीं प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयाम् ॥ १ ॥

तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधे.
भव्यानामकलङ्कभावकृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः संततं
कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवता देवागमस्तत्कृति. ॥ २ ॥

देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव स्वयं श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते, तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात् । आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन्, नास्मदादयः, तादृशो मायाविष्वपि भावात्, इत्यागमाश्रय ॥ १ ॥

वसुनन्द्याचार्यकृता देवागमवृत्तिः ।

§ 1. सार्वं श्रीकुलभूषण क्षतरिपु सर्वार्थसंसाधन
सन्नीतेरकलङ्कभावविधृते. संस्कारक सत्पथम् ।
निष्णात नयसागरे यतिपतिं ज्ञानांशुसद्भास्कर
भेत्तार वसुपालभावतमसो वन्दामहे बुद्धये ॥ १ ॥

लक्ष्मीभृत्परम निरुक्तिनिरत निर्वाणसौख्यप्रदं
कुज्ञानातपवारणाय विधृत छत्रं यथा भासुरम् ।
सज्ज्ञानैर्नययुक्तिमौक्तिकफलै. सशोभमान पर
वन्दे तद्धतकालदोषममल सामन्तभद्र मतम् ॥ २ ॥

समीचीनासमीचीनोपदेशविशेषप्रतिपत्तये सकलदोषातीतानन्तचतुष्टयसमेतप्रकटिताशेषद्रव्यपर्यायसामान्यविशेषपरमात्मपरीक्षाभिधायकम्, असख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरणोपायम्, निराकृत[1]सामान्यापोहशब्दार्थगृहीतविद्वन्मन.सतोषकरम्, परमार्थभूतवाच्यवाचकसंबन्धम्, अनेकसूक्ष्मार्थप्रतिपादनचटुलम्, नि.श्रेयसाभ्युदयसुखफलम्, स्वभक्तिसंभारप्रेक्षापूर्वकारित्वलक्षणप्रयो-

1) 1, A, B –कृतविवक्षासामा– ।

जनवद् गुणस्तव कर्तुकामः श्रीमत्समन्तभद्राचार्यं सर्वज्ञ प्रत्यक्षीकृत्यैवमाचष्टे—हे भट्टारक, सस्तवो नाम माहात्म्यस्याधिक्यकथनम्, त्वदीय च माहात्म्यमतीन्द्रिय मम प्रत्यक्षागोचरम्, अत कथ मया स्तूयसे । अत आह भगवान्—ननु भो वत्स, यथान्ये देवागमादिहेतोर्मम माहात्म्यमवबुध्य स्तव कुर्वन्ति तथा त्व किमिति न कुरुषे । अत आह—अस्माद्धेतोर्न महान् भवान्[1] मा प्रति, व्यभिचारित्वादस्य हेतो , इति व्यभिचार दर्शयति—देवास्त्रिदशास्तेषा स्वर्गावतरण-जन्म-निष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-मुक्तिगमनस्थानेषु आगमनम् आगम अवतारो देवागम । नभसि गगने हेममयाम्भोजोपरि यान नभोयानम् । चामराणि वातायनानि तानि आदिर्यासा विभूतीना सपदा ताश्च ता विभूतयश्च चामरादिविभूतय. । आदिशब्देन अशोकवृक्षसुरदुन्दुभिसिंहासनादीनि परिगृह्यन्ते, एतेषा द्वन्द्व , विभूतय । मायाविष्वपि इन्द्रजालेष्वपि दृश्यन्ते उपलभ्यन्ते । न अतः न अस्मात् । त्वमसि त्व भवसि । न अस्माक महान् गुरु । किमुक्त भवति—देवागमादिहेतोर्नास्माक भवान्गुरुर्भवति, यतो देवागमादय पूरणादिष्वपि दृश्यन्ते । अतोऽनैकान्तिको हेतु. ॥ १ ॥

पं० जुगलकिशोरमुख्तारकृत हिन्दी-व्याख्या

§ 1 ( हे वीरजिन ! ) **देवोके आगमनके कारण**—स्वर्गादिकके देव आपके जन्मादिक कल्याणकोके अवसरपर आपके पास आते हैं इसलिए—**आकाशमे गमनके कारण**—गगनमे विना किसी विमानादिकी सहायताके आपका सहज-स्वभावसे विचरण होता है इस हेतुसे—**और चामरादि-विभूतियोके कारण**—चँवर, छत्र, सिंहासन, देवदुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, अशोकवृक्ष, भामण्डल और दिव्यध्वनि-जैसे अष्ट प्रातिहार्योंका तथा समवसरणकी दूसरी विभूतियोका आपके अथवा आपके निमित्त प्रादुर्भाव होता है इसकी वजहसे—**आप हमारे**—मुझ-जैसे परीक्षाप्रधानियोके—**गुरु—पूज्य अथवा आप्तपुरुष नहीं हैं** —भले ही समाजके दूसरे लोग या *अन्य लौकिक जन इन देवागमनादि अतिशयोके कारण आपको गुरु, पूज्य अथवा आप्त* मानते हो, क्योकि ये अतिशय **मायावियोमे**—मस्करि, पूरणादि इन्द्रजालियोमे—**भी देखे जाते हैं** । इनके कारण ही यदि आप गुरु, पूज्य अथवा आप्त हो तो वे मायावी इन्द्रजालिये भी गुरु, पूज्य तथा आप्त ठहरते हैं, जब कि वे वसे नही हैं । अत उक्त कारण-कलाप व्यभिचार-दोषसे दूषित होनेके कारण अनैकान्तिक हेतु है, उससे आपकी गुरुता एव विशिष्टताको पृथक् रूपसे लक्षित नही किया जा सकता और न दूसरोंपर उसे स्थापित ही किया जा सकता है । ( यदि यह कहा जाय कि उन मायावियोमे ये अतिशय सच्चे नही होते– बनावटी होते हैं—और आपके साथ इनका सम्बन्ध सच्चा है तो इसका नियामक और निर्णायक कौन ? आगमको यदि नियामक और निर्णायक बतलाया जाय तो आगम उन मायावियोका भी है—वे अपने वचनरूप आगमके द्वारा उन अतिशयोको मायाचारजन्य होनेपर भी सत्य ही प्रतिपादित करते हैं। और यदि अपने ही आगम ( जैनागम ) को इस विषयमे प्रमाण माना जाय तो उक्त हेतु आगमाश्रित ठहरता है, और एक मात्र उसीके द्वारा दूसरोको यथार्थ वस्तुस्थितिका प्रत्यय एव विश्वास नही कराया जा सकता । अत उक्त कारण-कलापरूप हेतु आपकी महानता एवं आप्तताको व्यक्त करनेमे असमर्थ है और इसीसे मेरे जैसोके लिए एक प्रकारसे उपेक्षणीय है ) ॥ १ ॥

---

1) 1. A, B –भगवान् ।

2) **अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदय ।**
**दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥ २ ॥**

§ 2 **बहिरन्तःशरीरादिमहोदयोऽपि पूरणादिष्वसंभवी व्यभिचारी, स्वर्गिषु भावादक्षीणकषायेषु। ततोऽपि न भवान् परमात्मेति स्तूयते ॥ २ ॥**

§ 2 अथ मतम् । अय तर्हि हेतुर्बहिरन्तरङ्गलक्षणो महोदय पूरणादिष्वसभवो, इत्ययमपि व्यभिचारी, तथैव प्रतिपादयति— आत्मनि अधि **अध्यात्मम्** । स अन्त' । क्षुत्पिपासाजरारुजापमृत्य्वाद्यभाव इत्यर्थ' । **बहिरपि** बाह्योऽपि । **एषः** प्रत्यक्षनिर्देश' । विग्रहो दिव्यशरीरमादिर्येषा निस्वेदत्व-निर्मलत्व-अच्छायत्वादीनाम्, तानि विग्रहादीनि तेषा तान्येव वा महोदय , विभूते पूर्वावस्थाया अतिरेकोऽतिशयो वा **विग्रहादिमहोदयः** अमानुषातिशय इत्यर्थ । दिवि भवो **दिव्यः** । **सत्यः** अवितथ: मायास्वरूपो न भवति । दिवि द्यौ दिवि ओक अवस्थान येषा ते दिवौकस नाकसदना , तेष्वपि **दिवौकस्स्वपि** । अथवा दिवाशब्दोऽय तेनैष्टव्य. । रागो लोभमायेत्यादिर्येषा द्वेषादीना ते रागादय , ते सन्ति येषा ते रागादिमन्त तेषु **रागादिमत्सु** अक्षीणकषायेष्विदयर्थ. । **स** महोदय इति । अय महोदयो यद्यपि समासेऽन्तर्भूतस्तथापि अध्यात्ममहोदय इति सबन्ध कर्त्तव्य , अन्त्यस्य श्रुतत्वात् । अथवा बहिर्विग्रहादिमहोदयः अध्यात्म च । किमुक्त भवति— योऽपि विग्रहादिमहादयो मायाविष्वसभवी हेतुत्वेनोपन्यस्त' सोऽपि व्यभिचारी स्वर्गिषु सभवात् ॥२॥

§ 2. **यह जो आपके शरीरादिका अन्तर्बाह्य महान् उदय है** —अन्तरगमे शरीर क्षुधा-तृषा-जरा-रोग-अपमृत्यु आदिके अभावको और बाह्यमे प्रभापूर्ण अनुपम सौन्दर्यके साथ गौर-वर्ण-रुधिरके सचार-सहित नि.स्वेदता, सुरभिता एव निर्मलताको लिये हुए है— **जो साथ ही दिव्य है**—अमानुषिक है— **तथा सत्य है** —मायादिरूप मिथ्या न होकर वास्तविक है और मायावियोमे नही पाया जाता—, ( उसके कारण यदि आपको महान्, पूज्य एव आप्तपुरुष माना जाय, तो यह हेतु भी व्यभिचार-दोषसे दूषित है, क्योकि ) **वह** ( विग्रहादि-महोदय ) **रागादिसे युक्त** —राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायोसे अभिभूत— **स्वर्गके देवोमे भी पाया जाता है**—वही यदि महानता एव आप्तताका हेतु हो तो स्वर्गोक रागी, द्वेषी, कामी तथा क्रोधादि-कषाय-दोषोसे दूषित देव भी महान् पूज्य एव आप्त ठहरे, परन्तु वे वैसे नही है, अत. इस अन्तर्बाह्य-विग्रहादि-महोदय विशेषणके मायावियोमे न पाये जानेपर भी रागादिमान् देवोमे उसका सत्त्व होनेके कारण वह व्यावृत्ति-हेतुक नही रहता और इसलिए उससे भी आप-जैसे आप्त-पुरुषोका कोई पृथक् बोध नही हो सकता । (यदि यह कहा जाय कि घातिया कर्मोंका अभाव होनेपर जिस प्रकारका विग्रहादि-महोदय आपके प्रकट होता है उस प्रकारका विग्रहादि-महोदय रागादियुक्त देवोमे नही होता तो इसका क्या प्रमाण ? दोनोका विग्रहादि-महोदय अपने प्रत्यक्ष नही हे, जिससे तुलना की जा सके । यदि अपने ही आगमको इस विषयमे प्रमाण माना जाय तो यह हेतु भी आगमाश्रित ठहरता है और एक मात्र इसीसे दूसरोको यथार्थ वस्तु-स्थितिका प्रत्यय एव विश्वास नही कराया जा सकता । अत. यह विग्रहादि-महोदय हेतु भी आपकी महानता व्यक्त करनेमे असमर्थ होनेसे मेरे जैसोके लिए उपेक्षणीय है) ॥२॥

**3) तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः[1] ।**
**सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥ ३ ॥**

§ 3 न हि तीर्थंकरत्वमाप्तता साधयति शक्रादिष्वसंभवि, सुगतादिषु दर्शनात् । न च सर्वे सर्वदर्शिनः परस्परविरुद्धसमयाभिधायिनः । ततोऽनैकान्तिको हेतुः । अत एव न कश्चित् सर्वज्ञ इत्ययुक्तम्, श्रुतेरविशेषादप्रमाणतापत्ते.[2] । तथेष्टत्वाददोष , इत्येकेषामप्रामाणिकैवेष्टिः । न खलु प्रत्यक्ष सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषयम्, अतिप्रसङ्गात् । नानुमानम्, असिद्धे. । प्रमाणतः सिद्ध नानात्मसिद्धं नाम, अन्यथा परस्यापि न सिद्धयेत् । तदिमे स्वयमेकेन प्रमाणेन सर्वं सर्वज्ञरहित पुरुषसमूह सविदन्त एवात्मान निरस्यन्तीति व्याहतमेतत् । तीर्थच्छेदसम्प्रदायाना तथा सर्वमवगतमिच्छतामाप्तता नास्ति, परस्परविरुद्धाभिधानात् । एकानेकप्रमाणवादिना स्वप्रमाव्यावृत्ते., अन्यथानैकान्तिकत्वात् । सर्वप्रमाण[3]विनिवृत्तेरितरथा सप्रतिपत्ते. । वागक्षबुद्धोच्छापुरुषत्वादिक क्वचिदनाविलज्ञान निराकरोति न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु तथेति परमगहनमेतत् । तदित्थ सिद्ध [4]सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वम् । तेन कः परमात्मा चिदेव लब्ध्युपयोगसस्काराणामावरणनिबन्धनानामत्यये भवभृता प्रभु. । न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः प्राक् सुनिश्चितासभवत्साधकप्रमाणत्व सिद्धम्, येन पर. प्रत्यवतिष्ठेत । नापि बाधकासंभवात् परं प्रत्यक्षादेरपि विश्वासनिबन्धनमस्ति, तत्प्रकृतेऽपि सिद्ध यदि तत्सत्ता न साधयेत् सर्वत्राप्यविशेषात् । तदभावे दर्शन नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाद्विभ्रमवत् । साधकबाधकप्रमाणयोर्निर्णयाद्भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादरेका स्यात् । न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति यन्न क्रमेत, तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात् । चेतनस्य सत. सवन्ध्यन्तर मोहोदयकारणकम्,[5] मदिरादिवत् । तदभावे साकल्येन विरतव्यामोह. सर्वं पश्यति, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिंचित्करत्वात् । अत एवाक्षानपेक्षा । अञ्जनादिसस्कृतचक्षुषो यथालोकानपेक्षा ॥ ३ ॥

§ 3 द्वयाहत्वोरनैकान्तिकत्व प्रदर्श्य अन्यैर्यस्तीर्थकरत्वेनोपन्यस्तस्तस्य हेतोरसाधकत्व सर्वासर्वज्ञत्व प्रदर्शयन्नाह—तीर्थं ससारनिस्तरणोपाय करोतीति तीर्थंकृत् । यतस्तीर्थंकृत् भवान्, अतः सर्वज्ञ., इत्ययमपि हेतुरनैकान्तिक., सुगतादिषु दर्शनात्, इत्यनुक्तोऽपि द्रष्टव्य । अस्मिन्नवसर वैनयिक. प्राह—इष्टमस्माक सर्वेषा सर्वज्ञत्वम् । अत आह—समयानां च परस्परविरोधतः अन्यान्यविसवादात्, सर्वेषामाप्तता नास्ति विश्वेषा सर्वज्ञत्व न भवति । अथवा तीर्थकरत्वात्सर्वज्ञो न भवति, सुगतादिषु दर्शनात् । अत सर्वे सर्वज्ञा. सन्तु, इत्येतत्सर्वमुक्त्वा पश्चादिदं वक्तव्य सर्वेषामाप्तता नास्ति । कुत., यतस्तीर्थकृता तत्समयाना च परस्परविरोधात् स्वरूपपदार्थविवाददर्शनात् । अत्रावसर सर्वज्ञाभाववादी प्राह— सत्य युक्तमेव न कश्चित् सर्वदर्शी, इति । अत आह—कश्चिदेव कोऽप्येव तेषा मध्ये भवेत् स्यात्, गुरु महान् स्वामी । किमुक्त स्यात्—न सर्वेषामाप्तता परस्परविरोधात्समयानामागमानाम् । एकोऽपि न भवति प्रमाणाभावात् । अत. केनचिदेव भवितव्यम् । एवमत्यन्ताभावाभाव कृत । यदि परस्परविरोधात्सर्वज्ञत्वभावो न भवति, तर्हि येषा सर्वज्ञविच्छेदकः सम्प्रदायस्तेषामाप्तता स्यात् । अत आह—तीर्थकृदित्यादि । तीर्थं सर्वज्ञ कृतन्ति छिन्दन्ति इति तीर्थंकृत समया आम्नायाः सम्प्रदाया येषा ते तीर्थकृत्स-

---

3) 1 A विरोधिन । 2 P —माणतोपत्ते । 3 A, B —णनिवृत्ते— ।
4. A, B सुनिर्णीतासभ— । 5. A, B —कारण ।

मयास्तेषाम्, अन्योऽन्यविरोधात् । सर्वं निरवशेषं अवगतं अगम्यावगमनं वा इच्छन्ति अभ्युपगच्छन्ति इति सर्वेष तेषा सर्वेषाम् आप्तता परमार्थवादित्वं नास्ति न विद्यते । अत कः आत्म-जीव चित् चेतनोऽचेतनो न भवति । एवकार अवधारणार्थ. । भव संसार यान्ति गच्छन्ति इति भवेत· तेषा भवेता शक्रचक्रधरादीनामित्यर्थ । गुरुर्नाथ. । भवेद्गुरुः भवेता गुरु । न च लब्धात्मस्वरूपाणाम् । किमुक्त भवति— तीर्थकृच्छेदकाम्नायानामपि सर्वमेकेन प्रमाणेन षड्भिरभ्युपगच्छतामाप्तता नास्ति, परस्परविरोधात् । अतो यतिपतिरेव स्यान्नान्य· ॥ ३ ॥

§ 3 ( यदि यह कहा जाय कि आप तीर्थंकर है— ससारसे पार उतरनेके उपायस्वरूप आगम-तीर्थके प्रवर्तक हैं— और इसलिए आप्त— सर्वज्ञ होनेसे महान् हैं, तो यह कहना भी समुचित प्रतीत नही होता, क्योकि तीर्थंकर तो दूसरे सुगतादिक भी कहलाते हैं और वे भी संसारसे पार उतरने अथवा निर्वृति प्राप्त करनेके उपायस्वरूप आगमतीर्थके प्रवर्तक माने जाते हैं, तब वे सब भी आप्त—सर्वज्ञ ठहरते हैं, अत तीर्थंकरत्व हेतु भी व्यभिचार-दोपसे दूषित है । और यदि सभी तीर्थंकरोको आप्त अथवा सर्वज्ञ माना जाय तो यह बात भी नही वनती, क्योकि ) **तीर्थंकरोके आगमोमें परस्पर विरोध पाया जाता है, जो कि सभीके आप्त होनेपर न होना चाहिए । अतः इस विरोधदोषके कारण सभी तीर्थंकरोके आप्तता** —निर्दोष-सर्वज्ञता— घटित नही होती । ( इसे ठीक मानकर यदि यह पूछा जाय कि क्या उन परस्पर-विरुद्ध आगमके प्ररूपक सभी तीर्थंकरोमे कोई एक भी आप्त नही है और यदि है तो वह कौन है ? इसका उत्तर इतना ही है कि ) **उनमे कोई तीर्थंकर आप्त अवश्य हो सकता है और वह वही पुरुष हो सकता है जो चित् ही हो** —चैतन्यके पूर्ण विकासको लिए हुए हो, अर्थात् जिसमे दोषो तथा आवरणोकी पूर्णत हानि होकर शुद्ध चैतन्य निखर आया हो ॥ ३ ॥

4 ) **दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् ।**
**क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ ४ ॥**

§ 4 **वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोष· स्वपरपरिणामहेतु । अत एव लौष्टादौ नि.शेषदोषावरणनिवृत्तेः सिद्धसाध्यता, इत्यसमीक्षिताभिधानम्, साध्यापरिज्ञानात् । दोषावरणयोर्हानि[1]-रतिशायनात् निश्शेषतायां साध्यायां बुद्धेरपि किं न परिक्षय· स्यात्, विशेषाभावात्, अतोऽनैकान्तिको हेतुः, इत्यशिक्षितलक्षितम्, चेतनादिगुणव्यावृत्तेः सर्वात्मना पृथिव्यादेरभिमतत्वात् । अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्ययुक्तम्, परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः संस्कर्तृणा पातकित्वप्रसङ्गात् । बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात् । व्यापारव्याहाराकारविशेषव्यावृत्तिसमयवशात्तादृशं लोको विवेचयति । व्यापारव्याहाराकारविशेषव्यावृत्तेरिति समयवशात्तत्सिद्धान्तविल्लोको विवेचयति । यदि पुनरयं निर्बन्ध सर्वत्र विप्रकर्षिणामभावासिद्धेः, तदा कृतकत्वधूमादेर्विनाशानलाभ्यां व्याप्तेरसिद्धेर्न कश्चिद्धेतुः । ततः शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत्, अनुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । तथाहि, यस्य हानिरतिशयवती तस्य कुतश्चित्सर्वात्मना व्यावृत्तिर्यथा बुद्ध्यादिगुणस्याश्मन [2]। तथा च दोषादेर्हानिरतिशयवती कुतश्चिन्निवर्तयितुमर्हति सकलं कलङ्कमिति कथमकलङ्कसिद्धिर्न भवेत् । मणेर्मलादेर्व्यावृत्ति क्षय.,**

4) 1. A, B हानेरति- । 2. P –त्मन. ।

सतोऽत्यन्तविनाशानुपपत्तेः। तादृगात्मनोऽपि कर्मणा निवृत्तौ परिशुद्धिः। कर्मणोऽपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो नातिप्रसज्यते। प्रतिपक्ष एवात्मनामागन्तुको मलः परिक्षयी स्वनिर्ह्रासनिमित्तविवर्द्धनवशात् ॥ ४ ॥

§ 4 पूर्वकारिकोपात्तमर्थं समर्थयन्सुपुष्कलहेतुमाह—दोष अज्ञानादि, कार्यरूपम्। आवरण कारणभूतं कर्म। अथवा मोहान्तराया दोषाः। ज्ञानदर्शनावरणे आवरणम्। तयोर्हानिर्विनाशो विश्लेषो दोषावरणयोर्हानिः। सिद्धसाधनतानिराकरणार्थं निःशेषा समस्ता समूलतलप्रहाणि इत्युक्तम्। अस्ति भवति। अतिशायनात् प्रकृष्यमाणाज्ञानहाने पूर्वावस्थातिरेकात्। क्वचित् कस्मिंश्चित्पुरुषविशेषे। यथा शब्दो दृष्टान्तप्रदर्शनफल। स्वस्य आत्मनो हेतव कारणानि ते तथाभूतास्तेभ्य स्वहेतुभ्यः। वहि किट्टकादिकम्, अभ्यन्तर कालिमादि[3] तच्च तन्मल च तस्य क्षयो विगम विश्लेष वहिरन्तर्मलक्षयः। एतदुक्त भवति—कस्मिंश्चिदतिशायनाद्दोपावरणयोर्हानिरस्ति। यथा धातुपाषाणस्य अन्तर्मलक्षय। स कश्चिद्भवत्येव गुरुरिति सवन्धः। एकत्र स्वहेतव सम्यग्दर्शनादय। अन्यत्र पिण्डीवन्धनप्रयोगादय। तथा एकत्र वहिर्मल शरीरेन्द्रियादिकम्। अन्तर्मल कर्म। अन्यत्र वहिर्मल किट्टकादिकम्। अन्तर्मल कालिमादि[4] ॥ ४ ॥

§ 4 (यदि यह कहा जाय कि ऐसा कोई भी पुरुष नही है जिसमे अज्ञान-रागादिक दोषो तथा उनके कारणभूत कर्म—आवरणोकी पूर्णत हानि सम्भव हो, तो यह भी ठीक नही है, क्योकि) दोषो तथा दोषोंके कारणोकी कहीं-कहीं सातिशय हानि देखनेमे आती है—अनेक पुरुषोमे अज्ञान तथा राग-द्वेष-काम-क्रोधादिक दोषोकी एवं उनके कारणोकी उत्तरोत्तर बहुत कमी पाई जाती है— और इसलिए किसी पुरुष-विशेषमे विरोधी कारणोको पाकर उनका पूर्णतः अभाव होना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार कि (सुवर्णादिकमे) मल-विरोधी कारणोको पाकर बाह्य और अन्तरंग मलका पूर्णतः क्षय हो जाता है—अर्थात् जिस प्रकार किट्टकालिमादि मलसे वद्ध हुआ सुवर्ण अग्निप्रयोगादिरूप योग्य साधनोको पाकर उस सारे वाहरी तथा भीतरी मलसे विहीन हुआ अपने शुद्ध सुवर्णरूपमे परिणत हो जाता है उसी प्रकार द्रव्य तथा भावरूप कर्ममलसे वद्ध हुआ भव्य जीव सम्यग्दर्शनादि योग्य साधनोंके वलपर उस कर्ममलको पूर्णरूपसे दूर करके अपने शुद्धात्मरूपमे परिणत हो जाता है। अत किसी पुरुषविशेषमे दोषो तथा उनके कारणोकी पूर्णत हानि होना असम्भव नही है। जिस पुरुषमें दोषो तथा आवरणोकी यह निःशेष हानि होती है वही पुरुष आप्त अथवा निर्दोष सर्वज्ञ एव लोकगुरु होता है ॥ ४ ॥

5) सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥ ५ ॥

§ 5 ननु निरस्तोपद्रव सन् आत्मा कथमकलङ्कोऽपि विप्रकर्षिणमर्थं प्रत्यक्षीकुर्यात्। स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धम्, इत्यनुमानमुत्सारयति। यावान् कश्चिद्भावः स सर्वः क्षणिकः, इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ प्रकृतोपसहारायोगात्। अविप्रकर्षिणामनुमितेरानर्थक्यात्। सत्त्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छता सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किंचिद्व्याहतं पश्यामः।

3, 4. A, B कालिकादि।

तेऽनुमेयाः, न कस्यचित् प्रत्यक्षाश्च स्युः, किं व्याहन्यते, इति समानमग्न्यादीनाम् । तथा चानुमानोच्छेदः स्यात् । तदभ्युपगमेऽस्वसंवेद्यविज्ञानव्यक्तिभिरध्यक्षं किं लक्षयेत् प्रमाणतया परमप्रमाणतयेति न किंचिदेतत् तथा नैतत्तया वायमभ्युपगन्तुमर्हति । तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति, संशयितुं वा । धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वात् कथं सकलविदि सत्त्वसिद्धिः, इति ब्रुवन्नपि देवानाप्रिय. तद्धर्मिस्वभाव न लक्षयति । शब्दानित्यत्वसाधनेऽपि कृतकत्वादावयं विकल्प' किं न स्यात् । विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशधर्मिधर्मत्वे कार्यत्वादेरसंभवद्बाधकत्वादेरपि संदिग्धसद्भावधर्मिधर्मत्वं सिद्धं बोद्धव्यम् । यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हतः साध्यते पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् । तत एव व्याप्तिर्न सिद्ध्येत् । अनर्हतश्चेत्, अनिष्टानुषङ्गोऽपि । कः पुन. सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण, यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम्, इत्येतद्विकल्पजालं शब्दनित्यत्वेऽपि समानम्, न केवल सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशीतौ वा । तदयमनुमानमुद्रां भिनत्ति । वर्णानां नित्यत्वमकृतकत्वादिना सर्वगतानां यदि साधयति, स्यादप्रसिद्धविशेषणः पक्षः, इतरथानिष्टानुषङ्ग । कीदृक् पुनः सामान्यं नाम यदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय प्रकल्प्येत,[1] सर्वगतत्वसाधनेऽपि समानम् । अविवक्षितविशेषस्य पक्षीकरणे समः समाधिः,[2]इत्यलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पोघैः[3] ॥ ५ ॥

§ 5 ननु विध्वस्तदोषोऽप्यात्मा कथं विप्रकर्षिणमर्थं प्रत्यक्षीकुर्यात् ( इति ) साधनान्तरस्य बाधकाभावस्य भावनिरूपणमाह—सूक्ष्मा स्वभावविप्रकृष्टा । अन्तरिता कालविप्रकृष्टा. । दूराः देशविप्रकृष्टा । ते च ते अर्थाश्च सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः । तथा च स्वभावविप्रकृष्टा मन्त्रौषधिशक्तिचित्तादय । कालविप्रकृष्टा लाभालाभसुखदुःखग्रहोपरागादयः । देशविप्रकृष्टा मुष्टिस्थादिद्रव्यम्, हिमवन्मन्दरमकराकरादयश्च । प्रत्यक्षाः अध्यक्षाः प्रत्यक्षज्ञानगोचरा । कस्यचित् सामान्यकथनमेतत् अनिर्दिष्टनामधेयस्य । यथा दृष्टान्तप्रदर्शक । अनुमेया अनुमानगम्या. । अथवा अनुगत मेय मान येषा ते अनुमेया. प्रमेया इत्यर्थः । तेषा भावस्तस्मात् अनुमेयत्वतः । अग्निः पावकः आदिर्यस्यासौ अग्न्यादिः । इति एवमनेन प्रकारेण सर्वज्ञस्य विश्वदर्शिनःसस्थितिर्व्यवस्था सर्वज्ञसंस्थिति' सर्वज्ञास्तित्वमित्यर्थ. । भागासिद्धानैकान्तिकविरुद्धहेत्वाभासाभावात् । ये ये प्रमेयास्ते ते प्रत्यक्षाः । यथा अग्न्यादय' । प्रमेयाश्च स्वभावकालदेशविप्रकृष्टा अर्था कस्यचित्पुरुषविशेषस्य । तस्मात्तेऽपि प्रत्यक्षाः । अथवा ये अनुमानगम्यास्ते प्रत्यक्षाः कस्यचित् । यथा अग्न्यादय. । अनुमानगम्याश्च सूक्ष्मान्तरितदूरार्था । तस्मात्तेऽपि प्रत्यक्षा । सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणस्य समर्थनमेतत् ॥ ५ ॥

§ 5 ( यदि यह कहा जाय कि दोषो तथा आवरणोकी पूर्णत हानि होनेपर भी कोई मनुष्य अतीत-अनागतकाल-सम्बन्धी सब पदार्थोंको, अतिदूरवर्ती सारे वर्तमान पदार्थोंको और सम्पूर्ण सूक्ष्मपदार्थोको साक्षात् रूपसे नही जान सकता है, तो वह ठीक नही है; क्योंकि, ) सूक्ष्मपदार्थ—स्वभावविप्रकर्षि परमाणु आदिक—, अन्तरित पदार्थ—कालसे अन्तरको लिये हुए कालविप्रकर्षि रामरावणादिक—, और दूरवर्ती पदार्थ —क्षेत्रसे अन्तरको लिये हुए क्षेत्रविप्रकर्षि मेरु-हिमवानादिक—, अनुमेय ( अनुमानका अथवा प्रमाणका विपय ) होनेसे किसी-

5) 1. A, B —कल्पेत् । 2. B —अलम् । 3. P —घोपाघैः ।

न-किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं; जैसे अग्नि आदिक पदार्थ। जो अनुमान या प्रमाणका विषय हैं वे किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं। जिसके सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ प्रत्यक्ष हैं वह सर्वज्ञ है। इस प्रकार सर्वज्ञकी सम्यक् स्थिति, व्यवस्था अथवा सिद्धि भले प्रकार सुघटित है। प्रमाणका विपय 'प्रमेय' कहलाता है। अनुमेयका अर्थ "अनुगत मेयं मान येषा ते अनुमेयाः प्रमेया इत्यर्थः" वसुनन्द्याचार्यके इस वाक्यानुसार 'प्रमेय' भी होता है और इस तरह अनुमेयत्व हेतुमे प्रमेयत्व हेतु भी गर्भित है ॥ ५ ॥

6) स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥

§ 6 विप्रकर्ष्यपि भिन्नलक्षणसबन्धित्वादिना कस्यचित्प्रत्यक्षम् । सोऽत्र भवान्नर्हन्नेव, अन्येषा न्यायागमविरुद्धभाषित्वात् । विचित्राभिसंधितया[1] व्यापारव्यहारादिसाङ्कर्येण क्वचिदप्यतिशयानिर्णये कैमर्थक्याद्विशेषेष्टि, ज्ञानवतोऽपि विसवादात्, क्व पुनराश्वासं लभेमहि। न चैववादिनः किंचिदनुमान नाम, निरभिसधोनामपि बहुल कार्यस्वभावानियमोपलम्भात्। सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे क्वचिदुपलब्धस्य तदभावे प्रायशोऽनुपलब्धस्य मण्यादिकारणकलापेऽपि सभवात्। यज्जातीयो यतः सप्रेक्षितस्तज्जातीयात्ताहगिति दुर्लभनियमताया धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभाव कथमिव निर्णीयेत। वृक्षः शिंशपात्वात्, इति लताचूतादेरपि क्वचिदेव दर्शनात्, प्रेक्षावता किमिव निश्शङ्कं चेत. स्यात्। तदेतदवृष्टसशयैकान्तवादिना विदग्धमर्कटकानामिव स्वलाङ्गूलभक्षणम्। यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारण नातिवर्तते, इति चेत् स्तुतम्। ततोऽयं प्रतिपत्तुरपराधो नानुमानस्य, इत्यनुकूलमाचरति। तदेव तत्सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वमर्हत्येव सकलज्ञत्वं साधयति, नान्यत्र, इत्यविरोध इत्यादिना स्पष्टयति। तत्रेष्ट मत शासनमुपचर्यते,[2] निराकृतवाचोऽपि क्वचिदविप्रतिषेधात्। नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्। प्रतिसंविदिताकारेच्छा तदा संभवन्ती पुन. स्मर्येत वाञ्छान्तरवत्। ततश्चैतन्यकरणपाटवयोरेव साधकतमत्वं सहकारिकारणान्तर न वै नियतमपेक्षणीय नक्तचरादे सस्कृतचक्षुषो वानपेक्षितालोकसन्निधे रूपोपलम्भात्। न चैव सवित्करणपाटवयोरप्यभावे,विवक्षामात्रात्कस्यचिद् वचनप्रवृत्तिः प्रसज्यते, सवित्करणवैकल्ये यथाविवक्ष वाग्वृत्तेरभावात्। न च दोषजातिस्तद्धेतुर्यतस्ता वाणीं नातिवर्तेत, तत्प्रकर्षाप्रकर्षानुविधानाभावात्, बुद्ध्यादिवत्। प्रमाणत. सिद्ध प्रसिद्धम्। तदेव कस्यचिद्बाधनं युक्तम्। विशेषणमेतत्परमतापेक्षम्। अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण बाधा अकल्पनात्। नर्ते प्रमाणात्प्रतिबन्धसिद्धेरभ्युपगमात्। न खलु परेषा प्रत्यक्षं अग्निधूमयो. क्षणभङ्गसद्भावयोर्वा साकल्येन व्याप्ति प्रति समर्थम्, अविचारकत्वात्, सन्निहितविषयत्वाच्च। न चानुमानम्,अनवस्थानुषङ्गात्। परोक्षान्तर्भाविना नस्तर्केण सबन्धो व्यवतिष्ठेत। तदप्रमाणत्वे न लैङ्गिक समारोपव्यच्छेदाविशेषात्। अधिगमोऽपि व्यवसायात्मैव, तदनुपपत्तौ सतोऽपि दर्शनस्य साधनान्तरापेक्षया सनिधानाभेदात्, सुषुप्तचैतन्यवत् ॥ ६ ॥

§ 6 विगतकर्मकलङ्कोऽपि विप्रकृष्टार्थदर्शी सामान्येन यः प्ररूपित. स क इति विशेष दर्शयन्नाह—स पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी। त्वमेव भवानेव नान्य। अन्ययोगव्यवच्छेदफल एवकार.।

6) 1 P –सबन्धितया। 2 P –मित्युवचर्य ।

असि भवसि। निर्दोषः अविद्यारागादिविरहित क्षुधादिविरहितो वा अनन्तज्ञानादिसंबन्धेन इत्यर्थ । कुत एतत्। युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् यत । युक्तिः अनुमान न्यायः तत्सहचरित-मध्यक्षमपि। शास्त्रम् आगम' स्याद्वाद । ताभ्या अविरोधिनी अविसवादिनी वाक् वाणी वचनं यस्यासौ युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्। बहिर्व्याप्तिमन्तरेणान्तर्व्याप्त्यसिद्धम्। यतः इयमेवान्यत्रापि प्रधाना। ननु वचनस्याविरोध. कुत., यावता यत्र वचन तत्र विरोधो दृश्यते। अत आह—अविरोधः अविसवाद यत् यस्मात्। इष्टं मत प्रवचनम्। कुतो वीतरागस्य इच्छा। उपचारेण, सयोगिध्यानवत्। इष्टशब्दस्यापि जहत्स्वार्थे वृत्तित्वात् कुशलशब्दवत्। ते तव। प्रसिद्धेन पर-मतापेक्ष विशेषणमेतत् अनेकान्तवस्तुत्वेन। अथवा व्यवहिताव्यवहितप्रसिद्धलक्षणवता प्रमाणेन। न बाध्यते अन्यथा न क्रियते, तेनैव स्वरूपेण दृश्यते, इत्यर्थं । किमुक्त भवति— यो निर्दोषो विप्रकृष्टदर्शी स च त्वमेव भवसि। न्यायागमाविसवादिवचनम्। यत. अविरोधोऽपि, तव मत न बाध्यते प्रसिद्धेन यस्मात्॥ ६॥

§ 6 ( हे वीर जिन ! ) वह **निर्दोष** —अज्ञान तथा रागादिदोपोसे रहित वीतराग और सर्वज्ञ— **आप ही हैं; क्योकि आप युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक् हैं** —आपका वचन ( किसी भी तत्त्वविषयमे ) युक्ति और शास्त्रके विरोधको लिये हुए नही है। **और यह अविरोध इस तरहसे लक्षित होता है कि आपका जो इष्ट है**—मोक्षादितत्त्वरूप अभिमत– अनेकान्तशासन है— **वह प्रसिद्धसे** —प्रमाणसे अथवा पर-प्रसिद्ध एकान्तसे— **बाधित नही है;** जब कि दूसरोका (कपिल-सुगतादिकका ) जो सर्वथा नित्यवाद-अनित्यवादादिरूप एकान्त अभिमत (इष्ट) है वह प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही नही किन्तु पर-प्रसिद्ध अनेकान्तसे भी बाधित है और इसलिए उन सर्वथा एकान्त-मतोके नायकोमेसे कोई भी युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक् न होनेसे निर्दोष एव सर्वज्ञ नही है ॥६॥

7) **त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।**
**आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥ ७ ॥**

§ 7 **न हि किंचिद्रूपान्तरविकल सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तरूपं सवेदनमन्यद्वा संपश्यामो यथा प्रतिज्ञायते, चित्रज्ञानवत्कथंचिदसंकीर्णविशेषैकात्मनः सुखादिचैतन्यस्य वर्णसस्थानाद्यात्मनः स्कन्धस्य च प्रेक्षणात्। सामान्यविशेषैकात्मन. सवित्तिरेकान्तस्यानुपलब्धिर्वा सर्वतः सिद्धा चक्षुरादिमतामनार्हतकल्पनामस्तंगमयति, इति किं नः प्रमाणान्तरेण। न हि दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठ-मिष्टं तदभावे प्रमाणान्तराप्रवृत्तेः, समारोपविच्छेदविशेषात् अन्वयव्यतिरेकयोः स्वभावभेद-प्रदर्शनार्थत्वाच्च। अनेकान्तैकान्तयोरुपलम्भानुपलम्भयोरेकत्वप्रदर्शनार्थंतावदुभयमाह मतान्तर-प्रतिक्षेपार्थं[1]वा। यदाह—साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगतावुभयप्रतिपादन पक्षादिवचन वा निग्रहस्थानमिति, न तद्युक्तम्, साधनसामर्थ्येन विपक्षव्यावृत्तिलक्षणेन पक्ष प्रसाधयतः केवल वचनाधिक्योपलम्भछलेन पराजयाधिकरणप्राप्ति. स्वय निराकृतपक्षेण प्रतिपक्षिणा लक्षणीयेति। प्रतिज्ञानुपयोगे[2] शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयेत, विशेषाभावात्। यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकम्, यथा घटः, संश्च शब्दः, इति त्रिलक्षण हेतुमभिधाय यदि समर्थ्यते, कथमिव सन्धामतिशेते। तावतार्थ-प्रतिपत्तौ समर्थनं वा निगमनादिकम्, यतः पराजयो न भवेत्। सत्त्वमात्रेण नश्वरत्वसिद्धावुत्प-त्तिमत्त्वकृतकत्वादिवचनमतिरिक्तविशेषणोपादानात् कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वादिषु च**

7) 1. P –शेपा–। 2 P –नुयोगि–।

कप्रत्ययातिरेकादसाधनाङ्गवचनं पराजयाय प्रभवेत्। क्वचित्पक्षधर्मत्वप्रदर्शनम्, संग्र शब्द इत्यविगानात् त्रिलक्षणवचनसमर्थनं च, असाधनाङ्गवचनमपजयप्राप्तिरिति व्याहतम्। तथान्यस्यापि प्रस्तुतेतरस्य वादिनोक्तावितरस्य स्वपक्षमसाधयतो विजयासंभवात् निग्रहस्थानमयुक्तम्। साधनाङ्गस्यावचनम्, प्रतिवादिनोऽ'प्यदोषस्योद्भावनं दोषस्यानुद्भावनं'[4] वा अनेन प्रत्युक्तम्। विजिगीषुणोभय कर्त्तव्य स्वपरपक्षसाधनदूषणम्। अतोऽन्यतरेणासिद्धानैकान्तिकवचनेऽपि जल्पापरिसमाप्तिः ॥ ७ ॥

§ 7 ननु भो वत्स, मदीय मतं न बाध्यते, अन्येषा कि बाध्यते, अत आह— त्वद् युष्मन्मतमेव आगम एव अमृतं सर्वात्मप्रदेशसुखकारणं दुःखनिवृत्तिलक्षणस्य परमानन्दमुक्तिसुखस्य निमित्तं वा मतं अमृतं तस्माद् बाह्या बहिर्भूता मिथ्यादृष्टयः त्वन्मतामृतबाह्याः. तेषां त्वन्मतामृतबाह्यानां युष्मदागमद्विषताम्। सर्वथा सर्वप्रकारैः स्वरूपपररूपविधिप्रतिषेधात्मके एकान्त एकं धर्मं नित्यत्वादिकमेव वदितुं शीलं येषां ते सर्वथैकान्तवादिनः. तेषां सर्वथैकान्तवादिनां एकस्वभावाभ्युपगच्छताम्। आप्ताः सर्वज्ञाः इति अभिमान गर्वः अहङ्कार तेन दग्धाः भस्मसात्कृताः प्रलयं नीताः, तेषां आप्ताभिमानदग्धानाम्। स्वस्य आत्मनः इष्टं मतं स्वेष्टं आत्माभ्युपगतप्रमाणप्रमाणफलं सर्वं वस्तु। दृष्टेन प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षप्रमितेन अनेकान्तात्मवस्तुना वा, बाध्यते विरोधमुपनीयते अन्यथा क्रियत इत्यर्थः। किमुक्तं भवति—भवदागमबाह्या आप्ताभिमानदग्धाः सर्वथैकान्तवादिनः तेषां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते। धर्मकीर्तिमतनिरासार्थमन्वयव्यतिरेकावुक्तवानाचार्यः। द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकानुग्रहार्थं वा ॥ ७ ॥

§ 7 जो लोग आपके मतरूपी अमृतसे —अनेकान्तात्मक-वस्तुतत्त्वके प्रतिपादक आगम (शासन) से, जो कि दुःखनिवृत्ति-लक्षण परमानन्दमय मुक्ति-सुखका निमित्त होनेसे अमृतरूप है— बाह्य हैं —उसे न मान कर उससे द्वेष रखते हैं—, सर्वथा एकान्तवादी हैं —स्वरूप पररूप तथा विधि-निषेधरूप सभी प्रकारोंसे एक ही धर्म नित्यत्वादिको मानने एवं प्रतिपादन करनेवाले हैं— और आप्ताभिमानसे दग्ध हैं —वस्तुतः आप्त-सर्वज्ञ न होते हुए भी 'हम आप्त हैं' इस अहंकारसे भुने हुए अथवा जले हुएके समान हैं—, उनका जो अपना इष्ट है —सर्वथा एकान्तात्मक अभिमत है— वह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है —प्रत्यक्षमें कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य या अनित्यरूप, सर्वथा एक या अनेकरूप, सर्वथा भाव या अभावरूप इत्यादि नजर नहीं आती— अथवा यों कहिये कि प्रत्यक्ष-सिद्ध अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्वके साथ साक्षात् विरोधको लिये हुए होनेके कारण अमान्य है ॥ ७ ॥

8) कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥ ८ ॥

§ 8 निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था नान्यथेति दर्शयन्नुभयमाह— कर्मफलसंबन्धपरलोकादिकमेकान्तवादिना प्रायेणेष्टम्, तदनेकान्तप्रतिषेधेन बाध्येत। ततोऽनुष्ठानमभिमतव्याघातकृत्, सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तेषु कस्यचित् कुतश्चित् कदाचित् क्वचित्प्रादुर्भावासंभवात्। न हि सर्वात्मना सर्वस्य भूतावेव जन्म विरुद्धम्, अपि तु सर्वथाभावेऽपि, व्यलीकप्रतिभासानामनुपरमप्रसङ्गात्। न केवलं स्वभावनैरात्म्य एवायं दोषः किं त्वन्तरुभयत्र

3 P —नाप्य—। 4 P —नुद्भव—।

वा निरन्वयसत्त्वेऽपि[1] कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणत्वानुपपत्तेश्चिरतरातीतवत् । सत्यभवतः स्वयमेव नियमेन पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वं विरुद्ध कालान्तरेऽपि किं न स्यात्, तदभावाविशेषात् समनन्तरवत् । समर्थे सत्यभवत पुन॰ कालान्तरभाविनस्तत्प्रभवाभ्युपगमे कथमक्षणिकेऽर्थक्रियानुपपत्ति॰ तत्सत्त्वासत्त्वयोरविशेषात् । कारणसामर्थ्यापेक्षिणः [2]फलस्य कालनियमकल्पनायामचलपक्षेऽपि समानः परिहार॰ । क्षणवर्तिन एकस्मात्कारणस्वभावमभेदयता विचित्रकर्मणामुत्पत्तौ कूटस्थेऽपि किं न स्यात् क्रमशः [3]कार्योत्पत्तिः । कथमत्रोत्पत्तिर्नाम, तत्र समानः पर्यनुयोगः, सदसतोरनुत्पत्तेः, निष्पन्नखपुष्पवत् । सतः पुनर्गुणान्तराधानमनेकं क्रमशोऽप्यनुभवतः किं विरुद्धचेत, क्षणस्थायिनः कस्यचिदेव ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यानभ्युपगमेऽपि संविदितज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारविवेकं परोक्षं बिभ्राणस्य सामर्थ्यप्राप्त॰ । अन्यथा शून्यसंविदोर्विप्रतिषेधात् । तदयं क्षणस्थायिकारण स्वसत्ताया कार्यं कुर्वदभ्युपगच्छन् क्रमोत्पत्तिमुपरुणद्धि, सकलजगदेकक्षणवृत्तिप्रसङ्गात् । कारणस्य कार्यकालप्राप्तौ क्षणभङ्गभङ्गानुषङ्गात् । तदप्राप्नुवतस्तत्कृतौ व्यलीककल्पनाविशेषेण कूटस्थानतिशायनात् । ततः सुभाषितं कुशलाद्यसंभूतिरेकान्तग्रहरक्तेष्विति ॥ ८ ॥

§ 8 परवादिस्वेष्टस्य दृष्टेन बाधा प्रदर्श्य इदानी स्वेष्टेन स्वेष्टस्य बाधा दर्शयितुमाह—कुशल सुखनिमित्तम्, अकुशल दु॰खहेतुकम्, कर्म मिथ्यात्वासंयमकषाययोगकारणसंचितपुद्गलप्रचय. । कुशल चाकुशलं च कुशलाकुशल कर्म शुभाशुभमित्यर्थ । परलोको भवान्तरगतिरन्यजन्म । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थ । तेन तत्फलबन्धमोक्षेहलोकादयो गृह्यन्ते । नशब्द प्रतिषेधार्थं । क्वचित् केषुचित् । एक एवान्तो धर्म एकान्त. तस्य ग्रहणमभ्युपगमो ग्रह. एकान्तग्रह तस्मिन् तेन वा रक्ता रञ्जिता प्रविष्टा भक्ता एकान्तग्रहरक्ता । अथवा ग्रह इव ग्रह. तेन व्याकुलिता तेषु एकान्तग्रहरक्तेषु । नाथ स्वामिन्, श्रद्धावचनमेतत् । स्वश्चात्मा च परे चान्ये च स्वपरे तेषा वैरिण शत्रव. तेषु स्वपरवैरिषु । किमुक्त भवति—हे नाथ अर्हन् एकान्तग्रहरक्तेषु स्वपरवैरिषु केषुचिदपि शुभाशुभकर्म नास्ति । परलोकादयश्च न सन्ति । एकान्ततत्त्वग्रहणात् । यद्यपि पक्षान्तरर्भूतो हेतुस्तथापि पृथग्द्रष्टव्य । अन्तर्व्याप्तिसग्रहात् । न केवलमेकान्तवादे कुशलाकुशलादिक कर्म न घटते किंतु प्रमाणप्रमेयपक्षविपक्षहेतुहेत्वाभासदूषणाभासादिकमपि, सर्वथार्थक्रियायोगात् ॥ ८ ॥

§ 8 जो लोग एकान्तके ग्रहण–स्वीकरणमे आसक्त हैं, अथवा एकान्तरूप ग्रहके वशीभूत हुए उसीके रंगमे रंगे हैं —सर्वथा एकान्त-पक्षके पक्षपाती एव भक्त बने हुए हैं और अनेकान्तको नही मानते, वस्तुमे अनेक गुण-धर्मों ( अन्तो ) के होते हुए भी उसे एक ही गुण-धर्म ( अन्त ) रूप अगीकार करते हैं—(और इसीसे) जो स्व-परके बैरी हैं —दूसरोके सिद्धान्तोका विरोध कर उन्हीके शत्रु नही, किन्तु अपने एक सिद्धान्तसे अपने दूसरे सिद्धान्तोका विरोध कर और इस तरह अपने किसी भी सिद्धान्तको प्रतिष्ठित करनेमे समर्थ न होकर अपने भी शत्रु बने हुए हैं—, उनमेंसे प्रायः किसीके भी यहाँ अथवा किसीके भी मतमे, हे वीर भगवन् ! न तो कोई शुभ कर्म बनता है, न अशुभ कर्म, न परलोक (अन्य जन्म) बनता है और ( चकारसे ) यह लोक (जन्म) भी नहीं बनता, शुभ-अशुभ कर्मोंका फल भी नहीं बनता और न बन्ध तथा मोक्ष ही बनते है —किसी भी तत्त्व अथवा पदार्थकी सम्यक् व्यवस्था नही बैठती । और इस तरह उनका मत

---

8) 1. P –पि न कार्य– । 2. C कार्यस्य । 3. P –यात् कार्यो– ।

प्रत्यक्षसे ही बाधित नहीं, बल्कि अपने इष्टसे अपने इष्टका भी बाधक है। व्याख्या— वास्तवमें प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है— उसमे अनेक अन्त— धर्म, गुण-स्वभाव, अंग अथवा अश हैं। जो मनुष्य किसी भी वस्तुको एक तरफसे देखता है— उसके एक ही अन्त— धर्म अथवा गुण-स्वभावपर दृष्टि डालता है– वह उसका सम्यग्द्रष्टा ( उसे ठीक तौरसे देखने–पहचाननेवाला ) नही कहला सकता। सम्यग्द्रष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिये और उसके सब अन्तो, अंगो, धर्मो अथवा स्वभावोंपर नजर डालनी चाहिये। सिक्केके एक ही मुखको देखकर सिक्केका निर्णय करनेवाला उस सिक्केको दूसरे मुखसे पडा देखकर वह सिक्का नही समझता और इसलिये धोखा खाता है। इसीसे अनेकान्तदृष्टिको सम्यग्दृष्टि और एकान्त दृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहा है। "अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्यय.। तत. सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः॥" –स्वम्भूस्तोत्र, श्लो० ९८। जो मनुष्य किसी वस्तुके एक ही अन्त, अंग, धर्म अथवा गुण-स्वभावको देखकर उसे उस ही स्वरूप मानता है— दूसरे रूप स्वीकार नही करता— और इस तरह अपनी एकान्तधारणा बना लेता है और उसे ही जैसे तैसे पुष्ट किया करता है, उसको 'एकान्त-ग्रहरक्त', एकान्तपक्षपाती अथवा सर्वथा एकान्तवादी कहते हैं। ऐसे मनुष्य हाथीके स्वरूपका विधान करनेवाले जन्मान्ध पुरुषोकी तरह आपसमें लडते-झगडते हैं और एक दूसरेसे शत्रुता धारण करके जहाँ परके वैरी बनते हैं वहाँ अपनेको हाथीके विषय मे अज्ञानी रखकर अपना भी अहित साधन करनेवाले तथा कभी भी हाथीसे हाथीका काम लेनेमे समर्थ न हो सकनेवाले उन जन्मान्धोंकी तरह, अपनेको वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ रखकर अपना भी अहित साधन करते हैं और अपनी मान्यताको छोड़े अथवा उसकी उपेक्षा किये बिना कभी भी उस वस्तुका ठीक काम लेनेमें समर्थ नही हो सकते, और ठीक काम लेनेके लिये मान्यताको छोड़ने अथवा उसकी उपेक्षा करनेपर स्वसिद्धान्तविरोधी ठहरते हैं, इस तरह दोनो ही प्रकारसे वे अपने भी वैरी होते हैं। नीचे एक उदाहरण-द्वारा इस बातको और भी स्पष्ट करके बतलाया जाता है—एक मनुष्य किसी वैद्यको एक रोगीपर कुचलेका प्रयोग करता हुआ देखता है और यह कहते हुए भी सुनता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोगको नशाता है और जीवनी शक्तिको बढाता है।' साथ ही, वह यह भी अनुभव करता है कि वह रोगी कुचलेके खानेसे अच्छा तन्दुरुस्त तथा हृष्ट-पुष्ट हो गया। इसपरसे वह अपनी यह एकान्त धारणा बना लेता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोग नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाकर मनुष्यको हृष्ट-पुष्ट बनाता है'। उसे मालूम नही कि कुचलेमे मारनेका—जीवनको नष्ट कर देनेका—भी गुण है, और उसका प्रयोग सब रोगो तथा सब अवस्थाओमे समानरूपसे नही किया जा सकता, न उसे मात्राकी ठीक खबर है, और न यही पता है कि वह वैद्य भी कुचलेके दूसरे मारकगुणसे परिचित था, और इसलिये जब वह उसे जीवनी शक्तिको बढानेके काममे लाता था तब वह दूसरी दवाइयोके साथमे उसका प्रयोग करके उसकी मारक शक्तिको दबा देता था अथवा उसे उन जीव-जन्तुओके घातके काममे लेता था जो रोगीके शरीरमें जीवनी शक्तिको नष्ट कर रहे हो। और इसलिये वह मनुष्य अपनी उस एकान्त-धारणाके अनुसार अनेक रोगियोको कुचला देता है तथा जल्दी अच्छा करनेकी धुनमे अधिक मात्रामे भी दे देता है। नतीजा यह होता है कि वे रोगी मर जाते है या अधिक कष्ट तथा वेदना उठाते हैं और वह मनुष्य कुचलेका ठीक प्रयोग न जानकर उसका मिथ्या प्रयोग करनेके कारण दण्ड पाता है, तथा कभी स्वय कुचला खाकर अपनी प्राणहानि भी कर डालता है। इस तरह

सापेक्ष अवस्थाओकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अथवा व्यवस्था नही वन सकती—, इसलिये जो अनेकान्तके वैरी हैं– अनेकान्तसिद्धान्तसे द्वेप रखते है– उनके यहाँ ये सव व्यवस्थाएँ सुघटित नही हो सकती । अनेकान्तके प्रतिपेधसे क्रम-अक्रमका प्रतिपेध हो जाता है, क्योकि क्रम-अक्रमकी अनेकान्तके साथ व्याप्ति है । जव अनेकान्त ही नहीं तव क्रम-अक्रमकी व्यवस्था कैमे वन सकती है ? अर्थात् द्रव्यके अभावमे जिस प्रकार गुण-पर्यायकी और वृक्षके अभावमे शीशम, जामुन, नीम, आम्रादिकी कोई व्यवस्था नही वन सकती उसी प्रकार अनेकान्तके अभावमें क्रम-अक्रमकी भी व्यवस्था नही वन सकती । क्रम-अक्रमकी व्यवस्था न वननेसे अर्थक्रियाका निपेव हो जाता है, क्योकि अर्थक्रियाकी क्रम-अक्रमके साथ व्याप्ति है । और अर्थक्रियाके अभावमे कर्मादिक नही वन सकते— कर्मादिककी अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति है । जव शुभ-अशुभ कर्म ही नही वन सकते तव उनका फल सुख-दु ख, फलभोगका क्षेत्र जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और कर्मोंसे वँधने तथा छूटनेकी वात तो कैसे वन सकती है ? सारांश यह कि अनेकान्तके आश्रय विना ये सव शुभाऽशुभ-कर्मादिक निराश्रित हो जाते हैं, और इसलिए सर्वथा नित्यादि एकान्तवादियोके मतमे इनकी कोई ठीक व्यवस्था नही वन सकती । वे यदि इन्हे मानते हैं और तपश्चरणादिके अनुष्ठान द्वारा सत्कर्मोका अर्जन करके उनका सत्फल लेना चाहते हैं अथवा कर्मोंसे मुक्त होना चाहते हैं तो वे अपने इस इष्टको अनेकान्तका विरोधकरके वाधा पहुँचाते हैं, और इस तरह भी अपनेको स्व पर-वैरी सिद्ध करते हैं । वस्तुत अनेकान्त, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि एकान्तनयोके विरोधको मिटाकर, वस्तुतत्त्वकी सम्यक् व्यवस्था करनेवाला है, इसीसे लोक-व्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है— विना अनेकान्तका आश्रय लिये लोकका व्यवहार ठीक वनता ही नही, और न परस्परका वैर-विरोध ही मिट सकता है । इसीलिये अनेकान्तको परमागमका वीज और लोकका अद्वितीय गुरु कहा गया है—वह सवोके लिये सन्मार्ग-प्रदर्शक है । "नीति-विरोध-ध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् । परमागमस्य वीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्त. ॥" जैनी नीतिका भी वही मूलाधार है । जो लोग अनेकान्तका सचमुच आश्रय लेते हैं वे कभी स्व-पर-वैरी नही होते, उनसे पाप नही वनते, उन्हे आपदाएँ नही सताती, और वे लोकमे सदा ही उन्नत उदार तथा जयशील वने रहते हैं ॥ ८ ॥

9) भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥ ९ ॥

§9 निष्पर्यायद्रव्यैकान्तपक्षे सर्वात्मकत्वादिदोषानुषङ्ग । कुतः पुनर्विशेषानपह्नुवीत, तत्साधनव्यभिचारात् । सविन्निर्भासभेदाद्भावस्वाभावभेदः प्रकल्प्येत, स पुनरभेदेऽप्यात्मन खण्डश प्रतिभासमानात्,[1] तदन्यत्रापि विभ्रमाभावे कोशपान विधेयम् । तदेकं चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासभेदवशाद् रूपादिव्यपदेशभाक्, ग्राह्यग्राहकसंवित्तिवत् । इतरेतराभावविकल्पोऽपि कथमयथार्थो न स्यात्, वर्णादिविकल्पवत् । न हि वस्तुव्यतिरिक्तमसन्नाम, प्रमाणस्यार्थविषयत्वात् । अभावदृष्टौ हि तदवसानकरणाभावाद्भावदर्शनमनवसर प्राप्नोति । सकलशक्तिविरहलक्षण-

9) 1. B, C प्रतिभासनात् ।

**निरुपाख्यस्य स्वभावकार्यादेरभावात्कुतस्तत्प्रमितिः। वस्तुनानात्वं बुद्ध्यादिकार्यनानात्वात् प्रतीयेत। स्वभावाभेदेऽपि विविधकर्मता[1] दृष्टा युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टिविषयक्षणवत्। शक्तिनानात्व[2] प्रसवविशेषात्। स चेदव्यभिचारी, कुतस्तद्गतिः। केवलमविद्या स्वभावदेशकालावस्था[3]भेदानात्मनि परत्र वा[4]सतः स्वयमसती[5] मिथ्याव्यवहारपदवीमुपनयति यतः क्षणभङ्गिनो भिन्नसंततयः स्कन्धा विकल्प्येरन् अन्यथा [6]वेति प्रतिभासकार्याद्यभेदेऽपि कस्यचिदेकत्वं साधयतीति साध्यसाधनयोरभेदे किं केन कृत स्यात्, पक्षविपक्षादेरभावात्। न क्वचिदसाधना साध्यसिद्धिरतिप्रसङ्गात्॥ ९॥**

§ 9 सामान्येनैकान्तवाद्यभ्युपगतस्य वा च प्रदर्श्येदानी दूषयितुमना. स्वल्पोऽपि शत्रुर्नोपेक्षणीय इति न्यायमनुसरन्प्रथमतर तावद्भावैकान्तं भस्मसात्कर्तुमाह— भाव एवेति सन्नेवेति एकान्त', असहायधर्मग्रहो भावैकान्त। सर्वथा सत्त्वाभ्युपगम इत्यर्थ। तस्मिन् **भावैकान्ते। पदार्थानाम्** पञ्चविंशतितत्त्वाना चेतनाचेतनदेवमनुजपशुनारकस्तम्भकुम्भाम्भःप्रभृतीना वा। **अभावानां** वस्तुधर्माणा हेत्वङ्गाना विशेषणमित्यर्थ., बहुवचनाच्चत्वारोऽपि परिगृह्यन्ते। **अपह्नवात्** निराकरणादित्यर्थ। किं स्यात्, सर्वं निरवशेषमात्मा स्वरूप यस्य तत् **सर्वात्मकं** विश्वमेकस्वरूपमित्यर्थ। आदिरुत्पत्ति पूर्वस्मिन्नसत्त्वम्। अन्तोऽवसान विनाशो वा। आदिश्चान्तश्चाद्यन्तौ तौ न विद्येते यस्य तत् **अनाद्यन्तमनाद्यनन्तमित्यर्थ**। स्वमात्मीयरूपमाकार स्व आत्मैव वा [रूपं स्वरूपं न विद्यते तद्यस्य तदस्वरूपम्। अभाव इत्यर्थ.। तवेद तावकं न तावक**मतावकम्**। किमुक्त भवति— पदार्थाना भावैकान्ताभ्युपगमे अतावक सर्वाद्यात्मकमनाद्य ] [7]नन्तमस्वरूपं स्यात्। कस्मात्सर्वाभावापह्नवात्॥ ९॥

§ 9 (हे वीर भगवन्!) **यदि पदार्थोंके भाव** (अस्तित्व) **का एकान्त माना जाय** —यह कहा जाय कि सब पदार्थ सर्वथा सत् रूप ही हैं, असत् (नास्तित्व) रूप कभी कोई पदार्थ नही है— **तो इससे अभाव पदार्थोंका** —प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावरूप वस्तु-धर्मोका— **लोप ठहरता है, और इन वस्तु-धर्मोंका लोप करनेसे वस्तुतत्त्व** (सर्वथा) **अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और अस्वरूप हो जाता है, जो कि आपका इष्ट नहीं है** —प्रत्यक्षादिके विरुद्ध होनेसे आपका मत नही है। (किस अभावका लोप करनेसे क्या हो जाता है अथवा क्या दोष आता है, उसका स्पष्टीकरण आगे किया गया है)॥ ९॥

10) **कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे।**
**प्रध्वसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्॥ १०॥**

§ 10 **प्रागभावानभ्युपगमे घटादेरनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यं स्यात्। कल्पयित्वापि तदभिव्यक्ति तस्या प्रागभावोऽङ्गीकर्तव्य.। तथाहि—सतः शब्दस्य ताल्वादिभिरभिव्यक्ति' प्रागसती क्रियते, न पुन शब्द एव, इति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्। सा यदि श्रवणज्ञानोत्पत्तिः, सैव[1] कथ प्राक्सती यत्नतः कर्तव्या। योग्यतायां समानश्चर्चः। तदावरणविगम. प्राक् किमभूत्, भूतो वा किं यत्नेन, विशेषाधानमपि तादृगेव, कर्मकर्तृकरणाना[2]**

9) 1 B, C विकर्मता। 2 P नानात्वे। 3 P –भेदेना–। 4 P चासत। 5. P –सता।
6 P चेति। 7 A, B [ ] चिह्नान्तर्गत. पाठो नास्ति।

10) 1 B सा च। 2. P कर्तृकर्म।

प्रागभावाभावात्। न कश्चिद्विशेषहेतुस्ताल्वादयोऽभिव्यञ्जका[3], न पुनश्चक्रादयोऽपि, इति। न हि व्यञ्जकव्यापृतिर्नियमेन व्यञ्जकं[4] संनिधापयति। नायं दोषः सर्वगतत्वाद्वर्णानामित्यपि वार्तम्, अन्यत्रापि तथाभावानुषङ्गात्। इष्टत्वाददोषोऽय चेन्न, कारणव्यापारेष्वपि चोद्यानिवृत्तेः। एतेनावस्था[5] प्रत्युक्ता। तद्विशेषैकान्ते तद्वतोऽनुपयोगः[6], तावतेतिकर्तव्यतास्यानात्। अभेदैकान्ते पूर्ववत्प्रसङ्गः। परिणामेऽप्येषः पर्यनुयोगः, तदभिन्नाना क्रमशो वृत्तिर्माभूत्। भिन्नानां व्यपदेशोऽपि माभूत्, संबन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात्। उपकारेऽपि सर्वं समानम्, अनवस्था च। तथा विनाशानभ्युपगमे तस्य किंकृतमश्रवणम्[7], तदात्मानमखण्डयतः कस्यचिदावरणत्वायोगात्। आवृतानावृतस्वभावयोरभेदानुपपत्तेः। तयोरभेदे वा शब्दस्य श्रुतिरश्रुतिर्वा इत्येकान्तः, तमसापि घटादेरखण्डने पूर्ववदुपलब्धिः किं न भवितुमर्हति। स्वसंवित्त्युत्पत्तौ कारणान्तरापेक्षा माभूत् तत्करणसमर्थस्य, अन्यथा तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्। तत्खण्डने वा स्वभावहानिरव्यतिरेकात्। व्यतिरेके व्यपदेशानुपपत्तिरिति पूर्ववत्सर्वम्। वर्णानां व्यापित्वान्नित्यत्वाच्च क्रमश्रुतिरनुपपन्नैव, समानकरणानां तादृशामभिव्यक्तिनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वेषां संकुला श्रुतिः स्यात्। वक्तृश्रोतृविज्ञानयोस्तत्कारणकार्ययोः क्रमवृत्तिमपेक्ष्य परिणामिना क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योर्न किंचिद्विरुद्धं पश्यामः। सर्वगतानामेष क्रमो दुष्करः स्यात्। क्षणिकेष्वेव करणाङ्गहारादिषु प्रत्यभिज्ञानाद्विरुद्धो हेतुः। तत्क्रियैकत्वेऽपि किमिदानीमनेकं स्यात्। सर्ववर्णैकत्वप्रसङ्गात्। शक्यं हि वक्तुम्, अभिव्यञ्जकभेदाद्वैश्वरूप्यं जलचन्द्रवत्। क्वचित्प्रत्यक्षविरोधे तदन्यत्राप्यविरोध कुतः। तदयं ताल्वादिव्यापारजनितश्रावणस्वभावं परित्यज्य विपरीतस्वभावमासादयन्नपि नित्यश्चेन्न किंचिदनित्यम्। युगपत्प्रतिनियतैकदेश[8]मन्द्रतारश्रुतेः कस्यचिदेकत्वे न क्वचिदनेकत्वसिद्धिः[9]। न हि कथंचित् क्वचित् प्रत्यवमर्शो न स्याद्वर्णवत्, तच्छेषविशेषबुद्धेरभिव्यञ्जकहेतुत्वप्रक्लृप्तौ सर्वं समञ्जसं प्रेक्षामहे। तदेतेषां पुद्गलाना कारणसन्निपातोपनीत [10]श्रावणस्वभावः शब्दः पूर्वापरकोट्योरसन् प्रयत्नानन्तरीयको घटादिवत्। पुद्गलस्वभावत्वे दर्शनविस्तारविक्षेपप्रतिघातकर्णपूरणैक[11]श्रोत्रप्रवेशाद्युपालम्भो गन्धपरमाणुप्रतिविधानतयोपेक्षामर्हति। कर्णशष्कुल्यां कटकटायमानस्य प्रायशः प्रतिघातहेतोर्भवनाद्युपघातिनः शब्दस्य प्रसिद्धिरस्पर्शत्वकल्पनोमस्तं गमयति। निश्छिद्रनिर्गमनादयः सूक्ष्मस्वभावत्वात् स्नेहादिस्पर्शादिवन्न विरुध्येरन्। अतो यत्नजनितवर्णाद्यात्मा श्रावणमध्यस्वभाव प्राक् पश्चादपि पुद्गलाना नास्तीति तावानेव ध्वनिपरिणामः। [12]तत्प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपे कौटस्थ्यं क्रमयौगपद्याभ्यां स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रियां व्यावर्तयतीति निरुपाख्यमित्यभिप्रायः। तदानुपूर्वीकल्पनां विस्तरेण प्रतिक्षेप्स्यामः॥ १०॥

§ 10 अथ मत केऽभावा, कियन्तो वा, कान्यनाद्यनन्तानि[13], कस्मादभावात् किं स्यात्, आह— कार्यं च द्रव्यं च कार्यद्रव्यं वस्त्वन्यथाभाव घटादिकम्। क्रियत इति कार्यम्। अवस्थान्तर द्रवति गच्छतीति द्रव्यम्। अनादि अनन्त सर्वकालैकस्वरूप नित्यमादिरहित स्यात् भवेत्। प्राक् पूर्वस्मिन्नभाव. असत्त्व प्रागभाव। मृत्पिण्डे घटस्यासत्त्वमित्यर्थ। तस्य प्रागभावस्य निह्नवे विलोपे निराकरणे। प्रध्वंसस्य च विनाशस्य च। घटस्य कपालनाशादय ( घटस्य नाशः कपालादय ) इत्यर्थं। धर्मस्य विशेषस्य गुणस्य। प्रच्यवे अभावे निराकरणे। अनन्तस्य भावोऽ-

---

3. P, As –यो व्यञ्जका। 4 As व्यङ्ग्य। 5 P –नानवस्था। 6. P –नुयोगः। 7. P–श्रावण। 8. As नियतदेश–। 9 A,B,C –दनित्यत्वसिद्धि। 10 As–तोपनिपाते। A,B,C –पजनित–। 11 P श्रोतप्रदेश–। 12 P तत। 13. A,B –तादीनि।

नन्तता ताम् अनन्ततामपर्यवसान सर्वकालकार्यमिति सबन्धनीयम् । व्रजेत् गच्छेत् । किमुक्त भवति—प्रागभावस्य निह्नवो यदि स्यात्कार्यद्रव्यमनादि स्यात् । प्रध्वसाभावस्य चाभावे तदेव कार्यद्रव्यमनन्तता व्रजेत् ॥ १० ॥

§ 10 **प्रागभावका यदि लोप किया जाय—** कार्यरूप द्रव्यका अपने उत्पादसे पहले उस कार्यरूपमे अभाव था, इस बातको न माना जाय— **तो वह कार्यरूप द्रव्य** —घटादिक अथवा शब्दादिक– **अनादि ठहरता है** —और अनादि वह है नही, एक समय उत्पन्न हुआ, यह बात प्रत्यक्ष है । **यदि प्रध्वंस धर्मका लोप किया जाय** —कार्यद्रव्यमे अपने उस कार्यरूपसे विनाश-की शक्ति है और इसलिए वह बादको किसी समय प्रध्वसाभावरूप भी होता है, इस बातको यदि न माना जाय— **तो वह कार्यरूप द्रव्य** —घटादिक अथवा शब्दादिक— **अनन्तता-अविनाशिताको प्राप्त होता है** —और अविनाशी वह है नही, यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, प्रत्यक्षमे घटादिक तथा शब्दादिक कार्योका विनाश होते देखा जाता है । अत प्रागभाव और प्रध्वसाभावका लोप करके कार्यद्रव्यका उत्पत्ति और विनाश-विहीन सदासे एक ही रूपमे स्थिर (सर्वथा नित्य) मानना प्रत्यक्ष-विरोधके दोषसे दूषित है और इसलिए प्रागभाव तथा प्रध्वसाभावका लोप किसी तरह भी समुचित नही कहा जा सकता । इन अभावोको मानना ही होगा ॥ १० ॥

11) **सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे ।**
**अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥ ११ ॥**

§ 11 **स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहः । सविदो ग्राह्याकारात्कथंचिद्व्यावृत्तावनेकान्तसिद्धिः, अन्यथा सबन्धासिद्धिः । अव्यावृत्तावन्यतरस्वभावहानेर्न किंचित्स्यात्, विषयाकारविकलस्यानुपलब्धे. । सवित्तेः स्वलक्षेणप्रत्यक्षवृत्तावपि संवेद्याकारविवेकस्वभावान्तरानुपलब्धेः स्वभावव्यावृत्तिः । शबलविषयनिर्भासेऽपि लोहितादीना परस्परव्यावृत्तिरन्यथा चित्रप्रतिभासासंभवात्, तदन्यतमवत्तदालम्बनस्यापि नीलादेरभेदस्वभावापत्तेः । तद्वतस्तेभ्यो व्यावृत्तिरेकानेकस्वभावत्वात्[1] घटरूपादिवत्, अन्यथा द्रव्यमेव स्यान्न रूपादयः । स्वाभावैकत्वेऽपि[2] निर्भासवैलक्षण्यं करणसामग्रीभेदमनुविदध्यात्, दूरासन्नैकार्थोपनिबद्धनानादर्शननिर्भासवत् । प्रतिपुरुषं विषयस्वभावभेदो वा सामग्रीसबन्धभेदात् । अन्यथा न केवलं रूपादेरभेदः । कस्यचित्क्रमशः सबन्ध्यन्तरोपनिपातोऽपि स्वभाव न भेदयेत् । तत. क्रमवन्त्यपि कार्याणि तत्स्वभावभेदं नानुमापयेयु. । ततो यावन्ति सबन्ध्यन्तराणि तावन्त. प्रत्येकं भावस्वभावभेदाः परस्परव्यावृत्ताः । न हि कस्यचित्केनचित् साक्षात्परम्परया वा सबन्धो नास्ति, निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात् । तदेवं प्रतिक्षणमनन्तपर्यायाः प्रत्येकमर्थसार्थाः । क्रमशोऽपि विच्छेदे, अर्थक्रियानुपपत्तेः । स्वयमसतस्तत्स्वतः[3] क्वचिदुपकारितानुपपत्तेः । कारणस्य स्वकार्यात्मना भवत. प्रतिक्षेपायोगात्, स्वभावान्तरानपेक्षणात्[4] । तस्मादयमुत्पित्सुरेव विनश्यति । नश्वर एव तिष्ठति । स्थास्नुरेवोत्पद्यते । ततः प्रतिक्षण त्रिलक्षणं—स्थितिरेवोत्पद्यते । विनाश एव तिष्ठति । उत्पत्तिरेव नश्यति । स्थितिरेव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनंक्ष्यति[5] । विनाश एव स्थास्यति, उत्पत्स्यते, विनंक्ष्यति[6] । उत्पत्तिरेव उत्पत्स्यते, विनंक्ष्यति[7], स्थास्यतीति न कुतश्चिदुपरम इति । भाव[8]**

11) 1 P –त्वात्, रूपादि– । 2 P –भाविकत्वे । 3 P स्वभावमसतन्वत – । 4 As –णवत् । 5, 6, 7. P विनश्यति । 8. As –रमति । भाव एव– । P इति भाव ।

एव द्रवति, द्रोष्यति, अदुद्रवत् सत्तैव विशेष्यते द्रव्यक्षेत्रकालभावात्मना । तत परस्परव्यावृत्तस्वभावाननन्तगुणपर्यायान् प्रतिक्षणमासादयन्ती सत्तैव तिष्ठतीत्यादि योज्यम् । तथा भेदानेव संद्रवन्तीत्यादि प्रतिपत्तव्यम् । अत्यन्ताभावापाकृतौ न क्वचित्किंचित् कथंचित् न वर्तेत तथा सर्वं सर्वत्र सर्वथोपलभ्येत[9] । कथं पुनरभावप्रतिपत्ति , कथ च न स्यात् । प्रत्यक्षस्य रूपादिस्वलक्षणविषयत्वात् । प्रमाणान्तरस्यापि स्वकारणविषयत्वादसतोऽनुपलब्धेः[10] । पर्युदासवृत्त्या वस्तुनि नियमात् । एकस्य कैवल्यम्, इतरस्य वैकल्यमिति ब्रुवन्नपि देवानांप्रियो नावधारयति भावाभावप्रतिपत्तेरभावाभ्युपगमात् । स्वपररूपादिभावाभावलक्षणत्वात् सर्वस्य निःश्रेणीपदबन्धाभ्यामिव भावाभावस्वभावाभ्या प्रतिबन्धान्न किंचित्प्रमाण सर्वात्मना भावमभाव वा गृहीतुमर्हति अनियमप्रसङ्गात् । भावप्रमेयैकान्तवादिनामभावप्रतिपत्तिरयुक्ति', अतो न भावनियमप्रतिपत्ति[11], तत्प्रमेयतोपसख्यान प्रमाणद्वयनियमं विघटयति । भावनैरात्म्यस्य प्रमाणाकारणत्वात् प्रतिबन्धनियमोऽपि माभूत् ॥ ११ ॥

§ 11. तृतीयचतुर्थाभावस्वरूप तदभावे च यद्भवति (तदाह)— सर्वो विश्वो निरवशेष आत्मा स्वरूप यस्य तत् सर्वात्मकम् । तत् किंचिद्वस्तु विवक्षितरूपम् । एकम् अभेदरूपम् स्यात् भवेत् । अन्यस्य अपरस्य अपोहो निराकरण तस्य व्यतिक्रम· निह्नव निराकृति स तथाभूत तस्मिन् अन्यापोहव्यतिक्रमे इतरेतराभावाभावे इत्यर्थ । अन्यत्र अत्यन्ताभावाभावे । समवायेन मीलनेन समुदायेन । व्यपदिश्येत कथ्येत अभ्युपगम्येत । सर्वथा सर्वप्रकारै । खरविषाणादि । अथानयोरभावयोः को विशेषः, इति चेत्, घटे पटाभाव इतरेतराभाव । कदाचित्कालान्तरे तत् तेन स्वरूपेण भवति । शक्तिरूपेण विद्यमानत्वात् । अत्यन्ताभाव पुनर्जीवत्वेन पुद्गलस्याभाव· कदाचिदपि तेन स्वरूपेण न भवति । एतदुक्त भवति—अन्यापोहव्यतिक्रमे सति, किंचिद्विवक्षित सर्वात्मकमेक भवति । अत्यन्ताभावाभावे पुनरैक्येन सर्वप्रकारैर्व्यपदिश्येत । ततो न किंचित्स्यात् ॥ ११ ॥

§ 11 यदि अन्याऽपोहका —अन्योन्याभावरूप पदार्थका— व्यतिक्रम किया जाय —वस्तुके एक रूपका दूसरे रूपमे अथवा एक वस्तुका दूसरी वस्तुमे अभाव है, इस बातको न माना जाय— तो वह प्रवादियोंका विवक्षित अपना-अपना इष्ट एक तत्त्व (अनिष्टतत्त्वोंका भी उसमे सद्भाव होनेसे) अभेदरूप सर्वात्मक ठहरता है —और इसलिए उसकी अलगसे कोई व्यवस्था नहीं बन सकती । यदि अत्यन्ताभावका लोप किया जाय —एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे सर्वथा अभाव है, इसको न माना जाय— तो एक द्रव्यका दूसरेमे समवाय-सम्बन्ध (तादात्म्य) स्वीकृत होता है और ऐसा होनेपर यह चेतन है, यह अचेतन है इत्यादि रूपसे उस एक तत्त्वका सर्वथा भेदरूपसे कोई व्यपदेश ( कथन ) नहीं बन सकता ॥ ११ ॥

12) अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम् ।
बोधवाक्यं प्रमाण न केन साधनदूषणम् ॥ १२ ॥

§ 12 बहिरन्तश्च परमार्थसत्, तदन्यतरापायेऽपि साधनदूषणप्रयोगानुपपत्तेरिति प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ किं त्रिलक्षणकल्पनया[1] । न हि संवृत्या साध्यसाधनव्यवस्था युक्तिमती । शून्यसिद्धेरपरमार्थत्वे पुनरनिराकृतसद्भावस्य सर्वस्याशून्यतानुषङ्गात् । समारोपव्यवच्छेदेऽपि

9 P सर्वदोप– । 10 P–त्वादतशोऽनुप– । 11 P भावप्रति– ।

12) 1. P –विकल्प– । As –परिकल्प– ।

समानम् । हेयोपादेयोपायरहितमयमह्लोकः केवलं विक्रोशति । संवृत्यास्तीति स्वरूपेणेत्ययमर्थः तदा कृतमनुकूलम्, केवलं वक्ता आत्मनो वैयात्यं सूचयति । अथ पररूपेण नास्ति, नाम्नि विवादात् । एतदपि तादृगेव । तदेतेनोभयानुभयविकल्पः प्रत्युक्तः । अथ तदस्ति मृषात्मनेति समानश्चर्चं, संवृत्तिविचारानुपपत्तिरित्ययुक्तम्, तदभावात् [2]तत्प्रतिपादनार्थं शास्त्रमुपदिशन्नुपदेष्टा [3]वा वर्णयन् सर्वं प्रतिक्षिपतीति कथमनुन्मत्तः । शौद्धोदनेरेव तावत्प्रज्ञापराधोऽयं लोकातिक्रान्तः कथं बभूवेत्यतिविस्मयमास्महे । तमन्ये पुनरद्यापि कीर्तयन्तीति किं बत परमन्यत्र मोहनीयप्रकृतेः ॥ १२॥

§ 12 भावैकान्तपक्षे कुशलाकुशलकर्मादिरघटना प्रदर्श्य अभावैकान्तपक्षेऽपि भृश न घटत इति प्रदर्शयन्नाह—अभाव इति असन्निति एकान्तो मिथ्याभिप्रायोऽभावैकान्त । स एव पक्षोऽभ्युपगमस्तस्मिन्नपि **अभावैकान्तपक्षेऽपि** । न केवल भावैकान्ते किन्त्वभावैकान्तेऽपि भावस्य सत्त्वस्य अपह्नव. अभावो निराकरण त वदितु शील येषा ते तथाभूतास्तेषा **भावापह्नववादिनाम्** । बोधो ज्ञान स्वार्थानुमानम् । वाक्यम् आगम परार्थानुमानम् । बोधश्च वाक्य च **बोधवाक्यम्** । प्रमीयतेऽनेनेति **प्रमाण** स्वपरावभासक ज्ञानम् । **न** प्रतिषेधवचनम् । **केन** कतरेण । साधन च दूषण च **साधनदूषणं** द्वन्द्वैकवद्भाव । स्वपक्षसिद्धि परपक्षनिराकरणम् । भावापह्नववादिनामभावैकान्ते बोधवाक्ययोरप्यभावस्तत प्रमाणाभावात् केन साधन केन वा दूषण क्रियत इति सवन्ध ॥ १२ ॥

§ 12 **यदि अभावैकान्तपक्षको स्वीकार किया जाय** —यह माना जाय कि सभी पदार्थ सर्वथा असत्-रूप है— **तो इस प्रकार भावोका सर्वथा अभाव कहनेवालोके यहाँ** (मतमे) **बोध** ( ज्ञान ) **और वाक्य** ( आगम ) **दोनोका ही अस्तित्व नहीं बनता और दोनोका अस्तित्व न बननेसे** (स्वार्थानुमान, परार्थानुगान आदिके रूपमे) **कोई प्रमाण भी नहीं बनता; तब किसके द्वारा अपने अभावैकान्त पक्षका साधन किया जा सकता और दूसरे भाववादियोके पक्षमे दूषण दिया जा सकता है ?** —स्वपक्ष-साधन और परपक्ष-दूषण दोनो ही घटित न होनेसे अभावैकान्तपक्षवादियोके पक्षकी कोई सिद्धि अथवा प्रतिष्ठा नही बनती और वह सदोष ठहरता है, फलत' अभावैकान्तपक्षके प्रतिपादक सर्वज्ञ एव महान् नही हो सकते ॥ १२ ॥

13) **विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।**
**अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ १३ ॥**

§ 13 भावाभावयोरेकतरप्रतिक्षेपैकान्तपक्षोपक्षिप्तदोषपरिजिहीर्षया सदसदात्मकं सर्वमभ्युपगच्छतोऽपि वाणी विप्रतिषिध्येत, तयोः[1] परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वात् । [2]न हि सर्वात्मना कंचिदर्थं सन्तं तथैवासन्तमाचक्षाणः स्वस्थः, [3]स्वाभ्युपेतेतरनिरासविधानकरणात् शून्यावबोधवत् । त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधादिति वा, तदन्यथापेतमन्यथास्तीति स्याद्वादावलम्बनमन्धसर्पविलप्रवेशन्यायमनुसरति । योऽपि पक्षत्रयोपक्षिप्तदोषजिहासया सर्वथावक्तव्यं तत्त्वमवलम्बेत, सोऽपि कथमवक्तव्यं ब्रूयात् ।

---

2 As –भावात् । तत्परप्रति– । As –परिक– । 3 P चावर्ण– ।
13) 1. P तस्या । 2 A, B, C स । 3. P–युपगमेतर– ।

नैव दोषः स्वलक्षणमनिर्देश्यं प्रत्यक्षं[4] कल्पनापोढमित्यादिवत्, तदप्यसत्, यदसतः समुदाहृतम्। यथैवाक्षविषयेऽभिधानं नास्ति तथाक्षज्ञाने विषयोऽपि नैवास्ति। ततस्तत्र प्रतिभासमानेऽपि न प्रतिभासेत। न केवलं विषयबलात् दृष्टेरुत्पत्ति., अपि तु चक्षुरादिशक्तेश्च। तदर्थंवत् करणमनुकर्तुमर्हति, न वार्थम्, विशेषाभावात्। दर्शनस्य कारणान्तरसद्भावेऽपि विषया[5]कारानुकारित्वमेव, सुतस्येव पित्राकारानुकरणमित्यपि वार्तम्, स्वोपादानमात्रानुकरणत्वप्रस[6]ङ्गात्। उभयाकारानुकरणेऽपि रूपादिवदुपादानस्यापि विषयतापत्तेरतिशयाभावात्। वर्णादिर्वा तद्वदविषयत्वप्रसङ्गात्। तज्जन्मरूपाविशेषेऽपि तदध्यवसायनियमाद् बहिरर्थविषयत्वमित्यसारम्, दर्शनस्यानध्यवसायात्मकत्वात्। अदोषोऽयम्, प्रत्यक्षस्याध्यवसायहेतुत्वादित्यनिरूपिताभिधानम्, तत्राभिलापाभावात्। तदभावेऽप्यध्यवसायकल्पनाया प्रत्यक्ष किं नाध्यवस्येत्। यथैव हि प्रत्यक्षस्याभिलापसंसर्गयोग्यता नास्ति तथा तत्समनन्तरभाविनोऽपि विकल्पस्य। तथाहि— किंचित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाण क्वचिद् विशेषणविशेष्यतत्संबन्धव्यवस्थाग्रहणमपेक्षते, दण्डिवत्। न चायमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थ., प्रत्यक्षबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्, प्रत्यक्षवत्। नैतदेव शब्दार्थविकल्पवासनाप्रभवत्वान्मनोविकल्पस्य ततस्तर्हि कथमक्षबुद्धेः रूपादिविषयत्वनियमः, तदभ्युगमे वा तदभिलापससर्गोऽपि तद्वदनुमीयेत। तस्मादय किंचित्पश्यन् तत्सदृशं पूर्वदृष्टं न स्मर्तुमर्हति, तन्नामविशेषास्मरणात्। तदस्मरन्नैव तदभिधान प्रतिपद्यते। तदप्रतिपत्तौ तेन तन्न योजयति। तदयोजयन्नाध्यवस्यतीति न क्वचिद्विकल्प' शब्दो वेत्यविकल्पाभिधान जगत् स्यात्। तथाहि–बहिरन्तर्वा गृहीतमप्यगृहीतकल्पं क्षणक्षय[7]स्वलक्षणसवेदनादिवत्। तथा चायातमचेतनत्वं जगतः। सहस्मृतिरयुक्तैव तन्नामाक्षरमात्राणामपि क्रमशोऽध्यवसानात्, अन्यथा संकुला प्रतिपत्ति. स्यात्। नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्मृतौ केवलार्थव्यवसाय किं न स्यात्। तन्नामान्तरपरिकल्पनायामनवस्था। तदयमशब्द सामान्य व्यवस्यन् स्वलक्षणमपि व्यवस्येत्, भेदाभावात्, सामान्यवत् स्वलक्षणमध्यवस्यन्नभिलापेन योजयेत्। ततो न किंचित्प्रमेयमनभिलाप्य नाम। प्रत्यक्षस्यानभिलाप्यत्वे स्मार्तं शब्दानुयोजन दृष्टसामान्यव्यवसायो यद्यपेक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्, तदिन्द्रियज्ञानात्सामान्यव्यवसायो न स्यात्। प्रागिवाजनकत्वात्, तदन्तरेणापि दर्शनमय गौरिति निर्णय स्यात्। अनभिलाप्यस्य विशेषस्यानुभवे कथमभिलाप्यस्य स्मृतिरत्यन्तभेदात्। शब्दार्थयोः सबन्धस्यास्वाभाविकत्वे कथमर्थमात्र पश्यन् शब्दमनुस्मरेत्, तदर्थं वा, यतोऽय व्यवसाय। चक्षुरादिज्ञानस्य कथचिद् व्यवसायात्मकत्वाभावे दृष्टसजातीयस्मृतिर्न स्यात्। दानहिंसाविरतिचेतसः स्वर्गादिफलजननसामर्थ्यसंवेदनवत्, क्षणक्षयानुभवनवद्वा। प्रत्यक्षेऽभिलापसस्कारविच्छेदे कुतस्तद्विकल्पाभिलापसयोजन यत. सामान्यमभिलाप्यं स्यात्। [8] न च ग्राहकप्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासभेदाद्विषयस्वभावाभेदाभाव[9]। सकृदेकार्थोपनिबद्धदर्शनप्रत्यासन्नेतरपुरुषज्ञानविषयवत्। तथा च मन्दप्रतिभासिनि तत्सङ्केतव्यवहारनियमकल्पनायामपि कथचिदभिधेयत्व वस्तुनः सिद्धमित्यल प्रसङ्गेन। तस्मादवाच्यतैकान्ते यदवाच्यमित्यभिधान तदसमंजस स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत् स्ववचनविरोधात्॥ १३॥

§ 13. भावाभावैकान्ते विरोध निरूप्योभयैकान्तवादिनामपि न किंचित्सगच्छत इत्याह— **विरोधात्** व्यभिचारात् पूर्वापरासगतत्वात्। न प्रतिषेधवचनम्। एक आत्मा स्वभावो ययोस्तौ

---

4 P प्रत्येक। 5 P –यानुकार–। 6 As –करणप्र–। 7 P –क्षयल–।
8. A, B, C तत्र। 9. P –भावभेदः।

तथा तयोर्भावस्तदैकात्म्यम्। उभयो सत्त्वासत्त्वयोरैकात्म्यम् **उभयैकात्म्यं** भावाभावैक्यमित्यर्थ'। न्यायो युक्ति प्रमाणेन प्रमेयस्य घटना। स्याद्वाद एव न्याय स्याद्वादन्यायस्तस्मै विद्विषस्त वा विद्विषन्तीति स्याद्वादन्यायविद्विपस्तेपा **स्याद्वादन्यायविद्विषाम्** अनेकान्तवैरिणाम्। अथ भावाभावोभयैकान्तपक्षदोषप्रदर्शनादवाच्यतैकान्त आश्रीयते, तथापि दोष एव। अत आह—उच्यत इति वाच्य न वाच्यमवाच्य तस्य भावोऽवाच्यता सैव एकान्तोऽविद्याध्यवसायोऽवाच्यतैकान्तस्तस्मिन् **अवाच्यतैकान्ते अपि**। शब्दार्थयोरवाच्यवाचकत्वेऽपि। **उक्तिर्**वचनम्। **अवाच्यमिति** अवक्तव्यमिति। **न युज्यते** न घटते। स्याद्वादन्यायविद्विषा वादिनामुभयैकात्म्य न भवति। विरोधात्। विज्ञानशून्यवत्। तथावक्तव्यैकान्तपक्षेऽपि अवाच्यमित्येव या उक्ति सापि न युज्यते। सर्वथावाच्यत्वात्। एकशब्देन घटपटादिवत्॥ १३॥

§ 13 (भावैकान्त और अभावैकान्त दोनोकी अलग-अलग मान्यतामे दोष देखकर) **यदि भाव और अभाव दोनोका ऐकात्म्य** (उभयैकान्त) **माना जाय, तो स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोके यहाँ** —उन लोगोंके मतमे जो अस्तित्व-नास्तित्वादि सप्रतिपक्ष धर्मोमे पारस्परिक अपेक्षाको न मानकर उन्हे स्वतन्त्र धर्मोके रूपमे स्वीकार करते है और इस तरह स्याद्वाद-नीतिके शत्रु बने हुए हैं— **वह ऐकात्म्य नही बनता, क्योंकि उससे विरोध दोष आता है** —भावैकान्त अभावैकान्तका और अभावैकान्त भावैकान्तका सर्वथा विरोधी होनेसे दोनोमे एकात्मता घटित नही हो सकती। (भाव, अभाव और उभय तीनो एकान्तोकी मान्यतामे दोष देखकर) **यदि अवाच्यता** ( अवक्तव्य ) **एकान्तको माना जाय**— यह कहा जाय कि वस्तुतत्त्व सर्वथा अवाच्य ( अनिर्वचनीय या अवक्तव्य ) है— **तो वस्तुतत्त्व 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नही बनता** —इस कहनेसे ही वह 'वाच्य' हो जाता है, 'अवाच्य' नही रहता, क्योकि सर्वथा अवाच्यकी मान्यतामे कोई वचनव्यवहार घटित ही नहीं हो सकता॥ १३॥

14) **कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।**
**तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा॥ १४॥**

**§ 14. नावग्रहे[1]हादेरन्योन्यं स्वलक्षणविवेकैकान्तो जीवान्तरवत् स्वात्मन्यपि सन्तानभेदप्रसङ्गात्। अहमहमिकयात्मा विवर्ताननुभवन्ननादिनिधनः स्वलक्षणप्रत्यक्षः सर्वलोकाना क्वचिच्चित्रवित्तिक्षणे नीलादिविशेषनिर्भासवत् आत्मभूतान् परस्परतो विविक्तान् सहक्रमभाविनो गुणपर्यायानात्मसात्कुर्वन् सन्नेव। तदेकत्वाभावे नीलादिविशेषनियतदर्शननानासन्तानसवेदनक्षणवच्चित्रसंवेदनं न स्यात्। तथा क्रमवृत्तीनां सुखादीनां मतिश्रुतादीनां वा तादात्म्यविगमैकान्ते संततिरनेकपुरुषवत्। नैरन्तर्यादेरविशेषात्सन्तानव्यतिकरोऽपि किं न स्यात्। न हि नियामकः कश्चिद्विशेषः, अन्यत्र [2]अभेदपरिणामात्। असंकरे हर्षविषादादिचित्रप्रतिपत्तेरयोगात्। यथैकत्र समनन्तरावग्रहादिसदादिस्वभावसंकरपरिणामस्तथैव सर्वत्र चेतनाचेतनेषु संप्रत्यतीतानागतेषु, तत्स्वभावाविच्छित्ते.। अतः कथचित्सदेवेष्टम्। न केवलं जीवाजीवप्रभेदाः सजातीयविजातीयव्यावृत्तिलक्षणाः, किंतु बुद्धिक्षणेऽपि क्वचिद्ग्राह्यग्राहकयोः सितादिनिर्भासांशपरमाणुसंवित्तयोऽपि, परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वात्, अन्यथा स्थूलशवलावलोकनाभावात्,**

---

14) 1, P –ग्रहादे–। 2 P भेदाभेद–।

तदेकांशवत् । तथा च सकलचेतनेतरक्षणपरिणामलवविशेषाः परस्परविविक्तात्मानस्तदन्योन्याभावमात्रं जगत्, अन्यथा सर्वथैकत्वप्रसङ्गात् । अन्वयस्य विशेषापेक्षणादभावो वा । तदिष्टमसदेव कथंचित् । न हि भावाभावैकान्तयोर्निष्पर्यायमङ्गीकरणं युक्तम्, यथैवास्ति तथैव नास्तीति विप्रतिषेधात् । कथंचित्सदसदात्मक द्रव्यपर्यायनयापेक्षया । विपर्यये तथैवासंभवात् । सर्वथा जात्यन्तरकल्पनायां तदंशनिबन्धनविशेषप्रतिपत्तेरत्यन्ताभावप्रसङ्गात् । सर्वथोभयरूपत्वे वा जात्यन्तरप्रतिपत्तेरयोगात् । तथा चानवस्थादिदोषानुषङ्गः । तदिष्टं स्यादुभयम्, सद्भावेतराभ्यामनभिलापे वस्तुनः केवलं मूकत्वं जगतः स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारायोगात् । न हि सर्वात्मनानभिलाप्यस्वभावं बुद्धिरध्यवस्यति । न चानध्यवसेयं[3] प्रमितं नाम, गृहीतस्यापि त दृशस्यागृहीतकल्पत्वात्, मूर्च्छाचैतन्यवत् । सर्वात्मनाभिधेयत्वेऽपि प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्गात् । [4]तथानभिधेयत्वेऽपि सत्येतरयोरभेदः स्यात् । स्वपक्ष[5]विपक्षयोस्तत्त्वातत्त्वप्रदर्शनाय यत्किंचित्प्रणयन् वस्तु सर्वथानभिधेयं प्रतिजानातीति किमप्येतन्महाद्भुतम्, तत्कृतां वस्तुसिद्धिमुपजीवति न च तद्वाच्यतां चेति स्वदृष्टिरागमात्रमनवस्थानुषङ्गात् ॥ १४ ॥

§ 14 एकहेलया यदि सर्वथा सदसदुभयावक्तव्यरूप तत्त्व नास्ति कथ तर्हीत्याह—कथंचित् केनचित्प्रकारेण । ते तव । सदेव भाव एव । इष्ट मतमभ्युपेतम् । कथचित् केनचित्प्रकारेण । असदेव अभाव एव । तत् यदेव सत् । तथा तेनैव केनचित्प्रकारेण । उभयं सदसदात्मकम् । अवाच्यम् अवक्तव्यम् । चकारात्कथचिदित्यर्थ । नयस्य वक्तुरभिप्रायस्य योगो युक्तिर्नययोगस्तस्मान्नययोगादभिप्रायवशादित्यर्थ । न सर्वथा सर्वप्रकारैर्न । किमुक्त भवति—सदसदुभयावक्तव्य वस्तु न भवति । किन्तु केनचित्प्रकारेण ॥ १४ ॥

§ 14 ( स्याद्वाद न्यायके नायक हे वीर भगवन् ! ) आपके शासनमे वह वस्तुतत्त्व कथञ्चित् ( किसी प्रकारसे ) सत्-रूप ही है, कथञ्चित् असत्-रूप ही है, कथञ्चित् उभयरूप ही है, कथञ्चित् अवक्तव्यरूप ही है ( चकारसे ) कथञ्चित् सत् और अवक्तव्यरूप ही है; कथञ्चित् असत् और अवक्तव्यरूप ही है, कथञ्चित् सदसत् और अवक्तव्यरूप ही है यह सब नयोंके योगसे है —वक्ताके अभिप्राय-विशेषको लिये हुए जो सप्तभगात्मक नयविकल्प हैं उनकी विवक्षासे अथवा दृष्टिसे है— सर्वथारूपसे नही —नयदृष्टिको छोडकर सर्वथारूपमे अथवा सर्वप्रकारसे एकरूपमे कोई भी वस्तुतत्त्व व्यवस्थित नही होता ॥ १४ ॥

15) सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५ ॥

§ 15 स्यात्सदसदात्मकाः पदार्थाः सर्वस्य सर्वाकरणात् । नहि पटादयो घटादिवत् क्षीराद्याहरणलक्षणामर्थक्रिया कुर्वन्ति घटादिज्ञान वा । तदुभयात्मनि दृष्टान्त सुलभः । शाब्देतरप्रत्यययोरेक[1]वस्तुविषययोः एकात्मसमवेतयोः कारणविशेषवशात् परिवृत्तात्मनोः स्वभावभेदेऽपि कथचिदेकत्वमस्त्येव, विच्छेदानुपलब्धे । उपादानस्य कार्यकालमात्मानं कथंचिदनयतद्भिरतरनिवृत्ता[2]विवाविशेषात् कार्योत्पत्तावपि व्यपदेशानुपपत्तेस्तादृशा[3] स्वरूपैकत्वमस्त्येव।

---

3 P –वसाय । 4. P तथाभि– । 5 P –पक्षस्यासत्वात्– ।
15) 1 P ययोः एकानेकवस्तु– । 2. P –ताविशे– । 3. P तादृश ।

**विशेषापेक्षया तु नास्त्येव । न हि पौरस्त्यः पाश्चात्यः स्वभावः पाश्चात्यो वा पौरस्त्यः । निरपेक्षस्तत्र क्रमोऽपि प्रतिभासातिशयवशात् प्रकल्प्येत, तदेकत्वादक्रमः किं न स्यात् । तदेकानेकाकारम्, अक्रमक्रमात्मकम्, अन्वयव्यतिरेकरूपम्, सामान्यविशेषात्मकम्, सदसत्परिणामम्, स्थित्युत्पत्तिविनाशात्मकम्, स्वप्रदेशनियतम्, स्वशरीरव्यापिनम्, त्रिकालगोचरमात्मान परं वा कथंचित् साक्षात्करोति परोक्षयति वा केशादिविवेकव्यामुग्धबुद्धिवत् । तादृशैकचैतन्यं सुखादिभेद वस्तु स्वतोऽन्यत. सजातीयविजातीयाद्विविक्तलक्षणं विभर्ति । अन्यथानवस्थानात् क्वचित्कथंचिदनियमात् ॥ १५ ॥**

§ 15 तदेव स्पष्टयति अनवस्था च निराकरोति उत्तरकारिकया—**सदेव** सत्त्वमेव । **सर्वं** निरवशेष विश्वम् । **को नेच्छेत्** को न मन्यते, कस्य नेष्टम्, किन्तु इष्टमेव सर्वस्य । स्वरूपमात्मरूप स्वस्य वा रूप तदादिर्यस्य तत्स्वरूपादि तच्चैतच्चतुष्टय चतुर्विकल्प तत्तथाभूतम् । तस्मात् **स्वरूपादिचतुष्टयात्** । कि तत् स्वद्रव्यस्वक्षेत्रस्वकालस्वभाव । तस्मात् । **असदेव** नास्तित्वमेव । **विपर्यासात्** अस्वरूपादिचतुष्टयात् । अस्वद्रव्यक्षेत्रकालभावात् । **न चेत्** यद्येव न । **न व्यवतिष्ठते** न घटते नात्मस्वरूप लभत इत्यर्थ । किमुक्त भवति—स्वरूपादिचतुष्टयात्सर्वं सदेव को नेच्छेत् । विपर्ययाद्विपर्यय को नेच्छेत् । यदि पुनर्येनैव सत्त्व तेनैवासत्त्वमिति स्यान्न किंचिदपि स्यात् ॥ १५ ॥

§ 15 ( हे वीर जिन ! ) **ऐसा कौन है जो सबको** —चेतन-अचेतनको, द्रव्य-पर्यायादिको, भ्रान्त-अभ्रान्तको अथवा स्वयके लिए इष्ट-अनिष्टको— **स्वरूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे** —स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षासे— **सत् रूप ही, और पररूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे** —परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षासे— **असत् रूप ही अंगीकार न करे ?** —कोई भी लौकिकजन, परीक्षक, स्याद्वादी, सर्वथा एकान्तवादी अथवा सचेतन प्राणी ऐसा नही है, जो प्रतीतिका लोप करनेमे समर्थ न होनेके कारण इस बातको न मानता हो। **यदि** ( स्वय प्रतीत करता हुआ भी कुनयके वश विपरीतबुद्धि अथवा दुराग्रहको प्राप्त हुआ ) **कोई ऐसा नहीं मानता है तो वह** ( अपने किसी भी इष्ट-तत्त्वमे ) **अवस्थित अथवा व्यवस्थित नही होता है**—उसकी कोई भी तत्त्वव्यवस्था नही बनती, क्योकि स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्यागकी व्यवस्थासे ही वस्तुमे वस्तुत्वकी व्यवस्था सुघटित होती है, अन्यथा नही । स्वरूपकी तरह यदि पररूपसे भी किसीको सत् माना जाय तो चेतनादिके अचेतनत्वादिका प्रसग आता है । और पररूपकी तरह यदि स्वरूपसे भी असत् माना जाय, तो सर्वथा शून्यताकी आपत्ति खडी होती है। अथवा जिस रूपसे सत्त्व है उसी रूपसे असत्त्वको और जिस रूपसे असत्त्व है उसी रूपसे सत्त्वको माना जाय, तो कुछ भी घटित नही होता। अत अन्यथा माननेमे तत्त्व या वस्तुकी कोई व्यवस्था बनती ही नही, यह भारी दोष उपस्थित होता है ॥ १५ ॥

16) **क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः ।**
**अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥ १६ ॥**

§ 16 **स्वपररूपाद्यपेक्षं सदसदात्मकं वस्तु, न विपर्यासेन, तथादर्शनात् । कल्पयित्वापि तज्जन्मरूपाध्यवसायान् स्वानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षणं दर्शनं प्रमाणयितव्यम् । तथाहि—बुद्धिरियं यया[1] प्रत्यासत्त्या कस्यचिदेवाकारमनुकरोति तया[2] तमेव नियमेनोपलभेत, नान्यथा**

16) 1. P यथा । 2. P तथा ।

पारम्पर्यपरिश्रमं परिहरेत् । त्रिलक्षणस्यापि विभ्रमहेतुफलविज्ञानैर्व्यभिचारात् । तदनभ्युपगमे स्याभ्युपगमासिद्धेः किंसाधनः परमुपालभेत । तदेकोपलम्भनियमः स्वपरलक्षणाभ्यां भावाभावात्मानं प्रसाधयति । तदभावे न प्रवर्तेत नापि निवर्तेत, प्रमाणान्तरवत् । निष्पर्यायं भावाभावाभिधानं नाञ्जसैव विषयीकरोति, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् । वचनसूचनसामर्थ्यविशेषानतिलङ्घनात् । संकेतानुविधानेऽपि कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरन्यतरव्यपदेशार्हत्वात्, अयोवाग्वज्रलेखनवत् । अन्यथाचाक्षुषत्वादयः शब्दादिधर्मा न भवेयुः । अतो यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि, तथा परिणामात् । द्रव्यपर्यायौ व्यस्तसमस्तौ समाश्रित्य चरमभङ्गत्रयव्यवस्थानम् । न खलु सर्वात्मना सामान्यं वाच्यं तत्प्रतिपत्तेरर्थक्रियां प्रत्यनुपयोगात् । न हि गोत्वं वाहदोहादावुपयुज्यते । लक्षितलक्षणया वृत्ति कथंचित्तादात्म्येन भवेत्, संबन्धान्तरासिद्धेः कार्मुकादिवत् । तादृशानुपलम्भात्सङ्केतोऽपि न सिद्धयेत् । सतापि तादृशान्यव्यावृत्त्यात्मना भवितव्यम्, अन्यथा विशेषवत्स्वभावहानिप्रसङ्गात्, विशेषाणां वा तद्वत्ततो व्यावृत्तेः । न चान्यापोहः सर्वथायं शब्दस्य विकल्पस्य वा । साधनवचनेन नित्यत्वसमारोपव्यवच्छेदे स्वलक्षणस्यानित्यत्वासिद्धौ साधनवचनानर्थक्यात् । विकल्पाभिधानयोर्वस्तुसंस्पर्शाभावे स्वलक्षणदर्शनस्याकृतनिर्णयस्य वस्तुसंनिधेरविशेषात् किं केन प्रमितं स्यात् । न हि मिथ्याध्यवसायेन तत्त्वव्यवस्थानम् । वस्तुदर्शनसमारोपव्यवच्छेदयोरन्यतरस्यापि स्वतस्तत्त्वापरिनिष्ठितधितरेतराश्रयदोष । समयादर्शिनोऽपि क्वचिदन्वयबुद्ध्यभिधानव्यवहारोऽतत्कार्यकारणव्यतिरेकव्यवस्थायां गुडूच्याद्युदाहरणप्रपञ्चमपि विपर्यासयति ॥ १६ ॥

§ 16 शेषभङ्गप्ररूपणार्थमाह—क्रमेण परिपाट्या अर्पितं विवक्षितं क्रमार्पितं तच्च तद्द्वयं द्वितयं क्रमार्पितद्वयं तस्मात्क्रमार्पितद्वयात् । द्वाभ्यामितं द्वीतं द्वीतमेव द्वैतं द्वयात्मकमस्तित्वनास्तित्वस्वरूपं क्रमविवक्षितस्वपरचतुष्टयादस्तित्वनास्तित्वस्वरूपमित्यर्थः । सह युगपत् एकहेलया विवक्षितस्वपरचतुष्टयादित्यर्थं । यद्यपि द्वयशब्द समासान्तर्भूतस्तथापि तेन सबन्धोऽस्याश्रुतत्वात् । अवाच्यं अवक्तव्यमुच्चारयितुमशक्यमित्यर्थं । कुत । अशक्तितः असामर्थ्यात् । अवक्तव्यमवाच्यमुत्तरं परं येषां भङ्गाना तेऽवक्तव्योत्तराः । शेषा अन्ये । त्रयो भङ्गास्त्रयो विकल्पा.। स्वहेतुतः स्वकीयकारणात् । के ते स्वहेतव', स्वरूपादिचतुष्टयात्सहविवक्षितस्वरूपादिचतुष्टयाच्चास्ति चावक्तव्यम् । तथा पररूपादिचतुष्टयात् युगपद्दर्शितस्वपररूपादिचतुष्टयाच्च नास्ति चावाच्यम् । तथा क्रमार्पितस्वरूपादिचतुष्टयाद्युगपद्विवक्षितस्वपररूपादिचतुष्टयाच्चास्ति नास्ति चावक्तव्यं च । किमुक्त भवति—स्वहेतो' स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति च, स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्ति चावक्तव्यम्, स्यान्नास्ति चावक्तव्यम्, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्य च वस्तुत इत्यर्थं' ॥ १६ ॥

§ 16 वस्तुतत्त्व कथञ्चित् क्रम-विवक्षित स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा द्वैत —( उभय ) रूप सदसद्रूप अथवा अस्तित्वनास्तित्वरूप— है और कथञ्चित् युगपत् विवक्षित स्व-परचतुष्टयकी अपेक्षा कथनमें वचनकी अशक्ति—असमर्थताके कारण अवक्तव्यरूप है । ( इन चारोंके अतिरिक्त ) सत्, असत् और उभयके उत्तरमें अवक्तव्यको लिए हुए जो शेष तीन भंग —सदवक्तव्य, असदवक्तव्य और उभयावक्तव्य— हैं वे ( भी ) अपने-अपने हेतुसे कथञ्चित् रूपमें सुघटित हैं —अर्थात् वस्तुतत्त्व यद्यपि स्वरूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षा कथञ्चित् अस्तिरूप है तथापि युगपत् स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा कहा न जा सकनेके कारण अवक्तव्यरूप भी है और इसलिए स्यादस्त्यवक्तव्यरूप है, इसी तरह स्यान्नास्त्यवक्तव्य और स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य इन दो भंगोको भी जानना चाहिए ॥ १६ ॥

17) **अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।**
**विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥ १७ ॥**

**§ 17 सर्वमित्यमनित्यं वेति[1] प्रतिज्ञाय अभिप्रेत्य वा प्रमेयत्वादिहेतूपादानेऽपि व्यतिरेकोऽस्त्येव, प्रमेयत्वस्य वस्तुधर्मत्वात् । खपुष्पादयोऽपि तत्र व्यवहारमिच्छता प्रमेयाः प्रतिपत्तव्या इति न किंचित्प्रमाण प्रमेयाभावस्यापि तथाभावानुषङ्गेणाव्यवस्थाप्रसङ्गात् । न चैतद्विरुद्धम्, स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत् । दर्शने स्वाकारमनर्पयता स्वभावकार्यप्रतिबन्धाभावे प्रमेयत्वं प्रमाणान्तरमवश्यमाकर्षयति । ततो विप्रतिषिद्धमेतत् । न च स्वलक्षणमेवान्यापोहः सर्वथाविधिनियमयोरेकतानत्वासंभवात् । तत्स्वभावभेदाभावे च सङ्केतविशेषानुपपत्तेः अभिधानप्रत्ययविशेषोऽपि माभूत्तदन्यतरवत् । ततो यावन्ति पररूपाणि प्रत्येकं तावन्तस्ततः परावृत्तिलक्षणाः स्वभावभेदाः प्रतिक्षणं प्रत्येतव्याः । यदि संबन्ध्यन्तराणि भावस्वभावभेदकानि न स्युस्तदा नित्यत्वेऽपि कस्यचित्संबन्ध्यन्तरेषु कादाचित्केषु क्रमशोऽर्थक्रिया न वै विप्रतिषिध्येत् । शक्यं हि वक्तु क्रमवर्तीनि कारणानि तत्तन्निर्वर्तनात्मकानि, इति नित्यं स्वभावं न वै जहाति, क्षणिकसामग्रीसन्निपातैकतमवत् । तदेतत्तदा तदा तत्तत्कर्तुं समर्थमेकं स्वभावमविचलितं बिभ्राणं सहकारिकारणानि स्वभावस्याभेदकानि नानाकार्यनिबन्धनानि कादाचित्कानि प्रतीक्षते[2] इति । तदिमेऽर्था विधिप्रतिषेधाभ्या संप्रतिबद्धा[3] न प्रतिबन्धमतिवर्तन्ते वस्तुत एव । ततो न संवृतिस्तद्व्यवहाराय भेदमावृत्य तिष्ठतीति युक्तम् । तदनेकस्वभावाभावे विनिर्भासासंभवादात्मनि परत्र चासंभविनमाकारमादर्शयतीति मुग्धायते सर्वत्रासहायरूपानुपलब्धेः । तदियं संवृतिः सामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यभावादिव्यवहारनिर्भासान् बिभ्रती स्वयमनेकरूपतां प्रतिक्षिपन्तं व्यवस्थापयति । तद्वद्भावान्तराणामनेकान्तात्मकत्वे[4] वास्तवो [5]साधर्म्यवैधर्म्यादिस्थितिरविशेषेण विकल्पबुद्धेर्मिथ्यात्वं प्रतिजानन्तं प्रतिक्षिपत्येव । यत्पुनरेतदन्यतो व्यावृत्तिरनात्मिकैवेति, तन्न, चक्षुरादिज्ञानस्य निर्व्यवसायात्मकस्य स्वयमभूताविशेषात् । निर्णयस्य भावस्वभावासंस्पर्शिनः सर्वथा वस्तुतत्त्वापरिच्छेदादिदमित्थ[6]मेवेति स्वयमेकान्तानुपपत्तेः । अतोऽयं भावः[7] स्वभावभेदान् विधिप्रतिषेधविषयान् बिभ्राणः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसमधिगतलक्षणः प्रतीयते । तस्माद्यद्विशेषण तत्प्रतिषेध्याविनाभाव क्वचिद्धर्मिणि, यथा साधर्म्यं भेदविवक्षया कृतकत्वादौ, विशेषणं चास्तित्वम्, ततः प्रतिषेध्यधर्मप्रतिबन्धि ॥ १७ ॥**

§ 17 अस्तित्वादीन् धर्मान् युक्तित समर्थ्य, अधुना तेषामेकस्मिन्नधिकरणेऽवस्थानस्य विरोधमन्तरेण परस्परपरिहारेण रूपादीनामिव युक्तित समर्थनार्थमाह—**अस्तित्वं** सत्त्वम् । **प्रतिषेध्येन** नास्तित्वेन । **अविनाभावि** नास्तित्वेन विना न भवति पृथग्भूत नोपलभ्यत इत्यर्थ । धर्मा अस्य सन्ति धर्मी एकश्चासौ धर्मी च तस्मिन्नेकधर्मिणि । **विशेषणत्वात्** उपाधिवशात् । समानो धर्म सधर्मस्तस्य भाव **साधर्म्यमन्वय** । **यथा** दृष्टान्तप्रदर्शक । **भेदस्य विवक्षा**र्पणा **तया** इत्यर्थ. । एकधर्मिणि शब्दादौ अस्तित्व नास्तित्वाविनाभावि । कुत. विशेषणत्वात् । यथा कृतकत्वादौ साधर्म्यं वैधर्म्येण विना न भवति । यद्विशेषण तत्प्रतिषेध्याविनाभावि, यथा साधर्म्यं व्यतिरेकविवक्षया,।द्रुमादौ (शब्दादौ) विशेषण चास्तित्वम् । तस्मात्प्रतिषेध्यधर्माविनाभावि ॥१७॥

17) 1. P चेति । 2 P प्रतीक्ष्यन्ते । 3 P –वत् ह्यन– । 4. P –कात्मकत्वे । 5. P साधर्म्यादि– । 6. P –छेदादच्छमे– । 7 P स्वभावः ।

§ 17 **एक धर्मीमे अस्तित्वधर्म नास्तित्वधर्मके साथ अविनाभावी है**—नास्तित्वधर्मके बिना अस्तित्वधर्म नही बनता— **क्योंकि वह विशेषण है** —जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्यके ( प्रतिपक्षधर्मके ) साथ अविनाभावी होता है— **जैसे कि** ( हेतु-प्रयोगमे ) साधर्म्य ( अन्वय-हेतु ) **भेद-विवक्षा** ( वैधर्म्य अथवा व्यतिरेक-हेतु )— **के साथ अविनाभाव-सम्बन्धको लिए रहता है** —व्यतिरेक ( वैधर्म्य ) के बिना अन्वय ( साधर्म्य ) और अन्वयके बिना व्यतिरेक घटित नही होता ॥ १७ ॥

18) **नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।**
**विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाभेदविवक्षया ॥ १८ ॥**

§ 18 **भेदाभेदविवक्षयोरवस्तुनिबन्धनत्वे विपर्यासोऽपि किं न स्यात् । ततः समञ्जसमेतत्, यत्किंचिद्विशेषणं तत् सर्वमेकत्र प्रतिपक्षधर्माविनाभावि, यथा वैधर्म्यमभेदविवक्षया हेतौ, तथा च नास्तित्वं विशेषणम्, अन्यथा व्यवहारसंकरप्रसङ्गात् । न हि स्वेच्छाप्रक्लृप्तधर्मधर्मिव्यवस्थायां परमार्थावतारः स्यात् । तदसमीक्षिततत्त्वार्थैर्लोकप्रतीतिवशाद्भेदाभेदव्यवस्थितिस्तत्त्वप्रतिपत्तये समाश्रियत इति, बालाभिलापकल्पम्, भावस्वभावोपरोधात् ॥ १८ ॥**

§ 18 तथा नास्तित्वं प्रतिषेध्येनास्तित्वेनाविनाभावि विशेषणत्वात् । यथा वैधर्म्यमभेद**विवक्षया** । यत्किंचित् विशेषणं तत्सर्वमेव प्रतिपक्षधर्माविनाभावि, यथा वैधर्म्यं साधर्म्यविवक्षया । हेतोर्विशेषणं च नास्तित्वम् ॥ १८ ॥

§ 18 ( इसी तरह ) **एक धर्मीमे नास्तित्वधर्म अपने प्रतिषेध्य** —( अस्तित्व ) **धर्मके साथ अविनाभावी है** —अस्तित्वधर्मके बिना वह नही बनता— **क्योंकि वह विशेषण है** —जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्य ( प्रतिपक्ष ) धर्मके साथ अविनाभावी होता है— **जैसे कि** ( हेतु-प्रयोगमे ) **वैधर्म्य** ( व्यतिरेक-हेतु ) **अभेद-विवक्षा** ( साधर्म्य या अन्वय-हेतु) **के साथ अविनाभावसम्बन्धको लिए रहता है** —अन्वय ( साधर्म्य ) के बिना व्यतिरेक (वैधर्म्य) और व्यतिरेकके बिना अन्वय घटित ही नही होता ॥ १८ ॥

19) **विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः ।**
**साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥ १९ ॥**

§ 19 **किंचित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं विशेषणविशेष्यतत्संबन्धलोकस्थितिसंकलनेन गृह्येत नान्यथेत्यभिन्नविशेषेऽपि वस्तुनो विधिप्रतिषेधस्वभावयोः प्रत्येकं दर्शनमवश्यंभावि । ततो विधिप्रतिषेधावात्मानौ विशेष्यस्य सविकल्पकत्वं प्रसाधयतः । ततः सामान्यविशेषात्मकत्वं**[1] **वस्तु**[2]**स्वलक्षणम् । अस्तित्वनास्तित्वयोर्धर्मि सामान्यम् । तत्र तादात्म्यलक्षणः संबन्धः, संबन्धान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् । तन्नैतत्सारम्, जात्यादिमतामेतन्न संभवत्येवेति, तदभाव एवासंभवात्, तथा सति नैकान्तेन दर्शनविकल्पाभिधानानां विषयभेदोऽस्ति कथंचित्प्रतिभासभेदेऽपि प्रत्यासन्नेतरपुरुषदर्शनवत् । तथाहि—धूमादयः कृतकत्वादयो वा क्वचिदग्निसलिलयोर्विनाशेतरयोर्वा साधनेतरस्वभावाभ्यां साक्षात्क्रियेरन् । इतरथा विशेष्यप्रतिपत्तेरयोगात् ।** [3]**अनपे,**

19) 1 As —त्मक । 2 P —वस्तुत्वल— । 3 P अनापे— ।

**क्षायां तु विरोधः। तस्मात् यदभिधेयं तद्विशेष्यम्। यद्वा विशेष्यं तदभिलाप्यम्। यद्वा वस्तु तत्सर्वं विधेयप्रतिषेध्यात्मकम्, यथोत्वरयादिरपेक्षया हेतुरहेतुश्च साध्येतरयोः, तथा च विमत्यधिकरणं सत्त्वाभिधेयत्वादि ॥ १९ ॥**

§ 19 पुनरप्यविरोध दर्शयन्नाह—विधेयशब्दवाच्य साध्य इत्यर्थ । प्रतिषेध्यो निराकरणीय । द्वन्द्व । तावात्मा स्वरूप यस्य स **विधेयप्रतिषेध्यात्मा**। **विशेषो** धर्मी पक्ष इत्येकार्थः। **शब्दगोचरः** शब्दविषय । साध्यस्य धर्म **साध्यधर्मः। यथा** दृष्टान्तप्रदर्शक । **हेतुः** साधनम**हेतु**रसाधनम्। **अपि** सभावनायाम्। **अपेक्षया** विवक्षया। विशेष्यो विधेयप्रतिषेध्यात्मा शब्दगोचरत्वात् यथा साध्यधर्मो हेतुश्चाहेतुश्च भवति विवक्षया। अग्निमत्त्वे साध्ये धूमो हेतुर्भवति जलवत्त्वे साध्येऽहेतुरेकस्मिन्धर्मिणि। एवमत्रापि—यो य शब्दविषय स सर्वोऽपि विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्य । यथा साध्यधर्मो हेतुरहेतुश्चापेक्षया । शब्दविषयश्च विशेष्य तस्माद्विधेयप्रतिषेध्यात्मा ॥ १९ ॥

§ 19 **जो विशेष्य** ( धर्मी या पक्ष ) **होता है वह विधेय तथा प्रतिषेध्य स्वरूप होता है**—विधिरूप अस्तित्वधर्म और निषेधरूप नास्तित्वधर्म दोनोको अपना विपय किये रहता है, **क्योंकि वह शब्दका विषय होता है**—जो जो शब्दका विपय होता है वह सब विशेष्य विधेयप्रतिपेध्यात्मक हुआ करता हे। **जैसे कि साध्यका जो धर्म एक विवक्षासे हेतु** ( साधन ) **रूप होता है वह दूसरी विवक्षासे अहेतु** ( असाधन ) **रूप भी होता है**। उदाहरणके लिए साध्य जव अग्नि है तो धूम उसका साधन—अनुमान-द्वारा उसे सिद्ध करनेमे समर्थ—होता है और साध्य जव जल हे तो धूम उसका असाधन—अनुमान-द्वारा उसे सिद्ध करनेमे असमर्थ— होता है। इस तरह धूममे जिस प्रकार हेतुत्व और अहेतुत्व दोनो धर्म है उसी प्रकार जो कोई भी शब्दगोचर विशेष्य है वह सव अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्मोको सायमे लिए हुए होता है ॥ १९ ॥

20) **शेषभङ्गाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगतः।**
**न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र तव शासने ॥ २० ॥**

**§ 20 स्यादस्ति स्यान्नास्तीति भङ्गद्वयमुपयुक्तम्। तदपेक्षया शेषत्वं भङ्गत्रयापेक्षं वा। यथोक्तनययोगत इति विशेषणत्वादीनाक्षिपति। तदनभिलाप्यादयोऽपि क्वचिद्धर्मिणि प्रत्यनीकस्वभावाविनाभाविन. प्रतीयन्ते, विशेषणत्वादिभ्य.। पूर्वोक्तमुदाहरणम्। न चैवं सति किंचिद्विप्रतिषिद्धम्, अन्यथैव विरोधात् ॥ २० ॥**

§ 20 शेषभङ्गान् समर्थयन्नाह—**शेषभङ्गाश्च** अवक्तव्यादय । **नेतव्या** ज्ञातव्या योजनीया । **यथोक्त**श्चासौ नयश्च यथोक्तनय तस्य **योग**स्तस्मात् विशेषणत्वादिति हेतोरित्यर्थ. । **विरोधोऽपि न कश्चित्**। उपलक्षणमेतत् । विरोध इति सशयविरोधवैयधिकरण्योभयदोपप्रसङ्गसङ्करानवस्थाभावानाक्षिपति, एते दोषा न सन्ति । कस्मात् । अनेकान्तत्वाद्वस्तुन । जीवादिपदार्थयाथात्म्यमननान्मुनयस्तेषामिन्द्रो भगवान् केवली तस्य सबोधन हे **मुनीन्द्र, तव शासने** युष्मन्मते । अनभिलाप्यादयोऽपि धर्मा क्वचिदेकधर्मिणि प्रत्यनीकस्वभावाविनाभाविनो, विशेषणत्वात्, पूर्वोक्तमुदाहरणम् ॥ २० ॥

§ 20 **शेष भंग जो अवक्तव्य, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य और अस्ति-नास्त्यवक्तव्य हैं वे भी यथोक्त नयके योगसे नेतव्य हैं** पहले तीन भगोको जिस प्रकार 'विशेषणत्वात्' हेतुसे अपने प्रतिपक्षीके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिए हुए उदाहरण-सहित बतलाया गया है उसी प्रकार ये शेष भग भी जानने अथवा योजना किये जानेके योग्य है। ( इन भंगोकी व्यवस्था ) **हे मुनीन्द्र** —जीवादितत्त्वोंके याथात्म्यका मनन करनेवाले मुनियोंके स्वामी वीरजिनेन्द्र ! —**आपके शासन** ( मत ) **मे कोई भी विरोध घटित नहीं होता है** —क्योंकि वस्तु अनेकान्तात्मक है ॥ २० ॥

1) **एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् ।**
**नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः ॥ २१ ॥**

§ 21 **सप्तभङ्गीविधौ स्याद्वादे विधिप्रतिषेधाभ्यां समारूढं वस्तु सदसदात्मकमर्थक्रियाकारि, कथंचित्सत एव सामग्रीसंनिपातिनः स्वभावातिशयोपपत्तेः सुवर्णस्येव केयूरादिसंस्थानम् । नेति चेदित्यादिनैकान्तेऽर्थक्रिया प्रतिक्षिपति । न तावत्सतः पुनरुत्पत्तिरस्ति । न चानुत्पन्नस्य स्थितिविपत्ती, खपुष्पवत् । नाप्यसतः सर्वथोत्पत्त्यादयस्तद्वत् । यदि पुन. सामग्र्याः प्रागविद्यमानस्य जन्म [1]स्यात् को दोष. स्यात् । तस्या निरन्वयविनाशे निष्कारणस्य [2]तथोत्पत्तिर्न स्यात् । न हि निराधारोत्पत्तिर्विपत्तिर्वा, क्रियारूपत्वात्, स्थितिवत् । नैतन्मन्तव्यम्—'नोत्पत्त्यादि. क्रिया., क्षणिकस्य तदसंभवात् । ततोऽसिद्धो हेतु' इति, प्रत्यक्षादि[3]विरोधात् । प्रादुर्भावादिमतः चक्षुरादिबुद्धौ प्रतिभासनात् । अन्यथा तद्विशिष्टविकल्पोऽपि माभूत् । न हि दण्डपुरुषसंबन्धादर्शने दण्डीति विकल्प. स्यात् । [4]ततः सूक्तम्—'यदेकान्तेन सदसद्वा तन्नोत्पत्तुमर्हति, व्योमबन्ध्यासुतवत्' इति । कथमिदानीमनुत्पन्नस्य गगनादेः स्थितिः, इति चेत्, न, अनभ्युपगमात् । द्रव्यनयापेक्षया परप्रसिद्ध्या [5]चोदाहरणम् ॥ २१ ॥**

§ 21 अनेकान्तात्मक तत्त्व व्यवस्थाप्यैकान्त निराकर्तुमाह—**एवम्** अनेन प्रकारेण। **विधिनिषेधाभ्याम्** अस्तित्वनास्तित्वाभ्याम् । **अनवस्थितम्** अनवधारित यद्वस्तु **तद् अर्थकृत्** कार्यकारि भवति । **नेति चेत्** यद्येव न भवति । **न । यथाकार्यं** यथाभूत कार्यमुपलभ्यते तस्य कारक न स्यात् । **बहिरन्तरुपाधिभिः** बाह्याभ्यन्तरहेतुभि सहितैरपि । अथवा अनवस्थित शून्य अयथाकार्यम् ॥ २१ ॥

§ 21 **इस प्रकार विधि-निषेध-द्वारा जो वस्तु अवस्थित** ( अवधारित ) **नहीं है** —सर्वथा अस्तित्वरूप या सर्वथा नास्तित्वरूपसे निर्धारित एव परिगृहीत नही है— **वह अर्थ-क्रियाकी करनेवाली होती है । यदि ऐसा नहीं माना जाय तो बाह्य और अन्तरंग कारणोसे कार्यका निष्पन्न होना जो माना गया है वह नहीं बनता** —सर्वथा सत्-रूप या सर्वथा असत्-रूप वस्तु अर्थ-क्रिया करनेमे असमर्थ है, चाहे कितने भी कारण क्यो न मिले, और अर्थ-क्रियाके अभावमे वस्तुत वस्तुत्व बनता ही नही ॥ २१ ॥

---

21) 1. P जन्म न स्यात् । 2. P तथैवोत्प– । 3 P –क्षादि– ।
4. P तस्मात् । 5. P वा उदा– ।

22) **धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः ।**
**अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता ॥ २२ ॥**

§ 22 यदि पुन॰ प्रत्युपाधि परमार्थत॰ स्वभावभेदो न स्यात्, तदा दृष्टेऽभिहिते वा प्रमाणान्तरमुक्त्यन्तरं वा निरर्थकं स्यात्, गृहीतग्रहणात्पुनरुक्तेश्च । स्वभावातिशयाभावात् । सदुत्पत्तिकृतकत्वादेः प्रत्यनीकस्वभावविशेषाभावाद् यावन्ति पररूपाणि तावन्त्यस्ततस्ततो व्यावृत्तयः प्रत्येकमित्येषापि कल्पना माभूत् । सता हि स्वभावाना गुणप्रधानभावः स्यात् । ततः परिकल्पितव्यावृत्त्या धर्मान्तरव्यवस्थापनं[1] परिफल्गुप्रायम्, वस्तुस्वभावाभावप्रसङ्गात् । तथेन्द्रियबुद्धयोऽपि स्वलक्षणविषया माभूवन्, केवलं व्यावृत्तिं पश्येयुः, अदृष्टे विकल्पायोगादतिप्रसङ्गाच्च ॥ २२ ॥

§ 22 अथ मत स्यादस्तीत्यनेनैव स्याच्छब्देन सर्वे भङ्गा गृहीता । किमेतेषा प्रपञ्चोऽत्र आह—**धर्मे धर्मे** धर्मनिर्देशे । भङ्गे भङ्गे इति वा पाठान्तरम् । **अन्य एवार्थो**ऽपूर्व एवार्थ । कुत । **धर्मिणो** वस्तुन । अनन्ता धर्मा स्वभावा यस्य सोऽनन्तधर्मा तस्यानन्त**धर्मणः** । **अङ्गित्वे** प्रधानत्वे । **अन्यतमान्तस्य** अस्तित्वादीना मध्ये एकतमस्य । **शेषान्तानां** परिशेषधर्माणा नास्तित्वादीनाम् । तत्तस्मात् अङ्गता अप्रधानता । अथवा **तदङ्गता** इति पाठान्तरम् । तदा तस्मिन्काले । शेषाणामप्रधानता । अत पुनरुक्तता नास्ति । अथवा सुनयसप्तभङ्गीनिरूपणार्थमिय कारिका, सक्षेपार्था चेयम् ॥ २२ ॥

§ 22 **अनन्तधर्मा धर्मीके धर्म-धर्ममे अन्य ही अर्थ संनिहित है**—धर्मीका प्रत्येक धर्म एक जुदे ही प्रयोजनको लिए है । उन **धर्मोंमेसे किसी एक धर्मके अङ्गी** ( प्रधान ) **होनेपर शेष धर्मोंको उसके अथवा उस समय अंगता** ( अप्रधानता ) **हो जाती है** —परिशेष ( बाकीके ) सब धर्म उसके अङ्ग अथवा उस समय अप्रधान रूपसे विवक्षित होते हैं ॥ २२ ॥

23) **एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् ।**
**प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नयविशारद ॥ २३ ॥**

§ 23 स्यादेकं सद्द्रव्यनयापेक्षया । यद्यपि विशेषाः परस्परव्यावृत्तपरिणामाः कालादिभेदेऽपि सद्रूपाविशिष्टाश्चित्रज्ञाने[1]नीलादिनिर्भासवत् । स्यादनेकत्वमास्कन्दन्ति । न हि संख्यासंख्यावतोर्भेदेनादृष्टौ विशेषणविशेष्यविकल्प॰ कुण्डलिवत् क्षीरोदकवदतद्वेदिनि । न च भेदैकान्ते तद्वृत्तास्ति, व्यपदेशनिमित्ताभावात् । अनवस्थाप्रसङ्गाच्च । तस्मादयं कथचिदेव संख्यासंख्यावतोः स्वभावभेदं पश्यति, तद्विशिष्टविकल्पनात् । क्वचिन्निर्णयेऽप्यन्यत्र संशयाद्, वर्णरसादिवत् ॥ २३ ॥

इत्याप्तमीमासाभाष्ये प्रथमः परिच्छेदः ॥

---

22) 1 P –स्थान ।
23) 1 As, P – ज्ञाननील– ।

§ 23 सप्तभङ्गी योजयन्नाह—**नयविशारदो** नय प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायस्तस्मिन्कुशल । **नयैः** स्वहेतुभिर्विशेषणत्वादिभि । **एना प्रक्रियाम् । भङ्गिनीं** भङ्गवती भङ्गबहुलाम् । **उत्तरत्रापि** इह ऊर्ध्वमपि । **योजयेद्** उद्घाटयेत् । क एकश्च अनेकश्च तावेव विकल्पौ तावादिर्यस्य तस्मिन् **एकानेकविकल्पादौ** । कथम् । स्यादेक । स्यादनेक । स्यादेकश्चानेकश्च । स्यादवक्तव्य । स्यादेकश्चावक्तव्यश्च । स्यादनेकश्चावक्तव्यश्च । स्यादेकश्चानेकश्चावक्तव्यश्च । एवमनेन द्वैताद्वैतादिषु योज्यम् ॥ २३ ॥

23 **जो नय-निपुण** है वह ( विधि-निषेधमे प्रयुक्त ) **इस भगवती** (सप्तभङ्गवती) **प्रक्रिया को आगे भी एक-अनेक जैसे विकल्पादिकमे नयोके साथ योजित करे** —जैसे सम्पूर्ण वस्तुतत्त्व कथचित् एकरूप है, कथचित् अनेकरूप है, कथचित् एकाऽनेकरूप है, कथचित् अवक्तव्यरूप है, कथचिदेकावक्तव्यरूप है, कथचिदनेकावक्तव्यरूप है और कथचिदेकाऽनेकाऽवक्तव्यरूप है। एकत्वका अनेकत्वके साथ और अनेकत्वका एकत्वके साथ अविनाभावसम्बन्ध है, और इसलिये एकत्वके बिना अनेकत्व और अनेकत्वके बिना एकत्व नही बनता, न वस्तुतत्त्व सर्वथा एकरूपमे या सर्वथा अनेकरूपमे व्यवस्थित ही होता है, दोनोमे वह अनवस्थित है और तव ही अर्थ-क्रियाका कर्ता है, एकत्वादि किसी एकधर्मके प्रधान होनेपर दूसरा धर्म अप्रधान हो जाता है ॥ २३ ॥

**इति देवागमाप्तमीमासाया प्रथमः परिच्छेद ॥**

# द्वितीयपरिच्छेदः

24) **अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।**
**कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥**

§ 24 **सदाद्येकान्तेषु दोषोद्भावनमभिहितम् । अद्वैतैकान्ताभ्युपगमात् न तावतानेकान्तसिद्धिरिति चेत्, न, प्रत्यक्षादिविरोधात् । न हि कस्यचिदभ्युपगममात्रं प्रमाणसिद्धं क्रियाकारकभेदं प्रतिरुणद्धि, क्षणिकाभ्युपगमवत् । न स्वतो जायते परतो वा, अपि तु जायते एवेति सुषुप्तायते, प्रतिपत्त्युपायाभावात् । तस्मात् यद्दृष्टविरुद्धं तन्न समञ्जसम्, यथा नैरात्म्यम्, विरुद्ध्यते च तथाद्वैतं क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादिभिः ॥ २४ ॥**

§ 24 सदाद्येकान्तेषु दोषमुद्भाव्यैवमद्वैतैकान्त दूषयितुमाह—**अद्वैत**मेवेत्येका**न्तो**ऽसद्ग्रह स एव **पक्षो** जिज्ञासितविशेषो धर्मी तस्मिन्न**पि । दृष्टो भेदः** प्रत्यक्षप्रमाणपरिच्छिन्न नानात्व लोकप्रसिद्ध वा । **विरुध्यते** मिथ्या भवेत् । **कारकाणि** कर्त्रादीनि, **क्रिया** आकुञ्चनादिका पाकादिका वा, **एतेषां** परस्परेण इय क्रिया, इमानि कारकाणि, इद कर्तृकारकम्, इद कर्मेत्यादि । इय दहनक्रिया, इय पचनक्रियेत्यादि । **च**शब्दादिद प्रमाणमिद परिच्छेद्य वस्तु, इति भेदो न स्यात् । कुत , **न** इति एकान्तप्रतिषेधवचनम् । **एकम्** असहायम् । **स्वस्माद्** आत्मन **प्रजायत** उत्पद्यते ॥२४॥

§ 24 **यदि अद्वैत एकान्तका पक्ष लिया जाय** —यह माना जाय कि वस्तुतत्त्व सर्वथा दुई ( द्वितीयता ) से रहित एक ही रूप है— **तो कारको और क्रियाओका जो भेद** ( नानापन ) **प्रत्यक्षप्रमाणसे जाना जाता अथवा स्पष्ट दिखाई देनेवाला लोकप्रसिद्ध** ( सत्य ) **है वह विरोधको प्राप्त होता** ( मिथ्या ठहरता ) है—कर्ता, कर्म, करणादि–रूपसे जो सात कारक अपने असख्य तथा अनन्त भेदोको लिये हुए हैं उनका वह भेद-प्रभेद नही बनता और न क्रियाओका चलना-ठहरना, उपजना-विनशना, पचाना-जलाना, सकोडना-पसारना, खाना-पीना और देखना-जानना आदि रूप कोई विकल्प ही बनता है, फलत सारा लोक-व्यवहार बिगड जाता है । ( यदि यह कहा जाय कि जो एक है वही विभिन्न कारको तथा क्रियाओके रूपमे परिणत होता है तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि ) **जो कोई एक है**—सर्वथा अकेला एव असहाय है—**वह अपनेसे ही उत्पन्न नहीं होता ।** उसका उस रूपमे जनक और जन्मका कारणादिक दूसरा ही होता है, दूसरेके अस्तित्व एव निमित्तके विना वह स्वय विभिन्न कारको तथा क्रियाओके रूपमे परिणत नही हो सकता ॥ २४ ॥

25) **कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।**
**विद्याविद्याद्वयं न स्यात् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥**

§ 25. **प्रमाणप्रत्यनीकं स्वमनोषिकाभिरद्वैतमन्यद्वा किंचित्फलमुद्दिश्यारचयेत् । अन्यथा तत्प्रतिपत्तिप्रवर्तनायोगात्प्रेक्षावृत्तेः । तथाहि—पुण्यपापसुखदुःखेहपरलोकविद्येतरबन्धमोक्षविशेषरहितं प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम्[1], यथा नैरात्म्यदर्शनम्, तथा च प्रस्तुतम् ॥ २५ ॥**

25) 1 P –रनादरणीयम् ।

§ 25 तथैवमपि—शुभकर्माशुभकर्मेति द्वय न स्यात् । पुण्यमिद पापमिदम्, इहलोक परलोक , ज्ञानमज्ञानम्, बन्धो मोक्षश्च जीवप्रदेशकर्मप्रदेशान्योन्याश्लेषो बन्धः । अष्टविधकर्ममोक्षो मोक्ष , इत्येवमादि न स्यात् ॥ २५ ॥

§ 25 ( सर्वथा अद्वैत सिद्धान्तके माननेपर ) **कर्म-द्वैत**—शुभ अशुभ कर्मका जोडा, **फल-द्वैत**—पुण्य-पापरूप अच्छे-बुरे फलका जोडा **और लोक-द्वैत**—फल भोगनेके स्थानरूप इहलोक-परलोकका जोडा—**नहीं बनता** । ( इसी तरह ) **विद्या अविद्याका द्वैत** ( जोडा ) **तथा बन्ध-मोक्षका द्वैत** ( जोडा ) **भी नहीं बनता** । इन द्वैतो ( जोडो ) मेसे किसी भी द्वैतके माननेपर सर्वथा अद्वैतका एकान्त बाधित होता है । और यदि प्रत्येक जोडेकी किसी एक वस्तुका लोपकर दूसरी वस्तुका ही ग्रहण किया जाय तो उस दूसरी वस्तुके भी लोपका प्रसग आता है, क्योंकि एकके बिना दूसरीका अस्तित्व नही बनता, और इस तरह भी सारे व्यवहारका लोप ठहरता है ॥ २५ ॥

26) **हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।**
**हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥ २६ ॥**

§ 26 **यदसिद्धं तन्न हितेप्सुभिरहितजिहासुभिर्वा प्रतिपत्तव्यम्, यथा शून्यैकान्तः । तथा चासिद्धमद्वैतम्, इत्यत्र नासिद्धो हेतुः । तत्सिद्धिर्यदि साधनात् साध्यसाधनयोस्तर्हि द्वैत स्यात् । अन्यथाद्वैतसिद्धिवत् द्वैतसिद्धिः कथं न स्यात् । स्वाभिलापमात्रादर्थसिद्धौ सर्वं सर्वस्य सिद्धयेत् ॥ २६ ॥**

§ 26 प्रमाणादद्वैत निराकर्तुमाह—अद्वैतस्य सिद्धि किं हेतोराहोस्विद्वचनमात्रात् । यदि हेतो , इद साधनमिद साध्यमिति द्वैत स्यात् । साधनमन्तरेणाद्वैतस्य सिद्धिश्चेदेव वचनमात्राद् द्वैत कस्मान्न स्यादिति समानम् ॥ २६ ॥

§ 26. ( इसके सिवाय यह प्रश्न पैदा होता है कि अद्वैतकी सिद्धि किसी हेतुसे की जाती है या बिना किसी हेतुके वचनमात्रसे ही ?—उत्तरमे ) **यदि यह कहा जाय कि अद्वैतकी सिद्धि हेतुसे की जाती है तो हेतु** ( साधन ) **और साध्य दोकी मान्यता होनेसे द्वैतापत्ति खड़ी होती है**—सर्वथा अद्वैतका एकान्त नही रहता—**और यदि बिना किसी हेतुके ही सिद्धि कही जाती है तो क्या वचनमात्रसे द्वैतापत्ति नहीं होती ?**—साध्य अद्वैत और वचन, जिसके द्वारा साध्यकी सिद्धिको घोषित किया जाता है, दोनोके अस्तित्वसे अद्वैतता नही रहती । और यह बात तो बनती ही नही कि जिसका स्वय अस्तित्व न हो उसके द्वारा किसी दूसरेके अस्तित्वको सिद्ध किया जाय अथवा उसकी सिद्धिकी घोषणा की जाय । अत अद्वैत एकान्तकी किसी तरह भी सिद्धि नही बनती, वह कल्पनामात्र ही रह जाता है ॥ २६ ॥

27) **अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।**
**संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥ २७ ॥**

§ 27 **अद्वैतशब्द स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वात्, अहेत्वभिधानवत् । नात्र किंचिदतिप्रसज्यते, तादृशो नञो वस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वात् । सर्वत्र प्रतिषेध्यादृते संज्ञिनः प्रतिषेधाभावः प्रत्येतव्यः ॥ २७ ॥**

§ 27. पुनरप्यद्वैत निराकर्तुमाह—द्वैताद्विना न भवत्यद्वैतम्। यथा अहेतुर्हेतुमन्तरेण न भवति। सञ्ज्ञिनो नामवत प्रतिषेध्यमन्तरेण प्रतिषेधो यस्मात् क्वचिदपि न भवति। यो य सञ्ज्ञी तस्य तस्य प्रतिषेध्यमन्तरेण प्रतिषेधो न भवति। यथा कुसुममन्तरेण आकाशादौ कुसुमस्य। सञ्ज्ञि चाद्वैत तस्मात्तस्य द्वैतेन विना प्रतिषेधो न भवति ॥ २७ ॥

§ 27 (एक बात और भी बतला देनेकी है, और वह यह कि) **द्वैतके बिना अद्वैत उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कि हेतुके बिना अहेतु नहीं होता; क्योंकि कहीं भी संज्ञीका**—नामवालेका—**प्रतिषेध प्रतिषेध्यके बिना—जिसका निषेध किया जाय उसके अस्तित्व-बिना—नहीं बनता।** द्वैतशब्द एक सञ्ज्ञी है और इसलिये उसके निषेधरूप जो अद्वैतशब्द है वह द्वैतके अस्तित्वकी मान्यता-बिना नही बनता। इस प्रकार अद्वैत एकान्तका पक्ष लेनेवाले ब्रह्माद्वैत, सवेदनाद्वैत और शब्दाद्वैत जैसे मत सदोष एव बाधित ठहरते है ॥ २७ ॥

28) **पृथक्त्वैकान्तपक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक्तु तौ[1] ।**
**पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥ २८ ॥**

§ 28 **इष्टमद्वैतैकान्तापवारणम्, पृथक्त्वैकान्ताङ्गीकरणात्, इति मावदीघरत्, पृथग्भूत-पदार्थेभ्यः पृथक्त्वस्य पृथग्भावे तेषामपृथक्त्वप्रसङ्गात्। तद्गुणगुणिनोरतादात्म्ये घटपटवद् व्यपदेशोऽपि माभूत्, सबन्धनिबन्धान्तराभावात्। पृथक्त्वमन्यद्वा पृथग्भूतमनशमनेकस्थेषु निष्पर्यायं वर्तते, इति दुरवगाहम् ॥ २८ ॥**

§ 28 अधुना सर्वथा सर्वपदार्थपृथक्त्वैकान्तवादिवैशेषिकादिमतकदर्थनार्थमाह—यद्यप्यद्वैतैकान्तपक्षे दोपभयात् पृथक्त्वमित्येकान्तपक्षोऽभ्युपगम्यते तथापि पृथग्गुणात्तावपृथग्भूतावभ्युपगन्तव्यौ गुणगुण्यादी। अन्यथा तस्मादपि यदि तौ पृथक् भिन्नौ स्यातां तदानी पृथक्त्वाख्यो गुणो न स्यात्। कुत। यतोऽनेकस्थो ह्यसौ गुणो दृष्ट इत्यर्थ। न च तयो पृथक्त्वगुण. पृथग्गति सर्वेषामभाव स्यात्। तस्मात् भेदपक्षोऽपि न श्रेयान् ॥ २८ ॥

§ 28 (अद्वैत एकान्तमे दोष देखकर) **यदि पृथक्पनका एकान्तपक्ष लिया जाय**—यह माना जाय कि वस्तुतत्त्व एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न है—**तो इसमे भी दोष आता है और यह प्रश्न पैदा होता है कि पृथक्त्व-गुणसे द्रव्य और गुण पृथक् हैं या अपृथक्? यदि अपृथक् हैं तब तो पृथक्त्वका एकान्त ही न रहा**—वह बाधित हो गया। **और यदि पृथक् हैं तो पृथक्त्व नामका कोई गुण ही नहीं बनता** (जिसे वैशेषिकोने गुणोकी २४ सख्यामे अलगसे गिनाया है) **क्योंकि वह एक होते हुए भी अनेकोमे स्थित माना गया है और इससे उसकी कोई पृथग्गति नहीं है**—पृथक् रूपमे उसकी स्थिति न तो दृष्ट है और न स्वीकृत है। अत पृथक् कहनेपर उसका अभाव ही कहना होगा। यह कारिका वैशेषिको तथा नैयायिकोके पृथक्त्वैकान्त पक्षको लक्ष्य करके कही गयी है, जो क्रमश ६ तथा १६ पदार्थ मानते है और उन्हे सर्वथा एक दूसरेसे पृथक् बतलाते है। अगली कारिकामे क्षणिकैकान्तवादी पृथक्त्वैकान्तपक्षको सदोष बतलाया जाता है ॥ २८ ॥

---

28) 1. P पृथक्कृतौ।

29) **सन्तानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरंकुशः ।**
**प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥ २९ ॥**

§ 29. **कार्यकारणयोः पृथक्त्वैकान्ते कार्यकालमात्मानमनयतः कारणत्वासंभवात्तदनुत्पत्तेः कुतः संततिः । पूर्वापरकालभाविनोरपि हेतुफलव्यपदेशभाजोरतिशयात्मनोरन्वयः सन्तानः । क्वचित्क्षणान्तरे नीललोहितादिनिर्भासचित्रैकसंवेदनवत् कथंचिदेकत्वमेव भवितुमर्हति । तदवयवपृथक्त्वकल्पनायां चित्रनिर्भासो माभूत् । पृथग्वर्णान्तरविषयानेकसन्तानैकक्षणवत् । तत्र प्रत्यासत्तिविशेषः कथंचिदैक्यात् कोऽपरः स्यात् । अन्यथा वेद्यवेदकाकारयोरपि पृथक्त्वैकान्तप्रसङ्गात् । स्वभावभेदेऽपि सहोपलम्भनियमात्कथंचिदभेदाभ्युपगमे कथमेकसन्तानसंविदा समनन्तरोपलम्भनियमात्कथंचिदैक्यं न स्यात् । तत्र यया[1] प्रत्यासत्त्या सन्तानः समुदायश्च तयैव[2] कथंचिदैक्यमस्तु । न हि तादृशा साधर्म्यमन्यदन्यत्रात्मसाकर्यात् । एकज्ञाननिर्भासविशेषाणां मिथः स्वभावभेदेऽपि यथैकत्वपरिणामः स्वभावतोऽनङ्कुश , तथा प्रेत्यभावादिषु सन्तानान्वयः परमार्थैकत्वमात्मसत्त्वजीवादिव्यपदेशभाजनं स्वभावभेदानाक्रम्य स्वामिवदनन्यत्र वर्तयति ॥ २९ ॥**

§ 29 इदानी पृथक्त्वैकान्तवादिविशेषमायासु क्षणिकत्वैकान्तकदर्थनार्थमाह—एकत्वस्य सादृश्यस्य कथञ्चित्तादात्म्यस्य । निह्नवोऽपह्नुतिर्निराकरणम् । अथवा एकशब्दो द्रव्यवचनोऽय तत स्वार्थिकस्वप्रत्यय तस्मिन् **एकत्वनिह्नवे** । क्रमभाविना कारणतद्वतामालीनकमन्दकमधुरकादीना गोरसजातिमजहतामुत्तरोत्तरपरिणामप्रवाह **संतानो** न स्यान्न भवेत् । तथा रूपरसादीना धर्माणा सहभुवा नियमतो युगपदुत्पादव्ययभाजामेकस्मिन्नवस्थान **समुदायो** न स्यात्, यद्यनेकान्तात्मकमेकद्रव्य न स्यात् । तथा शब्दघटादीना **साधर्म्यं** च न स्यात् । मृत्वामुत्र प्राणिन प्रादुर्भाव **प्रेत्यभाव** सोऽपि न स्यात् । **निरंकुशो** निर्बाधोऽस्खलितरूप सर्वत्र सबन्धनीय । **च**-शब्देन प्रत्यभिज्ञानादयोऽपि न स्यु । **तदेतत्सर्वं न स्यादिति** समुदायेन निर्देशात् यथायोग्यं सबन्धो भवति । सामान्यनिर्देशान्नपुसकलिङ्गता ॥ २९ ॥

§ 29. **'यदि-एकत्वका सर्वथा लोप किया जाय**—सामान्य, सादृश्य, तादात्म्य अथवा सभी पर्यायोमे रहनेवाले द्रव्यत्वको न माना जाय—**तो जो संतान, समुदाय और साधर्म्य तथा प्रेत्यभाव** ( मरकर परलोकगमन ) **निरंकुश है**—निर्बाध रूपसे माना जाता है—**वह सब नहीं बनता**—अर्थात् क्रमभावी पर्यायोमे जो उत्तरोत्तर परिणाम-प्रवाहरूप अन्वय है वह घटित नही होता, रूप-रसादि जैसे सहभावी धर्मोमे जो युगपत् उत्पाद-व्ययको लिये हुए एकत्र अवस्थानरूप समुदाय है वह भी नही बनता, सहधर्मियोमे समान परिणामकी जो एकता है वह भी नही बनती और न मरकर परलोकमे जाना अथवा एक ही जीवका दूसरा भव या शरीर धारण करना ही बनता है । इसी तरह बाल-युवा-वृद्धादि अवस्थाओमे एक ही जीवका रहना नही बनता और ( चकारसे ) प्रत्यभिज्ञान-जैसे सादृश्य तथा एकत्वके जोडरूप ज्ञान भी नही बनते ॥ २९ ॥

---

29) 1. P यथा । 2 P तयैव ।

30) **सदात्मना च भिन्नं चेत् ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत् ।**
**ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥ ३० ॥**

§ 30 **विषयिणो विषयात्कथंचित्स्वभावभेदेऽपि सदाद्यात्मना तादात्म्यं बोधाकारस्येव विषयाकारात्, विशेषाभावात् । अन्यथा ज्ञानमवस्त्वेव, खपुष्पवत् । तदभावे बहिरन्तर्वा ज्ञेयमेव न स्यात्, तदपेक्षत्वात् ॥ ३० ॥**

§ 30. पुनरपि भेदैकान्ते दूषणमाह—तथा चैतन्यस्वरूपेण **ज्ञेयात्**प्रमेयात् **ज्ञानम**वबोधो **भिन्नम्** अन्यत्, **चेद्** यदि **सदात्मना च** अस्तित्वरूपेणापि पृथक् स्यात् । **द्वेधापि** ज्ञान ज्ञेय **चासत्** स्यात् । अभाव. स्यात् । कुत । **ज्ञानाभावे** बोधशून्ये **कथं ज्ञेयम्** । **बहि**र्बाह्यम् । **अन्तः** अन्तरङ्ग **च** । **ते द्विषा** तुभ्य द्विषिता मिथ्यादृशाम् । यस्माज्ज्ञाने सति ज्ञेय विषयत्वात्, ज्ञेये सति ज्ञान च भवति, तत्परिच्छेदकत्वात् । तस्मात् ज्ञान कथचिदभिन्नमेषितव्य सदाद्यात्मनान्यथावस्तु स्यात् ॥ ३० ॥

§ 30 (इसी तरह) **ज्ञानको** (जो कि अपने चैतन्यरूपसे ज्ञेय-प्रमेयसे पृथक् है) **यदि सत्स्वरूपसे भी ज्ञेयसे पृथक् माना जाय** - अस्तित्वहीन स्वीकार किया जाय—**तो ज्ञान और ज्ञेय दोनोका ही अभाव ठहरता है**—ज्ञानका अभाव तो उसके अस्तित्व-विहीन होनेसे हो गया और ज्ञेयका अभाव ज्ञानाभावके कारण बन गया, क्योकि ज्ञानका जो विपय हो उसे ही ज्ञेय कहते है—**ज्ञानके अभावमे बाह्य तथा अंतरंग किसी भी ज्ञेयका अस्तित्व** ( हे वीर जिन ! ) **आपसे द्वेष रखनेवालोके यहाँ**—सर्वथा पृथक्त्वैकान्तवादी वैशेषिकादिकोंके मतमे—**कैसे बन सकता है ?**—उनके मतसे उसकी कोई भी समीचीन व्यवस्था नही बन सकती ॥ ३० ॥

31) **सामान्यार्था गिरोऽन्येषां विशेषो नाभिलप्यते ।**
**सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः ॥ ३१ ॥**

§ 31 **विशेषाणामशक्यसमयत्वात् असकेतितानभिधानात्, विशेषदर्शनवत्तद्बुद्धावप्रतिभासनादर्थसंनिधानानपेक्षणाच्च । स्वलक्षणमनभिधेय सामान्यमवस्तु उच्यत इति वस्तु नोच्यत इति स्यात् । ततः किं शब्दोच्चारणेन सकेतेन वा, गोशब्दोऽपि हि गा नाभिधत्ते यथाश्वशब्दः । तथा च वस्तुनोऽनभिधाने मौनं यत्किंचिद्वा वचनमाचरेत्, विशेषाभावात् । अथास्ति विशेषः, कथं स्वार्थं नाभिदधीत । न वै परमार्थैकतानत्वादभिधाननियम., किन्तूपादानविशेषात्, इत्यपि वार्तम्, अविकल्पेऽपि तथैव प्रसङ्गात् । तदेवमनवधारितात्मक वस्तुस्वलक्षणमापनीपद्येत । नाश्यमिन्द्रियज्ञानमर्थसनिधानमपेक्षते, विप्लवाभावप्रसङ्गात् । नापि विशदात्मकमेव, दूरेऽपि तथा प्रतिभासप्रसङ्गात्, यथारात् । क्षणभङ्गादिसाधनवचनमन्यद्वा न किंचित्सत्यं स्यात् [1]वक्तुरभिप्रेतमात्रसूचित्वात्[2], प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यवत् । सदर्थाप्रतिपादनाद्वा न क्षणभङ्गादिसाधनवचनं विपक्षदूषणवचनं वा सत्यम्, प्रसिद्धालीकवचनवत् । दृश्यविकल्प्यार्थाकारयोः कथंचिदप्यतादात्म्ये स्वलक्षणं सर्वथानवधारितलक्षण दानादिचेतोधर्मादिक्षणवत् कथ सशीतिमतिवर्तेत । विकल्पानां चावस्तुविषयत्वात् । सोयमविकल्पेतरराश्योरर्थेतरविषयत्वमन्यद्वा**

31) 1. As वक्त्र । 2. P. सूचितत्वात् ।

स्वांशमात्रावलम्बिना विकल्पान्तरेण प्रत्येतीति सुपरिबोधप्रज्ञो देवानांप्रियः। स्वत एव विकल्पसंविदा निर्णये स्वलक्षणविषयोऽपि विकल्पः स्यात्। परतश्चेत्, अनवस्थानादप्रतिपत्तिः। अतोऽर्थविकल्पोऽपि माभूदित्यन्धकल्पं जगत् स्यात्। न चायं परोक्षबुद्धिवादमतिशेते। स्वयमनिर्णीतेन नामात्मना बुद्धिरर्थं व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम्। न वै स्वरूपं पररूपं वा बुद्धिरध्यवस्यति, निर्विषयत्वाद् भ्रान्तेः[3]। इदमतो भ्रान्ततरं बहिरन्तश्च सद्भावासिद्धेः। स्वपरस्वभावप्रतिपत्तिशून्येन स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्था प्रत्येतीति किमपि महाद्भुतम् ॥ ३१ ॥

§ 31 सार्थविशेषस्य वाच्यवाचकतेष्यते तस्य पूर्वमदृष्टत्वात्सामान्यं त्वपदिश्यते शब्दैरित्यभिप्रायवतो मतमाश्रित्य तत्कदर्थयितुमाह—अथ मतं सामान्यमस्माभिरिष्यते किन्तु शब्दगोचरत्वादवस्तु, अत आह—सामान्यं विकल्पेनेष्टोऽर्थो वाच्यो यासां ताः सामान्यार्थाः। गिरो वाचः, अन्येषां मिथ्यादृशाम्। यतस्ताभिर्विशेषो याथात्म्यं स्वलक्षणं नाभिलप्यते। यद्येवं सामान्यं तेषामवस्तु अतस्तस्याभावात्सकलाः समस्ता गिरो वचनानि मृषैवासत्यरूपा एव अतो न वाच्यं नापि वाचकोऽनुमानाभावः ॥ ३१ ॥

§ 31 दूसरोके यहाँ—बौद्धोके मतमे—वचन सामान्यार्थक हैं; क्योंकि उनके द्वारा (उनकी मान्यतानुसार) विशेषका—याथात्म्यरूप स्वलक्षणका—कथन नहीं बनता है। (वचनोंके मात्र सामान्यार्थक होनेसे वे कोई वस्तु नही रहते—बौद्धोंके यहाँ उन्हे वस्तु माना भी नही गया—और विशेषके अभावमे सामान्यका भी कही कोई अस्तित्व नही बनता, ऐसी हालतमे सामान्यके भी अभावका प्रसग उपस्थित होता है) सामान्यका अवस्तुरूप अभाव होनेसे उन (बौद्धो) के सम्पूर्ण वचन मिथ्या ही ठहरते हैं—वे वचन भी सत्य नही रहते, जिन्हे वे सत्यरूपसे प्रतिपादन करते हे ॥ ३१ ॥

32) **विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।**
**अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ३२ ॥**

§ 32 अस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्ववत् पृथक्त्वेतरपरस्परप्रत्यनीकस्वभावद्वयसंभवोऽपि माभूत्, विप्रतिषेधात्। न खलु सर्वात्मना विरुद्धधर्माध्यासोऽस्ति, तदन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वात्, बन्ध्यासुतवत्। सर्वथानभिलाप्यतत्त्वाभ्युपगमेऽपि यदेतदनभिलाप्यं तत्त्वमिति, तद्व्याहन्यते, पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

§ 32 उभयैकान्तं निराकर्तुकाम प्राह—अथ मतं यद्येकैके दोष उभयैकात्म्यमेषितव्यमिति दूषणमाह। एकत्वपृथक्त्वपरप्रत्यनीकस्वभावद्वयसभवोऽपि न सभवति, अस्तित्वनास्तित्ववत्, प्रतिषेधात्। एकेनैकस्य निराकृतत्वात्। अथावाच्यमिष्यते, तदपि न। अवाच्यत्वे येयमुक्तिः सापि न सभवति मिथ्यादृशाम् ॥ ३२ ॥

§ 32 (अद्वैत और पृथक्त्व दोनो एकान्तोकी अलग-अलग मान्यतामे दोष देखकर) यदि अद्वैत (एकत्व) और पृथक्त्व दोनोका ऐकात्म्य (एकान्त) माना जाय तो स्याद्वाद न्यायके विद्वेषियोके यहाँ—उन लोगोके मतमे जो अद्वैत, पृथक्त्वादि सप्रतिपक्ष धर्मोंमे पारस्परिक अपेक्षाको न मानकर उन्हे स्वतत्र धर्मोंमे स्वीकार करते हैं और इस तरह स्याद्वाद-न्यायके शत्रु बने हुए हैं—वह ऐकात्म्य नहीं बनता (उसी प्रकार जिस प्रकार कि अस्तित्व-नास्तित्वका

3. P —त्वादिभ्रान्ते।

ऐकात्म्य नही बनता ), **क्योंकि उससे** ( वन्ध्या-पुत्रकी तरह ) **विरोध दोष आता है**—अद्वैतैकात पृथक्त्वैकातका और पृथक्त्वैकात अद्वैतैकातका सर्वथा विरोधी होनेसे दोनोमे ऐकात्मता घटित नही हो सकती । (अद्वैत, पृथक्त्व और उभय तीनो एकान्तोकी मान्यतामे दोष देखकर) **यदि अवाच्यता** ( अवक्तव्यता ) **एकान्तको माना जाय**—यह कहा जाय कि वस्तुतत्त्व एकत्व या पृथक्त्वके रूपमे सर्वथा अवाच्य ( अनिर्वचनीय या अवक्तव्य ) है—**तो वस्तुतत्त्व 'अवाच्य है' ऐसा कहना भी नहीं बनता**—इस कहनेसे ही वह 'वाच्य' हो जाता है, अवाच्य नही रहता, क्योकि सर्वथा 'अवाच्य' की मान्यतामे कोई वचन व्यवहार घटित ही नही हो सकता ॥ ३२ ॥

33) **अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वयहेतुतः ।**
**तदेवैक्य पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥ ३३ ॥**

§ 33 **एकत्वपृथक्त्वे नैकान्ततः[1] स्तः, प्रत्यक्षादिविरोधात्, इति स्पष्टयति—पृथक्त्वैकत्वे तथाभूते न स्ताम्, एकत्वपृथक्त्वरहितत्वाद्, व्योमकुसुमादिवत् । सापेक्षत्वे हि तदेवैक्य पृथक्त्व मित्यविरुद्धं सपक्षविपक्षयोर्भावाभावाभ्या साधनवत् । स्वभेदैर्वा संवेदनवत् । [2]स्वारम्भकावयवैर्वा घटादिवत् । तादृशं हि साधनं स्वार्थक्रियायाः तदन्तरेणापि पाठान्तरमिदं बहुसंगृहीतं भवति ॥ ३३ ॥**

§ 33 सामान्यविशेषौ परस्परानपेक्षावन्याभ्युपगतौ निरस्य तौ सापेक्षौ सन्तावर्थक्रिया कुरुत इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमाह—परस्परानपेक्षे पृथक्त्वैक्ये सामान्यविशेषाववस्तु अर्थक्रियाकारि न भवति द्वयहेतोर्द्वाभ्याम् । कथम् । सामान्य नास्ति विशेषशून्यत्वात्, यद्यद्विशेषशून्य तत्तन्नास्ति, यथा खरविषाण, सामान्य च तथा परपरिकल्पितम् । तथा नास्ति विशेष सामान्यशून्यत्वात्, खरविषाणविशेषवत् । इत्यनेन हेतुद्वयेन सामान्यविशेषयोरवस्तुत्व साधनीयम् । **तदेव** वस्तु **ऐक्य** सामान्य विशेषश्च **पृथक्त्व च** द्वयात्मकम् । कुत , अविरोधात् । **यथा साधन** हेतुर्ज्ञान वाक्य वा **स्वभेदैः** स्वधर्मै पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकादिभिर्भिन्नमेक भवति ॥ ३३ ॥

§ 33 **एक दूसरेकी अपेक्षा न रखनेवाले पृथक्त्व और एकत्व चूँकि हेतुद्वयसे अवस्तु है**—एकत्व-निरपेक्ष होनेसे पृथक्त्वका और पृथक्त्व-निरपेक्ष होनेसे एकत्वका कही कोई अस्तित्व नही बनता—**अतः एकत्व और पृथक्त्व सापेक्षरूपमे विरोधको प्राप्त न होनेसे उसी प्रकार वस्तुत्वको प्राप्त है जिस प्रकार कि साधन** ( हेतु )—साधन **अपने** पक्षधर्मत्व, सपक्षमे सत्त्व और विपक्षसे व्यावृत्तिरूप भेदो तथा अन्वय-व्यतिरेकरूप **भेदोके साथ** सापेक्षताके कारण विरोधको न रखते हुए **वस्तुत्वको प्राप्त** है ॥ ३३ ॥

34) **सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग् द्रव्यादिभेदतः ।**
**भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥ ३४ ॥**

§ 34 **सर्वार्थाना समानपरिणामेऽपि कथमैक्यं भेदानां स्वभावसाङ्कर्यानुपपत्तेः । यथैकभेदस्य स्वभावविच्छेदाभावात् । अन्यथैकं सदन्यदसत्स्यात् । तत्समञ्जसं सर्वमेकं सदविशेषात् इति । तस्यैव सतो द्रव्यादिभेदात् पृथक्त्वम् । उदाहरणं पूर्ववत् ॥ ३४ ॥**

---

33) 1. A,B –नेकान्तः । 2. P सारंभ ।

§ 34 ननु तदेवैक्य पृथक्त्व च कथम्, यावता विरुद्धमेतत्—सतोऽस्तित्वस्य सामान्य यत्तत्तथा तस्मात् सर्वस्यैक्यमेव । द्रव्यादिभेदैर्द्रव्यपर्यायगुणादिभेदैरथवा द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्भिन्न पृथक्त्वमेव । भेदश्चाभेदश्च तयोर्विवक्षाया क्रियमाणायामसाधारणहेतु श्रावणत्वप्राणादिमत्त्वादिस्तद्वत् । यद्यप्यत्रान्वयो नास्ति तथाप्यन्यथानुपपत्तिबलेन सिद्धमिति ॥ ३४ ॥

§ 34 ( यदि यह कहा जाय कि एकत्वके प्रत्यक्ष-बाधित होनेके कारण और पृथक्त्वके सदाद्यात्मकतासे बाधित होनेके कारण प्रतीतिका निर्विषयपना है तब सब पदार्थोंमे एकत्व और पृथक्त्वको कैसे अनुभूत किया जा सकता है ? तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि ) **सत्ता - अस्तित्वमे समानता होनेकी दृष्टिसे तो सब** ( जीवादि पदार्थ ) **एक हैं**—इसलिये एकत्वकी प्रतीतिका विषय सत्सामान्य होनेसे वह निर्विषय नही है—**और द्रव्यादिके भेदकी दृष्टिसे**—द्रव्य, गुण और कर्मकी अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी जुदी-जुदी अपेक्षाको लेकर—**सब** ( जीवादि पदार्थ ) **पृथक् हैं**—इसलिये पृथक्त्वकी प्रतीतिका विषय द्रव्यादि-भेद होनेसे वह निर्विषय नही है। **जिस प्रकार असाधारण हेतु अभेदकी दृष्टिसे एकरूप और भेदकी दृष्टिसे अनेकरूप है उसी प्रकार सब पदार्थोंमे भेदकी विवक्षासे पृथक्त्व और अभेदकी विवक्षासे एकत्व सुघटित है ॥ ३४ ॥**

35) **विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि ।**
**सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः ॥ ३५ ॥**

§ 35. **विधिप्रतिषेधधर्माणा सतामेव विवक्षेतराभ्या योगस्तदर्थिभिः क्रियेत, अन्यथार्थनिष्पत्तेरभावादुपचारमात्र तु स्यात् । न चाग्निर्माणवक इत्युपचारात्पाकादावुपयुज्यते । तदेकैकशः परस्परव्यावृत्तयोऽपि परिणामविशेषा. ॥ ३५ ॥**

§ 35 केषाचिद्विद्यमानस्याविवक्षाविद्यमानस्यैव विवक्षा, अन्येषा वैयाकरणाना विद्यमानस्यैव विवक्षा नाविद्यमानस्य, अन्येषा विवक्षा नास्तीत्येतन्मतनिराकरणायाह—सतो विद्यमानस्य विशेषणस्यास्तित्वादेर्विवक्षा चाविवक्षा च । नासतो नाविद्यमानस्य क्रियते । कैस्तदर्थिभिर्विवक्षाप्रयोजनवद्भि । अत्रैकस्मिन् । कुत , लोकप्रसिद्धमेतत् ॥ ३५ ॥

§ 35 ( यदि यह कहा जाय कि विवक्षा और अविवक्षाका विषय तो असत्रूप है तब उनके आधारपर तत्त्वकी व्यवस्था कैसे युक्त हो सकती है, तो ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि) **अनन्तधर्मा विशेष्यमे विवक्षा तथा अविवक्षा जो की जाती है वह सत् विशेषणकी ही की जाती है असत्की नहीं और यह उनके द्वारा की जाती है जो उस विशेषणके अर्थी या अनर्थी हैं**—अर्थी विवक्षा करता है और अनर्थी अविवक्षा । जो सर्वथा असत् है उसके विषयमे किसीका अर्थीपना या अनर्थीपना बनता ही नही—वह तो सकल-अर्थ-क्रियासे शून्य होनेके कारण गधेके सीगके समान अवस्तु होता है ॥ ३५ ॥

36) **प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती ।**
**तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥ ३६ ॥**

§ 36 **प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् । तदेवं सति भेदमभेदं वा नान्योऽन्यरहितं विषयीकरोति । न हि बहिरन्तर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षण वा तथैवोप-**

**लभामहे यथैकान्तवादिभिराम्नायते । सूक्ष्मस्थूलाकाराणां स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात्, तत्र स्वभावान्तरस्य प्राधान्यविवक्षायामाकारान्तरस्य गुणभावः स्यात् । घटोऽयं परमाणवो रूपादयो वेति ॥ ३६ ॥**

इत्याप्तमीमांसाभाष्ये द्वितीयः परिच्छेदः ॥

§ 36 कस्यचिद्भेद संवृतिकल्पितोऽन्यस्याभेद. संवृतिकल्पित इत्येता दुरागमवासनाजनिता विप्रतिपत्ति निराकर्तुमाह—**भेदाभेदौ प्रमाणगोचरौ** प्रमाणविषयौ **सन्तौ** भवन्तौ **संवृति**-रूपावपरमार्थौ, **न**, प्रमाणविषयत्वात् । अतस्तवागमे **तावेकत्रैकस्मिन्** धर्मिणि न **विरुद्धौ** । **गुणविवक्षया** अप्रधानविवक्षया । **मुख्यविवक्षया** प्रधानविवक्षया । दृश्यते च लोके प्रधानाप्रधानविवक्षा, यथानुदरा कन्येत्यादि ॥ ३६ ॥

§ 36. ( हे वीर जिन ! ) **भेद** ( पृथक्त्व ) **और अभेद** ( एकत्व-अद्वैत ) **दोनों ( धर्म ) सत्रूप** है—परमार्थभूत है— **संवृतिके विषय नही**—कल्पनारोपित अथवा उपचारमात्र नही है, **क्योकि दोनो प्रमाणके विषय हैं**—( इसीसे ) **आपके मतमे वे दोनो एक वस्तुमे गौण और मुख्यकी विवक्षाको लिये हुए एकमात्र अविरोधरूपसे रहते है**—फलत जिनके मतमे भेद और अभेदको परस्पर निरपेक्ष माना है उनके यहाँ वे विरोधको प्राप्त होते हैं और वनते ही नही । ( ऐसी स्थितिमे (१) सर्वथा भेदवादी बौद्ध, जो पदार्थोके भेदको ही परमार्थ सत्के रूपमे स्वीकार करते है—अभेदको नही, अभेदको संवृति ( कल्पनारोपित ) सत् वतलाते हे और अन्यथा विरोधकी कल्पना करते हे, (२) सर्वथा अभेदवादी ब्रह्माद्वैती आदि, जो पदार्थो के अभेदको ही तात्त्विक मानते है—भेदको नही, भेदको कल्पनारोपित वतलाते है और अन्यथा दोनोमे परस्पर विरोधकी कल्पना करते है, (३) सर्वथा शून्यवादी बौद्ध, जो भेद और अभेद दोनोमेसे किसीको भी परमार्थ सत्के रूपमे स्वीकार नही करते किन्तु उन्हे संवृति-कल्पनाका विषय वतलाते है, और ( ४ ) उभयवादी नैयायिक, जो भेद और अभेद दोनोको सद्रूपमे मानते तो है, परन्तु दोनोको परस्पर निरपेक्ष वतलाते है, ये चारो ही यथार्थ वस्तु-तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले सत्यवादी नही हे । इन सबकी दृष्टिसे इस कारिकाके अर्थका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—अभेद सत् स्वरूप ही है—संवृति ( कल्पना ) के विषयरूप नही, क्योकि वह भेदकी तरह प्रमाण-गोचर है । भेद सद्रूप ही है—संवृतिरूप नही, प्रमाण-गोचर होने से, अभेदकी तरह । भेद और अभेद दोनो सत् रूप है—संवृतिके विषयरूप नही, प्रमाण-गोचर होने से, अपने इष्ट तत्त्वकी तरह, और इस प्रकार एक अन्य पक्ष भी संगृहीत होता है, क्योकि उन दोनोको संवृतिरूप वतलानेवालो एवं वस्तुको समस्त धर्मो से शून्य माननेवालो ( शून्यवादियो ) का भी सद्भाव पाया जाता है । ( यहाँ इन पक्षोके अनुमानोमे जो-जो उदाहरण हैं वे साध्य-साधन-धर्मसे विकल ( रहित ) नही है, क्योकि भेद, अभेद, उभय और अनुभय एकान्तोंके माननेवालोमे उसकी प्रसिद्धि स्याद्वादियोकी तरह पाई जाती है । ) इस तरह हे वीर भगवान् ! आपके यहाँ एक वस्तुमे भेद और अभेद दोनो धर्म परमार्थसत्के रूपमे विरुद्ध नही है, मुख्य-गौणकी विवक्षाके कारण प्रमाण-गोचर होनेसे अपने इष्टतत्त्वकी तरह । और इसलिये सामर्थ्यसे यह अनुमान भी फलित होता है कि जो भेद और अभेद परस्परनिरपेक्ष हे वे विरुद्ध ही है, प्रमाण-गोचर होनेसे, भेदैकान्तादिकी तरह । यह स्पष्टीकरण श्रीविद्यानन्दाचार्यने अपनी अष्टसहस्री-टीकामे "इति कारिकायामर्थसंग्रह" इस वाक्यके साथ दिया है ॥३६॥

॥ इति देवागमाप्तमीमांसाया द्वितीय परिच्छेद ॥

# तृतीयपरिच्छेदः

37) **नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते ।**
**प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥ ३७ ॥**

§ 37 **सदसदैकत्वपृथक्त्वैकान्तप्रतिषेधानन्तरं नित्यत्वैकान्तप्रतिक्षेपः । पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणामर्थक्रियां कौटस्थ्येऽपि ब्रुवाणः कथमनुन्मत्तः, कारकज्ञापकहेतुव्यापारासंभवात् । परिणामविवर्तधर्मावस्थाविकाराणां स्वभावपर्यायत्वात् । तदेतद्विनाशोत्पत्तिनिवारणमबुद्धिपूर्वकम्, प्रत्यक्षादिविरोधात्, क्षणिकैकान्तवत् ॥ ३७ ॥**

§ 37 नित्यत्वैकान्तं निराकर्तुमाह—उक्तपक्षदोषभयान्नित्यत्वैकान्तपक्ष आश्रीयते, तत्रापि सतो भावस्यान्तरावाप्तिर्विक्रिया, सा **नोपपद्यते** न घटत इत्यर्थः । अत एव कारणात् **कारकाणि** कर्त्रादीनि तेषामभावः शून्यता । **प्रागेव** पूर्वमेव । तस्मिन्नभावे कारकविशेष**प्रमाण**वस्तु याथात्म्यप्रतिपादकं **क्व** तस्मिन् किन्तु न क्वचिदपि । तदभावे **क्व** प्रमाणफलमुपेक्षाहानोपादानादिकम् ॥ ३७ ॥

§ 37 **यदि नित्यत्व एकान्तका पक्ष लिया जाय**—यह माना जाय कि पदार्थ सर्वथा नित्य है, सदा अपने एक ही रूपमे स्थिर रहता है—**तो विक्रियाकी उपपत्ति नहीं हो सकती**—अवस्थासे अवस्थान्तररूप परिणाम, हलन-चलनरूप परिस्पन्द अथवा विकारात्मक कोई भी क्रिया पदार्थमे नही बन सकती, **कारकोका**—कर्त्ता, कर्म, करणादिका—**अभाव पहले ही** ( कार्योत्पत्तिके पूर्व ही ) **होता है**—जहाँ कोई अवस्था न बदले वहाँ उनका सद्भाव बनता ही नही—**और जब कारकोका अभाव है तब** (प्रमाताका भी अभाव होनेसे) **प्रमाण और प्रमाणका फल जो प्रमिति** ( सम्यग्ज्ञप्ति—यथार्थ जानकारी ) **ये दोनो कहाँ बन सकते हैं ?**—नही बन सकते । इनके तथा प्रमाताके अभावमे नित्यत्व एकान्तका पक्ष लेनेवाले सांख्योंके यहाँ जीवतत्त्वकी सिद्धि नही बनती और न दूसरे ही किसी तत्त्वकी व्यवस्था ठीक बैठती है ॥ ३७ ॥

38) **प्रमाणकारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत् ।**
**ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद् बहिः ॥ ३८ ॥**

§ 38 **अथ मतम् प्रमाणकारकाणि व्यवस्थितमेव भावं व्यञ्जयन्ति चक्षुरादिवत् स्वार्थम् । ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्धम् । विषयविशेषविज्ञानादेः शाश्वतत्वान्न किंचिद् व्यक्तयर्थं[1] पश्यामः । कथंचिदपूर्वोत्पत्तौ तदेकान्तविरोधात् । तदभावविकार्यानुपपत्तेः । न वै किंचिद्विरुद्धं कार्यकारणभावाभ्युपगमात्, इत्यनालोचितसिद्धान्तम् ॥ ३८ ॥**

§ 38 मा भूद्विक्रिया व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो भविष्यत्यत आह—**प्रमाणानि** प्रत्यक्षादीनि । कर्तृकर्मकरणसप्रदानापादानाधिकरणानि **कारकाणि तैर्व्यक्तं** प्रकाशितं व्यञ्जितं कृतम् । **व्यक्तं** महदादि । यथेन्द्रियैश्चक्षुरादिभिरर्थो विषयः । **चेद्य**द्येवम् । **ते च** व्यङ्ग्यव्यञ्जके **नित्ये** अविचलि-

38) 1 P व्यक्तार्थं ।

तैकरूपे । किं विकार्यं यावता हि न किंचिदपि । तव **साधोर्मुने शासनात्** प्रवचनात् **बहिरन्ये**-ष्वयमेव हि विकारो यो वस्तुन्यन्यथाभावो व्यक्तिरप्यन्यथाभाव अव्यक्तात् । व्यक्तमन्यत् । तव शासने पुन सर्वं सुघटम् ॥ ३८ ॥

§ 38 ( यदि साख्यमत-वादियोकी ओरसे यह कहा जाय कि कारणरूप जो अव्यक्त पदार्थ है वह सर्वथा नित्य है, कार्यरूप जो व्यक्त पदार्थ है वह नित्य नही, उसे तो हम अनित्य मानते हैं और इसलिए हमारे यहाँ विक्रिया वनती हे, तो ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि ) **इन्द्रियोके द्वारा उनके विषयकी अभिव्यक्तिके समान जिन प्रमाणो तथा कारकोके द्वारा अव्यक्तको व्यक्त हुआ बतलाया जाता है वे प्रमाण और कारक दोनो ही जब सर्वथा नित्य माने गये है तब उनके द्वारा विक्रिया वनती कौन-सी है ?**—सर्वथा नित्य के द्वारा कोई भी विकाररूप क्रिया नही वन सकती और न कोई अनित्य कार्य ही घटित हो सकता है । **हे साधो !** – वीर भगवन् !—**आपके शासनसे बाह्य**—आपके द्वारा अभिमत अनेकान्तवादकी सीमाके वाहर—**जो नित्यत्वका सर्वथा एकान्तवाद है उसमे विक्रियाके लिए कोई स्थान नहीं है**—सर्वथा नित्य कारणोसे अनित्य कार्योकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति वन ही नही सकती और इसलिये उक्त कल्पना भ्रममूलक है ॥ ३८ ॥

39) **यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति ।**
**परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥ ३९ ॥**

§ 39 **न तावत्सतः कार्यत्वं चैतन्यवत् । नाप्यसतः, सिद्धान्तविरोधात्, गगनकुसुमवत्**[1] **। नापरमेकान्तप्रकारान्तरमस्ति । विवर्तादेः पूर्वोत्तरस्वभावप्रध्वंसोत्पत्तिलक्षणत्वात् । तदेतत्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधात्, इत्यनेकान्तोक्तिरन्धसर्पविलप्रवेशन्यायमनुसरति ॥ ३९ ॥**

§ 39 पुनरपि कदर्थयितुमाह—असत्किंचिदपि नोपपद्यते सर्वं सर्वत्र सर्वस्मादत आह—**यदि सर्वथा** विश्वप्रकारैर्यथा शक्त्यात्मना एव व्यक्तात्मनापि **कार्यं** घटादिकं **सत्** विद्यमानम् । पुमानिव **पुंवत्** साख्यपरिकल्पितपुरुषवत् । **नोत्पत्तु** नो प्रादुर्भवितु**मर्हति** योग्य भवति । यद्यत्सर्वथा सत् न तदुत्पद्यते । यथा साख्यपुरुष । सच्च सर्वथा कार्यं तस्मान्नोत्पद्यते । अथ व्यवस्था तस्य द्रव्यस्य धर्मान्तरत्यागेर्धर्मान्तरोपजनित परिणाम इष्यते । अत आह—**परिणामस्य प्रक्लृप्तिः** कल्पना समर्थन **च** सर्वस्य **नित्यत्वमिति** योऽयमेकान्तस्तस्य **बाधिनी** तन्निराकरणशीला विरोधिनी इत्यर्थ ॥ ३९ ॥

§ 39 ( यदि साख्योकी ओरसे यह कहा जाय कि हम तो कार्यकारण-भावको मानते है महदादि कार्य हे और प्रधान उनका कारण है—इसलिए हमारे यहाँ विक्रियाके वननेमे कोई वाधा नही आती, तो यह कहना अनालोचित सिद्धान्तके रूपमे अविचारित है, क्योंकि कार्यको सत् और असत् इन दो विकल्पोंके अतिरिक्त तीसरी कोई गति नहीं । ) **कार्यको यदि सर्वथा सत् माना जाय तो वह चैतन्यपुरुषकी तरह उत्पत्तिके योग्य नहीं ठहरता**—कूटस्थ

---

39) 1. As –कुसुमादिवत् ।

होनेसे उसमे उत्पत्ति जैसी कोई बात नही बनती, जिस प्रकार कि पुरुषमे नही बनती। दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि जो सर्वथा सत् है उसके चैतन्यकी तरह कार्यत्व नही बनता, चैतन्य कार्य नही है, अन्यथा चैतन्यरूप जो पुरुष माना गया है, उसके भी कार्यत्वका प्रसग आएगा। अत जिस प्रकार सर्वथा सत्रूप होनेसे चैतन्य कार्य नही है उसी प्रकार महदादिकके भी कार्यत्व नही बनता। जब नई कार्योत्पत्ति ही नही तब विक्रिया कैसी ? और कार्यको यदि सर्वथा असत् माना जाय तो उससे सिद्धान्तविरोध घटित होता है, क्योकि कार्य-कारण-भावकी कल्पना करनेवाले साख्योके यहाँ कार्य सत् रूपमे ही माना है—गगन-कुसुमके समान असत्-रूपमे नही। ( यदि यह कहा जाय कि वस्तुमे अवस्थासे अवस्थान्तर होने रूप जो विवर्त है—परिणाम है—वही कार्य है तो इससे वस्तु परिणामी ठहरी ) **और वस्तुमे परिणामकी कल्पना ही नित्यत्वके एकान्तको बाधा पहुँचाने वाली है**—सर्वथा नित्यत्वके एकान्तमे कोई प्रकारका परिणाम, परिवर्तन अथवा अवस्थान्तर बनता ही नही ॥ ३९ ॥

40) **पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभाव फलं कुतः ।**
**बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायक ॥ ४० ॥**

§ 40 **नैतत्प्रेक्षापूर्वकारिभिराश्रयणीयम्, पुण्यपापप्रेत्यभावबन्धमोक्षविकल्परहितत्वात्, नैरात्म्यादिवत् । न चैतत्क्वचिदेकान्ते संभवति ॥ ४० ॥**

§ 40 अतो बन्धमोक्षादिकमत्र न सभवति नित्यत्वात्प्रकृतिपुरुषयो । तव मते पुन. संभवतीत्याह—मैत्रीप्रमोदकरुणादिक्रियाभावे कुत पुण्यहेतुत्वात् **पुण्यम्** । हिंसादिरशुभपरिणाम पापहेतुत्वात्**पापम्** । तयो **क्रिया** क्षयोपार्जन **न स्यात्** न भवेत् । अत एव क्रियाभावे **कुतः प्रेत्यभावः** । जन्मान्तरफल च सुखदु खादिरूप कुत । **बन्धः** कर्मणा अस्वतन्त्रीकरणम्, **मोक्षः** स्वात्मोपलब्धि , एतौ **च** द्वौ **तेषा न** येषा त्व **नासि** न भवसि । **नायकः** प्रभु । किमुक्त भवति—एतत्सर्वं त्वच्छासन एव नान्येषा नित्यत्ववादिनाम्, कुत , विक्रियाभावात् ॥ ४० ॥

§ 40 ( ऐसी स्थितिमे हे वीरजिन ! ) **जिनके आप** (अनेकान्तवादी) **नायक** (स्वामी) **नहीं हैं उन सर्वथा नित्यत्वैकान्तवादियोके यहाँ** ( मत मे ) **पुण्य-पापकी क्रिया**—मन-वचन-कायकी शुभ या अशुभ प्रवृत्तिरूप अथवा उत्पादव्ययरूप कोई क्रिया—**नहीं बनती,** ( क्रियाके अभावमे ) **परलोक-गमन भी नहीं बनता,** ( सुख-दु खरूप ) **फलप्राप्तिकी तो बात ही कहाँसे हो सकती है ?**—वह भी नही बन सकती—**और न बन्ध तथा मोक्ष ही बन सकते हैं।**—तब सर्वथा नित्यत्वके एकान्तपक्षमे कौन परीक्षावान् किसलिए आदरवान् हो सकता है ? उसमे सादर-प्रवृत्तिके लिये किसी भी परीक्षकके वास्ते कोई भी आकर्षण अथवा कारण नही है ॥ ४० ॥

41) **क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः ।**
**प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भ कुतः फलम् ॥ ४१ ॥**

§ 41 **क्षणक्षयैकान्तदर्शनमहितम्, असंभवत्प्रेत्यभावादित्वात्, उच्छेदैकान्तवत् ध्रौव्यैकान्ताभ्युपगमवद्वा । भिन्नकालक्षणानामसंभवद्वासनत्वात्, अकार्यकारणवत् । न विनष्टं कारणमसत्त्वात्, चिरतरातीतवत्, समनन्तरत्वेऽप्यभावाविशेषात् । न च पूर्वस्योत्तरं कार्यं**

तदसत्येव हि भावात्, वस्वन्तरवदतिक्रान्ततमवद्वा । न हि समर्थेऽस्मिन् सति स्वयमनुत्पित्सोः पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वं समनन्तरत्वं वा युक्तं नित्यवत् । कारणाभावाविशेषेऽपि कार्योत्पत्तिसमयनियमावक्लृप्तौ कस्यचित् कौटस्थ्येऽपि तत्करणसामर्थ्यसद्भावाभेदेऽपि कार्यजन्मनः कालनियमः किं न स्यात्, विशेषाभावात् । तथा चाकस्मिकत्वं स्यात् । उभयत्राविशेषेण कथंचिदनुपयोगेऽपि क्वचिद् व्यपदेशकल्पनायामन्यत्रापि किं न भवेत् । क्षणस्थितिरेकोऽपि भावोऽनेकस्वभावः, चित्रकार्यत्वात्, नानार्थवत् । न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तम्, रूपादिज्ञानवत् । अन्यथा रूपादेर्नानात्वं न सिद्ध्येत्, चक्षुरादिसामग्रीभेदात्तज्ज्ञाननिर्भासभेदोऽवकल्प्येत । युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टीनामपि भवितव्यमेव प्रतिभासभेदेन, कारणसामग्रीभेदात् । अन्यथा दर्शनभेदोऽपि माभूत् । प्रत्यासन्नेतरयोर्वैशद्येतरनिर्भासोपलब्धेः । सेयमुभयत पाशारज्जुः । सकृत्कारणस्वभावभेदमन्तरेण यदि कार्यनानात्वम्, क्रमशोऽपि कस्यचिदपेक्षितसहकारिणः कार्यसन्ततिः किं न स्यात् । सहकारिणस्तद्धेतुस्वभावमभेदयन्तोऽपि कार्यभेदहेतवः स्युः, क्षणक्षयवत् । न हि कादाचित्कानि तत्तत्कर्तुं समर्थानीति स्थिरोऽर्थस्तत्करणस्वभावं जहाति, तद्बुद्धिपूर्वकत्वाभावात् । क्षणिकसामग्रीसंनिपतितैककारणान्तरवत् । कल्पयित्वापि स्वहेतुप्रकृतिं भावाना स्वप्रकृतिरवश्यमन्वेष्या, तत्स्वभाववशात्तत्कारणप्रकृतिव्यवस्थापनात् । तदयमकारणोऽपि स्वभावनियतोऽर्थः स्यात् । यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्षं तत्तद्भावनियतम्,[1]यथा विनाशं प्रत्यनपेक्षं विनश्वरम् । तथैव स्थितिं प्रत्यनपेक्षं स्थास्नु, तद्धेतोरकिंचित्करत्वात्, तद्व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताकरणात्[2] इत्यादि सर्वं समानम् । आदौ स्थितिदर्शनात्, शब्दविद्युत्प्रदीपादेरन्तेऽपि स्थितेरनुमानं युक्तम् । अन्यथान्ते क्षयदर्शनादादौ तत्प्रतिपत्तिरसमञ्जसैव । तादृशः कारणादर्शनेऽपि कथंचिदुपादानानुमानवत्, तत्कार्यसन्तानस्थितिरदृष्टाप्यनुमीयेत । तस्मात्कथंचन स्थितिमतः प्रतिक्षणं विवर्तोऽपि नान्यथा, प्रभवादेरयोगात् कुतः प्रेत्यभावादिः । सत्यपि हेतुफलभावेऽकारणकार्यान्तरवत् सततिर्न स्यात् । अतादात्म्याविशेषात् । तत्स्वभावविशेषावक्लृप्तौ तादात्म्ये[3] कोऽपरितोष । विरोधस्य सर्वथाप्यपरिहार्यत्वात् । तत्सन्तानापेक्षया प्रेत्यभावादि मा भूत । ज्ञानज्ञेययो. प्रतिक्षण विलक्षणत्वात् । न वै प्रत्यभिज्ञानादिः[4] पुरुषान्तरवदर्थान्तरवच्च । ततः कर्मफलसंबन्धोऽपि नानासन्तानवदनियमान्न युक्तिमवतरति । तत्सूक्तम्—क्षणिकपक्षो [5]बुद्धिमद्भिरनादरणीयः, सर्वथार्थक्रियाविरोधात्, नित्यत्वैकान्तवत् । सत्येव कारणे यदि कार्यं त्रैलोक्यमेकक्षणवर्ति स्यात, ततः सन्तानाभावात्, पक्षान्तरासंभवाच्चेति स्थितमेतत्[6] ॥ ४१ ॥

§ 41 न केवल नित्यैकान्त एतेषामभाव किन्तु—क्षणिको निरन्वयविनाश स एवैकान्तपक्षस्तस्मिन्नपि, प्रेत्यभावादीना जन्मान्तरादीनामसंभवोऽभाव । प्रत्यभिज्ञा स एवायमिति ज्ञान सा आदिर्येषा ते प्रत्यभिज्ञादयस्तेषामभावस्तस्मान्न कार्यारम्भ ओदनघटादेरारम्भ आदिक्रिया । अत कुतः फल समर्पणादिक परिहारोऽनिष्टस्य । अस्मादेतत्कार्यं भविष्यति नान्यस्मादेतदपि न सभवत्येव । आदिशब्देन पर्यालोचनाध्यवसायादोना ग्रहणम् । यदि कश्चित् स्थिर कर्ता स्यादुपादानादीन्यपि यदि स्थिराणि सन्त्यस्य कार्यस्य, एतद्योग्यमेव[7] तन्निराकरणमपि । कथंचिद्यदि कार्यरूपेण परिणमति तदा सर्वं सुघट नान्यथा ॥ ४१ ॥

---

41) 1 P तथा । 2 P –कारणात् । 3. P –त्म्येऽपि । 4 P –ज्ञादि । 5. P विद्वद्भिर– । 6. As–मेव । 7. P – योग एव ।

§ 41 ( नित्यत्वैकान्तमे दोष देखकर ) **यदि क्षणिक एकान्तका पक्ष लिया जाय**—बौद्धोंके सर्वथा अनित्यत्वरूप एकान्तवादका आश्रय लेकर यह कहा जाय कि सर्व पदार्थ क्षण-क्षणमे निरन्वय-विनाशको प्राप्त होते रहते हैं, कोई भी उनमे स्थिर नही है—**तो भी प्रेत्यभावादिक असंभव ठहरते हैं**—परलोकगमन और बन्ध तथा मोक्षादिक नही बन सकते। ( इसके सिवाय प्रत्यभिज्ञान, स्मरण और अनुमानादि जैसे ज्ञान भी नही बन सकते ) **प्रत्यभिज्ञानादि जैसे ज्ञानोंका अभाव होनेसे कार्यका आरम्भ नही बनता और जब कार्यका आरम्भ ही नहीं तब उसका** ( सुख-दु खादिरूप अथवा पुण्य-पापादिरूप ) **फल तो कहांसे हो सकता है ?**—नही हो सकता। अत सर्वथा क्षणिकैकान्त भी परीक्षावानोके लिये आदरणीय नही है ॥ ४१ ॥

42) **यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत् ।**
**मोपादाननियामोऽभून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥ ४२ ॥**

§ 42 **कथंचित् सतः कार्यत्वमु[1]पादानस्योत्तरीभवनात, सकृदपि विरुद्धधर्माध्यासानिराकृते । तथा चान्वयव्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनिबन्धनायाः किं फलमपलापेन । तदन्यतरनिराकृतावुभयनिराकृति., अभेदात् । तन्नासत्कार्यम्, [2]सर्वथाप्यनुत्पादप्रसङ्गात्, खपुष्पवत् । न तादृक्कारणवत्, सर्वथाभूतत्वात्, वन्ध्यासुतवत् । कथंचिदस्थितानुत्पन्नत्वादिति योज्यम् । सत्यपि प्रभवलक्षणे पूर्वपूर्वस्योत्तरीभवने मृत्पिण्डस्यासकोशकुशूलादिषु सकललोकसाक्षिक, स्वमनीषिकाभिः सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भानवधारणावक्लृप्तिमारचयता मोपादाननियामोऽभूत्कारणान्तरवत्, तदन्वयाभावाविशेषात्, सर्वथा वैलक्षण्यात् । निरन्वयस्यापि तादृशी प्रकृतिरात्मानं कारणान्तरेभ्यो यया विशेषयतीति चेत्, न, अत्यन्तविशेषानुपलब्धे. । तद्विशेषादर्शने सर्वथान्ध्य[3] स्यात् । तस्मात् इयमस्य प्रकृतिर्यया पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादानाधिकरणस्थितिं प्रतिक्षण बिभर्ति यतोऽयमुपादाननियम. सिद्धः । अथापि कथंचिदुपादाननियमः कल्प्येत, कार्यजन्मनि कथमाश्वास , तदत्यन्तासतः कार्यस्योत्पत्तेस्तन्तुभ्य. पटादिरेव न [4]घटादिरिति निर्हेतुको नियमः स्यात् । पूर्वपूर्वविशेषादुत्तरोत्तरनियमकल्पनायामनुपादानेऽपि स्यात् । तथादर्शनमहेतुरत्रैव, विचारात् कथंचिदाहितविशेषतन्तूनां पटस्वभावप्रतिलम्भोपलम्भात् । तदन्यतरविधिप्रतिषेधनियमनिमित्तात्ययात् प्रतीतेरलमपलापेन । [5]तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरनन्वयस्यैव न पुनरुभयरूपस्येत्यलं प्रसङ्गेन ॥ ४२ ॥**

§ 42 तत्र कारणे कार्यं मनागपि नास्तीति चेदत आह—सर्वथा शक्तिव्यक्तिस्वरूपेण **यदसत्** अविद्यमान **तत्कार्यं माजनि** माभूत् । खपुष्प गगनकुसुम तदिव **खपुष्पवत्** । **उपादानं** मृत्पिण्डतन्त्वादिक, तस्य **नियामोऽ**स्मादेतत्कार्यं भवतीति निश्चय., सोऽपि **माभूत्** । **आश्वासः** अस्मादेतद्भविष्यति, अयमपि माभूत् । **कार्यजन्मनि** कार्योत्पत्तौ ॥ ४२ ॥

§ 42 ( क्षणिकैकान्तमे कार्यका सत्-रूपसे उत्पाद तो बनता ही नही, क्योकि उसमे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है—क्षणिक एकान्तमे किसी भी वस्तुको सर्वथा सत्-रूप नही माना गया है। तब कार्यको असत् ही कहना होगा। ) **यदि कार्यको सर्वथा असत् कहा जाय**

---

42) 1 A, B –त्वोपा– । 2 P सर्वथानु– । 3 P साध्य । 4. As कुटादि । 5 P –दुभय– ।

**तो वह आकाशके पुष्प-समान न होने रूप ही है। यदि असत्का भी उत्पाद माना जाय तो फिर उपादानकारणका कोई नियम नही रहता और न कार्यकी उत्पत्तिका कोई विश्वास ही बना रहता है**—गेहूँ बोकर उपादानकारणके नियमानुसार हम यह आशा नही रख सकते कि उससे गेहूँ ही पैदा होगे, असदुत्पादके कारण उससे चने, जौ या मटरादिक भी पैदा हो सकते है और इसलिए हम किसी भी उत्पादन कार्यके विषयमे निश्चित नही रह सकते, सारा ही लोक-व्यवहार विगड जाता है और यह सब प्रत्यक्षादिकके विरुद्ध है ॥ ४२ ॥

43) **न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयात् ।**

**सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥ ४३ ॥**

§ 43 **विलक्षणानामत्यन्तभेदेपि स्वभावत. किलासंकीर्णा. सन्ततयः कर्मफलसंबन्धादिनिबन्धनं शशविषाणस्येव वर्तुलत्वमारचितं कश्चेतनः श्रद्दधीत ॥ ४३ ॥**

§ 43 पुनरपि दोषमुद्भावयितुमाह—क्षणिकैकान्तपक्षे हेतु कारणम्। फल कार्यं तयोर्भावोऽस्तित्व स आदिर्यस्य स हेतुफलभावादिरुपादानोपादेयस्वरूप कार्यकारणभावो वाच्यवाचकभावश्च न स्यात्। कुत । अन्यभावादत्यन्तपृथक्त्वात्। तदपि कुत । अनन्वयादेकस्य पूर्वापरावस्थाभावात्। तथा सन्तानान्तरे प्रस्तुतसन्तानादन्य सन्तान सन्तानान्तरं तस्मिन्यथा न सभवति कार्यकारणभाव मृत्पिण्डात्पट इव। अभ्युपगम्यैतदुक्त परमार्थतस्तु सन्तानिभ्यो भिन्नेभ्य पृथग्भूतेपु ततो न कश्चिदेकः सन्तानोऽनुगतैकाकार । अन्यान्यभावाभ्या निराकृतत्वात्। तस्मान्न सन्तानो नापि सन्तानिन इति ॥ ४३ ॥

§ 43 ( इसके सिवाय ) **क्षणिकैकान्तमे पूर्वोत्तरक्षणोके हेतुभाव और फलभाव आदि कभी नही बनते; क्योकि सर्वथा अन्वयके न होनेके कारण उन पूर्वोत्तरक्षणोमे सन्तानान्तरकी तरह सर्वथा अन्यभाव होता है।** ( यदि यह कहा जाय कि पूर्वोत्तर-क्षणोका सन्तान एक है तो यह ठीक नही, क्योकि **जो एकसन्तान होता है वह सन्तानीसे पृथक् नहीं होता**—सर्वथा पृथक्रूपमे उसका अस्तित्व वनता ही नही ॥ ४३ ॥

44) **अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम् ।**

**मुख्यार्थः संवृति[1]र्न स्यात् विना मुख्यान्न संवृतिः ॥ ४४ ॥**

§ 44 **संतानिभ्योऽनन्यः संतानः अन्यथात्मनो नामान्तरकरणात् नित्यानित्यविकल्पानुपपत्तेः, अपि तु [2]संवृत्यान्येष्वनन्यव्यवहारादेकत्वमुपचरितमिति। व्यलीकव्यवहारेऽपि विशेषानुपपत्तेः सबन्धनियमाभावस्तदवस्थः। उपचारस्तु नर्ते मुख्यात्, यथाग्निर्माणवक इति स्खलति हि तत्रानन्यप्रत्यय , परीक्षाक्षमत्वात्। अत एवामुख्यार्थं प्रस्तुतासाधनम् ॥ ४४ ॥**

§ 44 पुनरपि तस्य दूषणमाह—सत्य सन्तानिभ्यो व्यतिरिक्त सन्तानो नास्ति किंतु अन्येषु पृथग्भूतेपु योऽयमनन्यशब्दोऽनन्यबुद्धिश्च सन्तान सा संवृतिरुपचार । यद्येव कथं सा न मृषा व्यलीका भवेत्। न च मुख्यार्थ. संवृतिरस्ति, तस्यास्तुच्छरूपत्वात्। सवृतिस्तूपचार । न च मुख्यार्थमन्तरेण संवृति , सति मुख्यार्थे तस्या सभवो यथा सिहोऽय माणवक सति मुख्यसिंहे माणवके सिहकल्पना। न चैव सवृतेरस्ति मुख्यार्थ इति ॥ ४४ ॥

44) 1 A P नास्ति। 2 P तु तेष्वनन्य–।

§ 44. यदि ( बौद्धोकी ओरसे ) **यह कहा जाय कि अन्योमें अनन्य शब्दका यह जो व्यवहार है**—सर्वथा भिन्न चित्त-क्षणोको जो सन्तानके रूपमे अनन्य, अभिन्न अथवा एक आत्मा कहा जाता है—**वह संवृति है**—काल्पनिक अथवा औपचारिक है, वास्तविक नही—**तो सर्वथा संवृतिरूप होनेसे वह मिथ्या क्यो नहीं है ?** अवश्य ही मिथ्या है, और इसलिये उसके आधार-पर सन्तान आत्मा जैसी कोई वस्तु व्यवस्थित नही बनती। **यदि संतानको मुख्य अर्थके रूपमे माना जाय तो जो मुख्यार्थ होता है वह सर्वथा संवृतिरूप नही होता और यदि संवृतिरूपमे उसे माना जाय तो संवृति विना मुख्यार्थके बनती नहीं**—मुख्यके विना उपचारकी प्रवृत्ति होती ही नही, जैसे सिंहके सद्भाव-विना सिंहका चित्र नही बनता ॥ ४४ ॥

45) **चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः ।**
**तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः सन्तानतद्वतो'** ॥ ४५ ॥

§ 45 **सत्त्वैकत्वादिषु सर्वधर्मेषु सदसदुभयानुभयादिचतुष्कोटेरभिधातुमशक्यत्वात् सन्तान-तद्वतोरपि भेदाभेदोभयानुभयचतुष्कोटेरनभिलाप्यत्वम् । सत्त्वे तदुत्पत्तिविरोधादसत्त्वे पुन-रुच्छेदपक्षोपक्षिप्तदोषादुभयत्रोभयदोषप्रसङ्गादनुभयपक्षेऽपि विकल्पानुपपत्तिरित्यादि योज्यम्** ॥ ४५ ॥

§ 45 अथैव परिकल्प्यते—यथा सर्वधर्मेषु चतस्र' कोट्यो सत्त्वैकत्वादिषु विभागा यस्यासौ **चतुष्कोटिर्विकल्पस्तस्य** सदसदुभयादिभेदभिन्नस्य विकल्पस्य। **उक्तिर्वचन** तस्या **अयोगो**ऽसभव तत । **तयोः संतानतद्वतोश्चतुष्कोटेर्विकल्पस्य** वचनस्यायोगात्तत्त्वान्यत्वमेकत्वानेकत्वम-**वाच्यम्** ॥ ४५ ॥

§ 45 **यदि** ( बौद्धोकी ओरसे ) **यह कहा जाय कि चूंकि सब धर्मोमें चतुष्कोटिविकल्पके कथनका अयोग है**—सत्त्व-एकत्वादि किसी भी धर्मके विषयमे यह कहना नही बन सकता कि वह सत्-रूप है या असत्-रूप है अथवा सद्-असत् दोनो ( उभय ) रूप है या दोनो रूप नही ( अनुभयरूप ) है, क्योकि सर्वथा सत् कहनेपर उसकी उत्पत्तिके साथ विरोध आता है, सर्वथा असत् कहनेपर शून्य-पक्षमे जो दोप दिया जाता है वह घटित होता है, सर्वथा उभयरूप कहनेपर दोनो दोपोका प्रसग आता है और सर्वथा अनुभय पक्षके लेनेपर वस्तु निर्विषय, नीरूप, नि स्वभाव अथवा निरुपाख्य ठहरती है और तव उसमे किसी भी विकल्पकी उत्पत्ति नही बनती—**अतः उन सन्तान सन्तानीका भी तत्त्व** ( एकत्व–अभेद ) **धर्म तथा अन्यत्व** ( नानात्व–भेद ) **धर्म** ( धर्म होनेसे ) **अवाच्य ठहरता है।** तदनुसार उभयत्व-अनुभयत्व धर्म भी ( अवाच्य ठहरते हैं ) क्योकि वस्तुके धर्मको वस्तुसे सर्वथा अनन्य ( अभिन्न ) कहनेपर, वस्तुमात्रका प्रसग आता है, वस्तुसे सर्वथा अन्य ( भिन्न ) कहनेपर व्यपदेशकी सिद्धि नही होती अर्थात् यह कहना नही बनता कि अमुक वस्तुका यह धर्म है, सर्वथा उभय ( भिन्नाऽभिन्न ) कहनेपर दोनो दोष आते हैं और सर्वथा अनुभय ( न भिन्न और न अभिन्न ) कहनेपर वस्तु निरुपाख्य एव नि स्वभाव ठहरती है—इससे सन्तान—सन्ततिके धर्म-विषयमे कुछ भी कहना नही बनता, ( तो यह कथन ठीक नही है, क्योकि ) ॥ ४५ ॥

46) **अवक्तव्यचतुष्कोटि[1]विकल्पोऽपि न कथ्यताम् ।**
**असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्यविशेषणम् ॥ ४६ ॥**

§ 46. **न हि सर्वथाऽनभिलाप्यत्वेऽनभिलाप्यचतुष्कोटेरभिधेयत्वं युक्तम्, कथंचिदभिलाप्यत्वप्रसङ्गात् । अपि चैवं सति सर्वविकल्पातीतमवस्त्वेव स्यादन्यत्र वाचोयुक्ते ॥ ४६ ॥**

§ 46 चेदत आह–तर्हि **अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोऽपि** य सोऽपि **न कथ्यता** माभाणीदित्यर्थ । अन्यथा भेदाभेदोभयानुभयस्वरूपेणाभिलाप्यत्वे कथंचिदनभिलाप्यत्व स्यात् । अन्यच्चैव सति **असर्वान्तं** सर्वविकल्पातीत**मवस्तु स्यात्** । **अविशेष्यविशेषणं** स्यात् । विशेष्यत इति विशेष. विशेष्यतेऽनेनेति विशेषण तयोरभावात् ॥ ४६ ॥

§ 4७ **तब तो** ( बौद्धोको ) **'चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है' यह भी नहीं कहना चाहिये;**—क्योकि सब धर्मोमे उक्तिका अयोग बतलाने अर्थात् सर्वथा अवक्तव्य ( अनभिलाप्य ) का पक्ष लेने पर 'चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है' यह कहना भी नही बनता, कहनेसे कथंचित् वक्तव्यत्वका प्रसग उपस्थित होता है और न कहने से दूसरोको उसका बोध नही कराया जा सकता । ऐसी स्थितिमे उसके सर्वविकल्पातीतत्व फलित होता है । **जो सर्वविकल्पातीत है वह असर्वान्त** ( सब धर्मो से रहित ) है **और जो असर्वान्त है वह** ( आकाश-कुसुमके समान ) **अवस्तु है; क्योकि उसके विशेष्य-विशेषणभाव नहीं बनता**—न वह विशेष्य है और न विशेषण । और यदि यह कहा जाय कि स्वसवेदनमे विशेषण-विशेष्य-रहित ही तत्त्व प्रतिभासित होता है तो वह ठीक नही, क्योकि स्वसवेदनके भी सत्त्व ( अस्तित्व ) विशेषणकी विशिष्टता से विशेष्यका ही अवभासन होता है । स्वसवेदन के उत्तरकालमे होनेवाले विकल्पबुद्धिमे 'स्वका सवेदन' इस प्रकार विशेषणविशेष्यभाव अवभासित होता है—स्वसवेदनके स्वरूपमे नही । यदि यह कहा जाय कि स्वसवेदन अविशेष्य-विशेषणरूप है और वह स्वत प्रतिभासित होता है तो इससे ( भी ) स्वसवेदन मे विशेषण-विशेष्यभाव सिद्ध होता है, क्योकि वैसा कहनेपर अविशेषणविशेष्यत्व ही विशेषण हो जाता है । ) ॥ ४६ ॥

47) **द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः ।**
**असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥ ४७ ॥**

§ 47 **द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरैः प्रतिषेधः संज्ञिनः सतः क्रियेत,[1] न पुनरसतस्तद्विधिप्रतिषेधाविषयत्वात् । न चैतद्विरुद्धं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत् । अभावोऽनभिलाप्य इत्यपि भावाभिधानादेकान्तवृत्तावेव दोषात् । भावाभिधानैरपि कथंचिदभावाभिधानात् ॥ ४७ ॥**

§ 47 अन्यच्च प्रतिषेधोऽपि न घटते, तत्कथमत आह–द्रव्यमादिर्येषा ते द्रव्यक्षेत्रकालभावास्तेभ्योऽन्यानि **द्रव्याद्यन्तराणि** तेषा **भाव**स्तेन परद्रव्यपरक्षेत्रपरकालपरभावस्वरूपेण य **प्रतिषेध. सतो** विद्यमानस्य । **संज्ञिनो** नामवतो भवति । य पुनर**सद्भेदो**ऽभावविशेष परकल्पितो नासौ **भाव.** स्वलक्षणम् । **विधिनिषेधयो**रस्तित्वनास्तित्वयो । **स्थानमा**स्पदम् । कुत । सर्वथा तस्य तुच्छत्वात् । तस्माद्भाव एव विधिनिषेधयोरवस्थान तस्यैव स्वपररूपेणास्तित्वनास्तित्वम् ॥४७॥

46) 1 A -कोटे- ।
47) 1 P क्रियते ।

§ 47. ( यदि विशेषण-विशेष्य भावको सर्वथा असत् माना जाय तो उसका निषेध नही वनता ? क्योकि ) **जो संज्ञी** ( स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा) **सत् होता है उसकी परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा निषेध किया जाता है, न कि असत्का। सर्वथा असत् पदार्थ तो विधि-निषेधका विषय ही नहीं होता**—जो पदार्थ परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षाके समान स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे भी असत् है वह सर्वथा असत् है, उसकी विधि कैसी ? जिसकी विधि नही उसका निषेध नही वनता, क्योकि निषेध विधि-पूर्वक होता है। और इसलिये जो सत् होकर अपने द्रव्यादिकी अपेक्षा कथचित् वक्तव्य है उसीके ( परद्रव्यादिकी अपेक्षा निषेध होनेसे ) अवक्तव्यपना युक्त ठहरता है। और जो सत्-पदार्थ स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा कथचित् विशेषण-विशेष्यरूप है उसीके ( परद्रव्यादिकी अपेक्षा ) अविशेष्य-विशेपणपना ठीक घटित होता है। अत. एकान्तसे कोई वस्तु अवक्तव्य या अविशेष्य-विशेषणरूप नही है, ऐसा बौद्धोको जानना चाहिये ॥ ४७ ॥

48) **अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात्सर्वान्तैः परिवर्जितम् ।**
**वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥ ४८ ॥**

§ 48. **भावव्यतिरेकवाचिभिरपि वाक्यतामापन्नैर्भावाभिधानान्नात्र किंचिद्विरुद्धम्। अत सूक्तम्, *यदवस्तु तदनभिलाप्य यथा न किंचित्। यत्पुनरभिलाप्यं तद्वस्त्वेव यथाख पुष्पमिति*[1] । *अन्यस्य* कैवल्यमितरस्य वैकल्यम्, स्वभावपरभावाभ्या भावाभावव्यवस्थितेर्भावस्य ॥ ४८ ॥**

§ 48 यत **सर्वान्तै.** सर्वधर्मै । **परिवर्जितं** विरहितम् । सर्वथा यत्तद् **अनभिलाप्यम्** अवाच्यम् **अवस्तु स्यात्** न किंचिदपि भवेत् परपरिकल्पितम् । कथ तर्ह्यवस्तुत्वमत आह—**वस्त्वेवा वस्तुतां याति** अर्थक्रियाया सर्व एव पदार्थो समर्थो भवति । कुत । **प्रक्रियायाः** स्वरूपादिचतुष्टयलक्षणाया **विपर्ययात्** पररूपादिचतुष्टयात् । तस्माद्यदवस्तु तदनभिलाप्य यथा न किंचित् । यत्पुनरभिलाप्य तद्वस्तु, यथा खपुष्पम् । [2]तस्मादेतदेवैकस्योपलब्धिर्यदन्यस्यानुपलब्धिरिति ॥ ४८ ॥

§ 48. **जो सर्वधर्मोसे रहित है वह अवस्तु है**—किसी भी प्रमाणका विषय न होनेसे—**और जो अवस्तु है वह** ( ही सर्वथा ) **अनभिलाप्य** ( अवाच्य ) **है न कि वस्तु;** क्योकि जो वस्तु है वह प्रमाणके द्वारा परिनिष्ठित ( प्रतिष्ठित ) होती है और इसलिये सर्वथा अनभिलाप्य नही होती। (यदि यह कहा जाय कि सकल-धर्मोसे रहित निरूपाख्य वस्तु स्याद्वादियोके द्वारा स्वीकृत नही है तव उनका यह वचन कि 'अवस्तु अनभिलाप्य है' युक्त नही जान पडता, तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि सर्वधर्मोसे रहित अवस्तुका अनभिलाप्य-रूपमे कथन पर-परिकल्पनामात्रसे सम्बन्ध रखता है, न कि प्रमाणवलसे ) प्रमाणवलसे तो **वस्तु ही अवस्तुताको प्राप्त होती है, प्रक्रियाके विपरीत हो जाने अथवा बदल जानेसे,** अर्थात् जव किसी वस्तुकी स्वद्रव्यादिचतुष्टयलक्षण-प्रक्रिया, जो कि कथचिद्रूपको लिये हुए होती है; वदल जाती है—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षाको धारण करती है—तब वह वस्तु ही अवस्तु वन जाती है।

---

48) 1 B पुष्पम् । p, As खपुष्पाभाव. । 2 A यस्मात् ।

जैसे स्वरूपसिद्ध घटके पटादि-पररूपोकी अपेक्षा—पटादिके किसी भी रूपको घट माननेकी दृष्टिसे—अघटपना है। ( यदि यह कहा जाय कि वस्तुको ही अवस्तु बतलाना परस्पर-विरुद्ध है, क्योकि वस्तु और अवस्तुकी स्थिति एक-दूसरेके परिहाररूप है—वस्तु अवस्तु नही होती और न अवस्तु कभी वस्तु बनती है—तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि अभाव-वाचक शब्दोके वचन-द्वारा भी भावका अभिधान ( कथन ) होता है, जैसे 'अब्राह्मणको लाओ' इस वाक्यमे 'अब्राह्मण' शब्द ब्राह्मण-वस्तुके अभाव ( निषेध ) का वाचक होते हुए भी ब्राह्मणसे भिन्न अन्य क्षत्रियादिवस्तुके अभावका वाचक नही किन्तु उनके भावका ही वाचक है और इसलिये उक्त वाक्यके द्वारा यह समझा जाता है कि 'ब्राह्मणको नही किन्तु क्षत्रियादिकको बुलाया जा रहा है,' तदनुसार ही क्षत्रियादिकको लाकर उपस्थित किया जाता है। इस तरह ब्राह्मण कोई वस्तु है उसीको 'अब्राह्मण' शब्दके द्वारा कथचित् अवस्तु कहा गया है, सर्वथा अभावरूप अवस्तु नही, और इसलिये अवस्तुका आशय यहाँ अविवक्षित वस्तु समझना चाहिये। अविवक्षित ( गौण ) वस्तु विवक्षित ( मुख्य ) वस्तुके अस्तित्व ( भाव )के विना नही बनती ( मुख्यादृते गौण-विधिर्न दृष्ट: ) और न स्वय अस्तित्व-विहीन होती है। इसीसे अर्हन्मतानुयायी स्याद्वादियोके यहाँ वस्तुको ही अवस्तु कहनेमे कोई विरोध नही आता—मुख्य-गौणकी व्यवस्था-विधिसे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप प्रक्रियाके स्वसे पर और परसे स्व-रूपमे बदल जानेसे यह सब सुघटित होता है। इसीसे कोई वस्तु सर्वथा भावरूप नही है, स्वरूपकी तरह पररूपसे भी भावका प्रसग आनेसे, और न सर्वथा अभावरूप ही है, पररूपकी तरह स्वरूपसे भी अभावका प्रसग उपस्थित होनेसे। वस्तुको सर्वथा भाव या सर्वथा अभावरूप माननेसे वस्तुकी कोई व्यवस्था ही नही बनती। प्रत्येक वस्तु भावकी तरह अभाव-धर्मको भी साथमे लिये हुए है और वह भी वस्तुकी व्यवस्थाका अग है। उसे छोड देनेपर वस्तु-व्यवस्था बन ही नही सकती। इसीलिये स्याद्वादियोंके यहाँ अपेक्षावश कथचित् भावाऽभावरूपसे वस्तुका प्रतिपादन किया जाता है। ) ॥ ४८ ॥

49) **सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः ।**
**संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थविपर्ययात् ॥ ४९ ॥**

§ 49 **पुनरपि अवक्तव्यवादिनं पर्यनुयुञ्ज्महे सर्वे धर्मा यदि वागगोचरतामतीताः, कथमिमेऽभिलप्यन्ते, इति। संवृत्या चेत्, न, विकल्पानुपपत्ते.। स्वरूपेण चेत् कथमनभिलाप्या., पररूपेण चेत्तत्तेषा[1] रूपं[2] स्यात्, केवलं वाचः स्खलनं गम्येत। उभयपक्षेऽप्युभयदोषप्रसङ्गः। तत्त्वेन चेत् कथमवाच्याः। मृषात्वेन चेत्, कथमुक्ताः, तदलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघैः ॥४९॥**

§ 49 पुनरप्यवक्तव्यवादिनमुपालभते—यदि **सर्वान्ताः** सर्वधर्मा, **अवक्तव्या** अवाच्यास्तेषा मताना यदेतद्वचनमुक्ति "सर्वथा प्रतिक्षण निरन्वयविनाशिनो निरशा सजातीयविजातीयव्यावृत्ता इत्यादिक" **पुनः** पुनरावर्तमान **किमर्थं** स्यात्। अथ मत परमार्थं न तद्भवेत्किंतु **संवृतिः**। यद्येव **मृषैवैषा** व्यलीकैव सा। कुत । **परमार्थस्य** तत्त्वरूपस्य **विपर्ययो**ऽभाव यत । सवृतिर्नामोपचार., न च सा परमार्थमन्तरेण भवति ॥ ४९ ॥

---

49) 1. P चेत्तेषा। 2. As, P स्वरूपं।

§ 49 'यदि (क्षणिक एकान्तवादी बौद्धोके द्वारा) यह कहा जाय कि 'सर्व धर्म अवक्तव्य हैं'—सर्वथा वचनके अगोचर है—तो फिर उनका धर्म-देशना-रूप तथा स्वपक्षके साधन और पर-पक्षके दूषणरूप वचन कैसा ?—वह किसी तरह भी नही बन सकेगा और एकमात्र मौन-का ही शरण लेना होगा, क्योकि 'सर्व धर्म अवक्तव्य है' इस कथनमे स्ववचन-विरोधका दोष उसी तरह सुघटित होता है जिस तरह कि कोई अपने मुखसे दूसरोको यह प्रतिपादन करे कि 'मैं सदाके लिये मौनव्रती हूँ,' क्योकि उस समय वह बोल रहा है इसलिये उसका सदाके लिये मौनव्रती होना स्वय उसके उस वचनसे ही बाधित हो जाता है। सर्व धर्मोके सर्वथा अवक्तव्य होनेपर उनकी कोई चर्चा-वार्ता नही बन सकती, उन्हे अवक्तव्य कहना भी नही बनता, अवक्तव्य कहना भी उन्हे वक्तव्य ठहराता है। यदि यह कहा जाय कि उक्त वचन संवृतिरूप है—व्यवहारके प्रवर्तनार्थ उपचाररूपको लिये हुए है—तो इस सवृतिरूप वचनसे सत्यका प्रतिपादन कैसे हो सकता है ? नही हो सकता, क्योकि सवृति परमार्थके विपरीत—यथार्थताके विरुद्ध—होनेसे स्वय बौद्धोके यहाँ मिथ्या मानी गई है। सर्वधर्म जब सर्वथा अवक्तव्य है तब वे 'अवक्तव्य हैं' इस वचनके द्वारा भी वक्तव्य नही बन सकते और न दूसरोको उनका तथा उनकी अवक्तव्यताका प्रत्यय ( बोध ) कराया जा सकता है ॥ ४९ ॥

50) **अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः ।**
**आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ॥ ५० ॥**

§ 50 अर्थस्यानभिलाप्यत्वमभावाद्वक्तुरशक्तेरनवबोधाद्वा, प्रकारान्तरासभवात्[1] बुद्धिकरणपाटवापेक्षत्वात्। न च सर्वत्र तदभावो युक्त । ततो नैरात्म्यान्न विशिष्येत मध्यमपक्षावलम्बनात्। अशक्यसमयत्वादनभिलाप्यमर्थरूपमिति चेत्, न, कथंचिच्छक्यसङ्केतत्वात्, दृश्यविकल्प्यस्वभावत्वात् परमार्थस्य प्रतिभासभेदेऽपि, इत्युक्तम्। विषयविषयिणोर्भिन्नकालत्व प्रत्यक्षेऽपि समानम्। अविपरीत[2]प्रतिपत्तिरन्यत्रापि। दर्शनविकल्पयो परमार्थैकतातत्त्वाभावे न किंचित्सिद्धम्, दृष्टस्यानिर्णयाददृष्टकल्पत्वात्। अदृष्टनिर्णयस्य प्रधानादिविकल्पाविशेषात् ॥ ५० ॥

§ 50 इद तावदवक्तव्यवादी प्रष्टव्य । किमशक्यत्वादसामर्थ्यादवाच्यम्, आहोस्विदभावात् किं तावदज्ञानात्। विकल्पत्रयम्। न तावदशक्यत्वाद्दशनागसहस्रबलवत्त्वाद् बुद्धस्य। नाप्यज्ञानात्सर्वज्ञत्वेन परिकल्पित यत । यस्मात् आद्युक्तिरादिविकल्प अन्तोक्तिस्तृतीयविकल्प । एतद् द्वय न भवेत्। तस्मात्किं व्याजेन छद्मना। उच्यता भण्यतामभावादेवा वाच्य स्फुटम् इति। न चैतदभावमात्र प्रमाणसिद्ध प्रमाणस्याप्यभावात् ॥ ५० ॥

§ 50 यहाँ क्षणिक एकान्तवादी बौद्धोसे पूछा जाता है कि तुम्हारा यह सर्वथा अवक्तव्य कथन किस हेतुपर अवलम्बित है। क्या अशक्तिके कारण ?—कथन करनेकी सामर्थ्य न होनेसे अवक्तव्य है ?—या अभावके कारण ?—वस्तु-धर्मका अस्तित्व न होनेसे अवक्तव्य है ? अथवा अज्ञानके कारण ?—वस्तुधर्मोकी अनभिज्ञता—अजानकारीसे अवक्तव्य है ? ( इन तीन कारणोसे भिन्न अन्य कोई कारण नही हो सकता, क्योकि मौनव्रत, प्रयोजनाभाव, भय और

---

50) 1 P प्रकारान्तराभावाद्वा। 2 P विप्रति- ।

लज्जादिक जैसे कारणोंका, जो कि इन्द्रियनालवादिकरणव्यापारकी अशक्तिमें निमित्तकारण होते हैं, अशक्तिमें ही अन्तर्भाव है।) इन तीनोंमें आदि और अन्तके दो कारणोंका (अशक्ति तथा अज्ञान) का कथन तो बनता नहीं, क्योंकि बौद्धोंने महात्मा बुद्धको प्रज्ञापारमिताके रूपमें सर्वज्ञ माना है और उसमें क्षमा, मैत्री, ध्यान, दान, वीर्य, शील, प्रज्ञा, करुणा, उपाय और प्रमोद नामके दस बल अंगीकार किये हैं। ऐसी स्थितिमें उक्त दो कारणोंका कथन कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता। तब तीसरा कारण ही शेष रह जाता है। अतः अवक्तव्यका बहाना बनानेसे क्या? स्पष्ट कहिये कि वस्तुतत्त्वका सर्वथा अभाव है किसी भी वस्तुका कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसा स्पष्ट कहनेसे मायाचारका दोष नहीं रहेगा, जो कि बुद्धके आप्तत्वमें बाधक पड़ता है, और तब इस अवक्तव्यवाद और सर्वथा अभावरूप शून्यवादमें कोई अन्तर नहीं रहेगा ॥ ५० ॥

51) **हिनस्त्यनभिसंधातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत् ।**
**बध्यते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥ ५१ ॥**

**§ 51 सन्तानादेरयोगादितिकर्तव्यतासु चिकीर्षोर्विनाशात्, कर्तुरचिकीर्षत्वात्, तदुभयविनिर्मुक्तस्य बन्धात्, तदविनिर्मुक्तेश्च यमनियमादेर[1]विधेयत्वं कुर्वतो वा यत्किंचनकारित्वम् ॥ ५१ ॥**

§ 51 क्षणिकैकान्तवादिकल्पिता हिंसा पचभिः कारणैः प्राणप्राणिजनव्याघातचित्ततद्गतचेष्टाप्राणवियोगैर्न बन्धमोक्षादिश्च न घटत इत्याह—क्षणिकैकान्तवादेऽभिसंधिमत् मारणाभिप्रायवत्। चित्तं तत्परिकल्पितरूपज्ञानं जीवशब्दं तत्प्राणिनं न हिनस्ति न मारयति। यच्च हिनस्ति तदनभिसंधातृ अनभिप्रायवत्। बध्यते च कर्मणा तद्द्वयापेतम् ॥ ५१ ॥

§ 51. (बौद्धोंके क्षण-क्षणमें निरन्वय-विनाशरूप सिद्धान्तके अनुसार) जो चित्त हिंसाके **अभिप्रायसे रहित है वह तो हिंसा करता है, जो हिंसा करनेके अभिप्रायसे युक्त है वह हिंसा नहीं करता, जिसने हिंसाका कोई अभिप्राय अथवा संकल्प नहीं किया और न हिंसा ही की वह चित्त बन्धनको प्राप्त होता है और जो चित्त बन्धनको प्राप्त होता है उसकी मुक्ति नहीं** होता—मुक्ति अन्य अबद्ध-चित्तकी होती है, क्योंकि हिंसाका अभिप्राय करनेवाला चित्त उस अभिप्राय करनेके क्षणमें ही नष्ट हो जाता है और उत्तरक्षणमें दूसरा चित्त, जिसने हिंसाका कोई इरादा, विचार अथवा संकल्प नहीं किया, उस हिंसा-कार्यको करता है, उस हिंसक चित्तके तत्क्षण नष्ट हो जानेपर तीसरे क्षणमें तीसरा ही चित्त, जिसने न तो हिंसाका कोई संकल्प किया और न हिंसाकार्य ही किया, उस द्वितीय चित्तके हिंसाकर्मसे बन्धनको प्राप्त होता है और बन्धनको प्राप्त हुए उस तृतीय चित्तके भी तत्क्षण नष्ट हो जानेपर उस पापसे बन्धन-से मुक्ति प्राप्त नहीं होता—[illegible] होती है। ऐसा [illegible] चित्तकी भी मुक्ति बनती है? नहीं बनती। [illegible] होनेसे [illegible] नहीं तब बन्धनसे छुटकारा [illegible] है? [illegible] और [illegible] प्रसंग उपस्थित होता है—[illegible] किये कर्मका फल भोगना नहीं

होता और जिसने कर्म नही किया उसे उस कर्मका फल भोगना होता है, जो कि एक उपहासका विषय है। इसके सिवाय जब बद्ध-चित्तकी मुक्ति नही होती तब मुक्तिके लिये यम-नियमादिका अनुष्ठान व्यर्थ ठहरता है ॥ ५१ ॥

52) **अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः ।**
**चित्तसन्ततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः ॥ ५२ ॥**

**§ 52 अहेतुं विनाशमभ्युपगम्य कस्यचिद् यदि हिंसकत्वं ब्रूयात् कथमविक्लवः, तथा निर्वाणं सन्तानसमूलतलप्रहारणलक्षणं[1] सम्यक्त्वसंज्ञासंज्ञिवाक्कायकर्मान्तव्यायामाजीवस्मृतिसमाधिलक्षणाष्टाङ्गहेतुकमन्योऽन्य[2] विप्रतिषेधात् ॥ ५२ ॥**

§ 52. तद्वचनविरोध दर्शयति—यो हिंसाया हेतुः निमित्त **न** असौ हिंसक. प्राणवियोजक । कुत , **अहेतुकत्वान्नाशस्य।** यदेतत्प्राणिनो मरणनिमित्त यस्मात् **यच्च मोक्ष**स्तैरभ्युपगत **चित्ता**ना रूपविज्ञानक्षणाना **सन्तति**· नैरन्तर्यं तस्य **नाश**. क्षय प्रदीपनिर्वाणरूपो वा। अष्ट अङ्गान्यवयवा यस्य स हेतुर्यस्यासौ **अष्टाङ्गहेतुकः**। कानि तान्यष्टाङ्गानि सम्यक्त्वसज्ञासज्ञिवाक्कायकर्मान्तर्व्यायामाजीवस्मृतिसमाधिलक्षणानि। सोऽपि न स्यात्। कुत , स्वत एव हेतुमन्तरेणाभ्युपगतत्वात् ॥ ५२ ॥

§ 52. ( क्षणिक एकान्तवादी बौद्धमतके अनुसार नाश स्वय होता है, उसका कोई कारण नही होता ), **जब नाशका कोई कारण नहीं होता तब हिंसक हिंसाका हेतु नहीं ठहरता—** किसीको हिंसक कहना नही बनता। **इसी तरह चित्त-सन्ततिके नाशरूप जो मोक्ष माना गया है वह भी अष्टाङ्गहेतुक नहीं बनता।** बौद्धोंके यहाँ मोक्ष ( निर्वाण ) को जो सम्यक्त्व, सज्ञा सज्ञी, वाक्काय, कर्म, अन्तर्व्यायाम, आजीव, स्मृति, और समाधि इन आठ हेतुओंसे हुआ बतलाया जाता है वह नाशके निर्हेतुक होनेसे उसी तरह बाधित ठहरता है जिस तरह सुगत के सर्वज्ञता और असर्वज्ञता दोनोका कथन विरुद्ध ठहरता है ॥ ५२ ॥

53) **विरूपकार्यारम्भाय यदि हेतुसमागमः ।**
**आश्रयिभ्यामनन्योऽसावविशेषादयुक्तवत् ॥ ५३ ॥**

**§ 53. विसभागसन्तानोत्पादनाय हेतुसंनिधिर्न प्रध्वंसाय पूर्वस्य स्वरसतो निवृत्तेः[1], इति चेत्, स पुनरुत्तरोत्पादः स्वरसतः किं न स्यात्, विनाशहेतुवत्[2]। स्वरसोत्पन्नमपि तदनन्तरभावित्वात् तेन व्यपदिश्यते, इति चेत्, इतरत्र समानम्। परमार्थतस्तदहेतुकत्वे प्रति[3]पत्त्रभिप्रायाविशेषेऽपि स्वतःप्रहाणवादी न शक्नोत्यात्मानं न्यायमार्गमनुकारयितुं सर्वदा विरूपकार्यत्वात्। सभागविसभागावक्लृप्तिं प्रतिपत्त्रभिप्रायवशात् समनुगच्छन् सहेतुकं विनाशं ततः किं नानुजानीयात्। न च समनन्तरक्षणयोर्नाशोत्पादौ पृथग्भूतौ मिथः स्वाश्रयतो वा यौ समं सहेतुकेतरौ स्ताम्। प्रतिपत्त्यभिधानभेदेऽपि ग्राह्यग्राहकाकारवत् स्वभावप्रतिबन्धात्। संज्ञाछन्दमतिस्मृत्यादिवत् सत्यपि भेदे समकालभाविनोः कथं सहकारी पुनरन्यतरस्यैव हेतुरहेतुर्वा कार्यरूपादे-**

52) 1. P समूलप्रहरण–। 2 क तदन्यो–।
53) 1. P स्वरसनिवृ–। 2 B C 'विनाशहेतुवत्' नास्ति। C –पत्त्रभिप्रायविशेषेऽपि। 3. P प्रत्यभि–।

**रिव कारणम्। तस्मात्कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकाहेतुकौ सहभावाद्रसादिवत्। न तस्य किंचिद्भवति। न भवत्येव केवलमिति चेत्, भवत्येव केवलमिति समानम्। तस्मादयं विनाशहेतुर्भावमभावीकरोति न पुनरकिंचित्करः। कार्योत्पत्तिहेतुर्वा यद्यभावं न भावीकुर्यात्, भावं करोतीति कृतस्य करणायोगादकिंचित्करः। तदतत्करणादिविकल्पसंहतिरुभयत्र सदृशी ॥ ५३ ॥**

§ 53 अथ मत स्वभावविनाशार्थं न निमित्तमस्माभिरिष्यते, किंतु विसभागार्थमित्यत आह—विरूपकार्यं विभागसन्तान कपालादिस्तस्यारम्भस्तस्मै **विरूपकार्यारम्भाय। यदि हेतोः समागम** कारणापेक्षणम्। तर्हि **असौ** विरूपकार्यारम्भ **आश्रयिभ्याम्** उत्पादविनाशाभ्याम् **अनन्योऽ**भिन्न। कुत **अविशेषाद**भेदात्। अविशेषेणाभेदेनोपलब्धिराश्रयिभ्यो यत। **अयुक्तवत्** यथा ग्राह्यग्राहकाकारा सहायुतसिद्धि ॥ ५३ ॥

§ 53. ( बौद्धमतमे अन्वयके अभाव अथवा निरन्वय-विनाशके स्वीकार करनेसे सरूप-सदृशकार्य कोई होता नही, तब ) **यदि बौद्धोंके द्वारा विसदृशकार्यके आरम्भके लिये हेतुका समागम इष्ट किया जाता है**—हिंसाके हेतुरूप हिंसक ( वधक ) का और मोक्षके हेतुरूप सम्यक्त्वादि अष्ट-अगका व्यापार माना जाता है—**तो वह हेतु-समागम नाश तथा उत्पाद दोनो का कारण होनेसे उनका आश्रयभूत है और इसलिये अपने आश्रयी नाश और उत्पादरूप दोनो कार्योंके साथ अनन्यरूप है**—मुद्गर-प्रहार घटनाश-कार्यका हेतु है वही कपालो (ठीकरो) के उत्पाद-कार्यका भी हेतु है, दोनो कार्योका हेतु भिन्न-भिन्न न होनेसे दोनोके लिये अयुक्तकी भाँति—तादात्म्यको प्राप्त शीशमपना और वृक्षपनाके कारण-कलापकी तरह—एक ही हेतुका व्यापार ठीक घटित होता है और इससे बौद्धोका नाश-कार्य भी सहेतुक ठहरता है, जिसे वे निर्हेतुक बतलाते है, यह एक हेतु-दोष इस हेतु-समागमकी मान्यतामे उपस्थित होता है। यदि विनाशके लिये हेतुका समागम नही, तो उत्पादकके लिये भी हेतुका समागम मत मानो, क्योकि कार्यकी दृष्टिसे—नाश और उत्पाद दोनोमे कोई भेद न होनेसे—एकको निर्हेतुक और दूसरेको सहेतुक बतलाना युक्तिसगत नही कहा जा सकता। बौद्धोसे प्रश्न है कि यदि विनाश निर्हेतुक है, उसका कोई कारण नही, है, वह स्वरसत होता है, तो कारणो ( हिंसाजनक हिंसक और मोक्षहेतु सम्यक्त्वादि अष्टाङ्ग ) का व्यापार किसके लिए होता है ? इस प्रश्नका वे यह समाधान करते हैं कि विसदृश-कार्यके उत्पादके लिये कारणोका व्यापार होता है। परन्तु उनका यह समाधान ठीक नही है, क्योकि कारणोका व्यापार नाश तथा उत्पाद दोनोका जनक होनेसे आश्रय है और आश्रय अपने आश्रयीसे—उत्पाद-नाशसे—अनन्य-अभिन्न होता है, भिन्न नही। कारण कि उन दोनोमे परस्पर कोई अन्तर नही है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अपृथक्-सिद्ध पदार्थों के कारण-व्यापारमे भेद नही होता। शिशपा और वृक्ष तथा चित्रज्ञान और नीलादि-निर्भास इन अपृथक्-सिद्ध पदार्थो से उनका कारण-व्यापार भिन्न नही है। एक कारण-समूहसे ही उनका आत्मलाभ होता है। वास्तवमे जो जो पूर्वाकारका विनाश है वही उत्तराकारका उत्पाद है। अत दोनोका कारण एक ही सामग्री है, भिन्न नही। अन्यथा, वैशेषिक मतका प्रसग आवेगा। कैसा आश्चर्य है कि विस-दृशकार्यके उत्पादक कारणोसे विनाशके कारण भिन्न न होनेसे उसे तो निर्हेतुक स्वीकार किया जाता है, और विनाशके कारणोंसे उत्पादके कारण भिन्न न होनेसे उसे निर्हेतुक नही

माना जाता, अत नाश और उत्पादमे कोई अन्तर न होनेसे दोनोको सहेतुक या अहेतुक मानना चाहिए। एकको अहेतुक और दूसरेको सहेतुक मानना युक्तियुक्त नही है ॥ ५३ ॥

54) **स्कन्धासन्ततयश्चैव संवृतित्वादसंस्कृताः ।**
**स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः खरविषाणवत् ॥ ५४ ॥**

§ 54. **रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारस्कन्धसन्ततयोऽसंस्कृता', सवृतित्वात्, यत्पुन सस्कृत तत्परमार्थसत्, यथा स्वलक्षणम्, न तथा स्कन्धसन्ततय । तत. स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिता. । ततो विसभागसन्तानोत्पत्तये विनाशहेतुरिति पोप्लूयते ॥ ५४ ॥**

§ 54 चित्तविशेषरूपरसादिवद्धान् प्रागुत्पादादीनभ्युपगम्य क्षणिकवादे दूषणमभाणि। साम्प्रत तु तेषामुत्पादादीनामसभवमेव दर्शयन्नाह—**स्कंधा** रूपवेदनाविज्ञानसज्ञासस्कारास्तेषा **संततयश्च** कार्यकारणयोरविच्छेदा । **एवकारो**ऽवधारणार्थं । **असंस्कृता** एवापरमार्था एव। कुत । **संवृतित्वान्**मिथ्यारूपत्वात्। अतस्तेपा स्थिति सदवस्थानमुत्पत्तिर्घटावस्था, विनाश कपालादिरूपस्ते **न स्युर्न** भवेयु, **खरविषाणवत्**। यथा खरविषाणस्य स्थित्युत्पत्तिव्यया न सन्त्येवमेतेषाम्, अभाव प्रत्यविशेषात्। यत्पुन सस्कृत तत्परमार्थसत्, यथा स्वलक्षणम्। न तथा स्कधा सन्ततयश्च। तत स्थित्युत्पत्तिविपत्तिविरहास्ततोऽपि विसभागसन्तानोत्पत्तये विनाशहेतुरिति पोप्लूयते ॥५४॥

§ 54 ( जब क्षणिक एकान्तवादी बौद्धोंके द्वारा विरूप-कार्यारम्भके लिये हेतुका समागम माना जाता है तब यह प्रश्न पैदा होता है कि उस हेतुसे परमाणु-क्षण उत्पन्न होते हैं या स्कन्ध-सन्ततियाँ ? प्रथम पक्ष परमाणु-क्षणोका उत्पन्न होना माननेसे स्थाप्य-स्थापक और विनाश्य-विनाशकभावकी तरह-हेतु-फलभावका भी विरोध उपस्थित होता है। तब सहेतुका उत्पत्ति कैसे बन सकती है ? कार्य-कारणके अभाव होनेपर ये स्थिति, उत्पत्ति और व्यय धर्म विरोधको प्राप्त होते हैं, क्योकि परमाणु निरश होते हैं। "न हेतु-फलभावादिरन्यभावादनन्वयात्' इस वाक्य-द्वारा ४३ वी कारिकाके अन्तर्गत क्षणिक-एकान्तमे पहले ही कार्य-कारणभावका निषेध किया जा चुका है। स्थिति और विनाशकी तरह अहेतुका उत्पत्ति भी नही बनती, क्योकि स्थाप्य-स्थापकके अभावमे जिस प्रकार स्थितिका और विनाश्य विनाशकके अभावमे जिस प्रकार विनाशका भी अभाव होता है उसी प्रकार हेतु-फलभावके अभावमे उत्पत्तिका भी अभाव होता है, तब अहेतुका उत्पत्तिकी कल्पना कैसी ? यदि दूसरा पक्ष—स्कन्ध-सन्ततियो का उत्पन्न होना—माना जाय तो ) **स्कन्ध-सन्ततियाँ बौद्धोके यहाँ परमार्थ सत् न होनेसे** असस्कृत है—अकार्यरूप है—**तब उनके लिये हेतुका समागम कैसा ?** साध्यके अभावमे साधनका भी अभाव होता है। **अत ( रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार रूपमे माने गये ) बौद्धोके जो पाँच स्कन्ध हैं वे कोई पारमार्थिक सत् न होकर** सवृतिरूप **कल्पना मात्र हैं, उनके स्थिति, उत्पत्ति और विनाशका विधान गधेके सींगकी तरह नहीं बनता।**—गधेके सीगका सद्भाव न होनेसे जैसे उसमे स्थिति, उत्पत्ति और विनाश ये तीनो घटित नही होते वैसे ही परस्पर असबद्ध रूप-रस-गन्ध-स्पर्शके परमाणुरूप **'रूपस्कन्ध'**, सुख-दु खादिरूप **'वेदना-स्कन्ध'** सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञानके भेदरूप **विज्ञानस्कन्ध**, वृक्षादिवस्तुओंके नाम ( शब्द रूप ) **सज्ञास्कन्ध** और ज्ञान पुण्य-पापकी वासनारूप **संस्कारस्कन्ध**

जब वास्तविक न होकर काल्पनिक हैं तो उनके स्थिति, उत्पत्ति और विनाश ये तीनो घटित नही होते और इनके घटित न होनेमे वे कोई कार्य नही रहते तब उनके लिये हेतु-समागमकी कल्पना ही व्यर्थ ठहरती है ॥ ५४ ॥

**55) विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।**
**अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ५५ ॥**

**§ 55 नित्यत्वेतरैकान्तद्वयमप्ययुक्तमङ्गीकर्तुम्, विरोधात्, युगपज्जीवितमरणवन्नित्यत्वानित्यत्वाभ्याम् । अत एवानभिलाप्यमित्ययुक्तम्, तदेकान्तेऽनभिलाप्योक्तेरनुपपत्ते· ॥ ५५ ॥**

55. यस्य मिथ्यादृश उभयैकान्तपक्षस्तन्निरासार्थमाह—उभयैकात्म्य नित्यानित्यैकान्तद्वयमयुक्तमङ्गीकर्त्तुम्, कुत , मिथ्यादृशा तद्विरोधात् । अनभिलाप्यमपि न युक्तमनेकान्तवैरिणाम् ॥ ५५ ॥

§ 55 **यदि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो एकान्तपक्षोको एक रूपमे माना जाय तो यह बात स्याद्वादन्यायके विद्वेषियोके—सर्वथा एकान्तवादियोके—यहाँ बनती नहीं, क्योकि इस मान्यतामे विरोध दोष आता है**—जैसा कि एक साथ जीने-मरनेमे विरोध है वैसा ही विरोध यहाँ भी घटित होता है । ( यदि दोनो एकान्तोका तादात्म्य माना जाय तो नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो या तो नित्यत्वरूपमे परिणत हो जायँगे या अनित्यत्वरूपमे, क्योकि तादात्म्यावस्थामे विरोधी स्थिति न रहकर एक ही स्थिति हो जाती है । जब नित्यत्व-अनित्यत्वरूप दोनो एकान्तोमेसे किसी एक ही एकान्तकी स्थिति रही तब युगपत् उभय एकान्तोकी मान्यता विरुद्ध ठहरती है । **यदि** ( नित्यत्व व अनित्यत्व दोनो एकान्तोकी मान्यतामे विरोध-उपस्थितिके भयसे ) **अवाच्यता** (अनभिलाप्यता) **का एकान्त माना जाय तो वह भी नहीं बनता; क्योकि सर्वथा अवाच्यका सिद्धान्त माननेपर 'तत्त्व सर्वथा अनभिलाप्य है'** ऐसा **अभिलाप** ( वचन-व्यवहार ) **करनेवाले बौद्धोके स्ववचन विरोध उपस्थित होता है**—उसी प्रकार जिस प्रकार कि उस पुरुषके उपस्थित होता है जो यह कहे कि 'मै सदा मौनव्रती हूँ'; क्योकि उसका वैसा कहना उसके सदा मौन-व्रतका विरोधी है ॥ ५५ ॥

**56) नित्यं तत् प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा ।**
**क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषत ॥ ५६ ॥**

**§ 56 तदेकान्तद्वयेऽपि परामर्शप्रत्ययानुपपत्तेरनेकान्त· । स्थित्यभावे हि प्रमातुरन्येन दृष्टं नापर प्रत्यभिज्ञातुमर्हति । संबन्धविशेषेऽपि पित्रेव दृष्टं[1] पुत्र सन्नप्यतिशय पृथक्त्वं न निराकरोति । तदेवान्यत्रापि प्रत्यवमर्शाभावनिबन्धनमेकसन्तत्या प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानबलाच्चैकसन्ततिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयणमेतत् । न च पक्षान्तरे समानम्, स्थितेरनुभवनात्[2] । तद्विभ्रमकल्पनायामुत्पादविनाशयोरनाश्वास । तथानुभवनिर्णयानुपलब्धेर्यया स्वलक्षण परिगोपते । तथैतत्स्यात्, स्वभावाविनिर्भागेऽपि न संकलनम्, दर्शनक्षणान्तरवत् । सत्यमेकान्ते एषाय दोष. । तत क्षणिकं कालभेदात्, दर्शनप्रत्यभिज्ञानसमययोरभेदे तदुभयाभावप्रसङ्गात् । किञ्च पक्षद्वयेऽपि ज्ञानासंचारानुषङ्गादनेकान्तसिद्धि· । अपोद्धारकल्पनया कथंचिज्जात्यन्तरेऽपि**

56) 1. P पित्रेव पुत्र । 2. P –रनुभवा– ।

**वस्तुनि प्रत्यभिज्ञानादिनिबन्धने स्थित्यादयो व्यवस्थाप्येरन्। न च स्वभावभेदोपलम्भेऽपि नानात्वविरोधसङ्करानवस्थानुषङ्गश्चेतसि ग्राह्यग्राहकाकारवत् ॥ ५६ ॥**

§ 56 एकान्तवादिपक्ष निरस्यानेकान्त समर्थयन्नाह—**तच्छब्देन** तत्त्वमुच्यते प्रस्तुतत्वात्। तत्त्व कथचिन्नित्य **प्रत्यभिज्ञानात्**। वस्तुन पूर्वापरकालव्याप्तिज्ञान प्रत्यभिज्ञानम्। यथा स एवाय देवदत्त इत्यादि। तस्मात्प्रत्यभिज्ञानात्। तस्य प्रत्याभिज्ञानस्य **अविच्छिदा** अविच्छेदोऽन्वय। सोऽ**कस्मात्** अहेतोर्न भवति यस्मात्। न च नित्यत्वमेव। **कालभेदात्परिणामवशात् क्षणिकं** नश्वरम्। तवार्हद्भट्टारकस्य नान्यस्य क्षणिकाक्षणिकवादिन। **बुद्धेरसंचारो**ऽसचरणमन्यत्रागमन स एव **दोषस्तस्मात्**। न हि एक पदार्थं विज्ञायान्यस्य पदार्थस्य परिच्छित्ति सभवति। स्यादुभयैकान्ते पुन सुघटा ॥ ५६ ॥

§ 56 ( हे स्याद्वादन्याय नायक अर्हन् भगवान् ) **आपके मतमे** ( सम्पूर्ण जीवादि ) **वस्तुतत्त्व कथंचित् नित्य है; क्योकि उसका प्रत्यभिज्ञान होता है**—यह वही है जो पहले देखा था, ऐसा पूर्वोत्तर दशामे जो एकत्वका बोध होता है वह उसके नित्यत्वको सिद्ध करता है। **और यह प्रत्यभिज्ञान अकस्मात्**—विना किसी कारणके निर्विषय तथा भ्रान्तरूप—**नहीं होता, क्योकि अविच्छेद रूपसे बिना किसी बाधाके अनुभवमे आता है।** ( यदि प्रत्यक्षको बाधक माना जाय तो वह ठीक नही है, क्योकि प्रत्यक्षका विषय वर्तमान पर्यायात्मक वस्तु होनेसे पूर्वाऽपर-पर्यायव्यापी एकत्वलक्षण प्रत्यभिज्ञानके विषयमे उसकी प्रवृत्ति नही बनती। जो अपना विषय नही, उसमे कोई बाधक या साधक नही होता, जैसे श्रोत्रइन्द्रियके ज्ञान-विषयमें चक्षुइन्द्रियका ज्ञान। ) **और आपके मतमे वस्तुतत्त्व कथचित् क्षणिक है—अनित्य है; क्योकि उसमे कालके भेदसे परिणाम-भेद पाया जाता है**—क्षण-क्षणमे वस्तुकी पर्यायें पलटती रहती हैं, जो कथचित् एक दूसरेसे भिन्न होती हैं। पर्यायोके इस पलटन (परिवर्तन) एव परिणमनसे वस्तुमे प्रतिक्षण उत्पाद-व्ययके होते रहनेपर भी वस्तुका अपने ध्रौव्य गुणके कारण कभी नाश नही होता। इसी पर्यायदृष्टिमे वस्तु कथचित् क्षणिक है—सर्वथा क्षणिक नही। **वस्तुको सर्वथा क्षणिक तथा सर्वथा नित्य माननेपर ज्ञानका संचार नही बन सकेगा, यह दोष आएगा।** ज्ञानका सचार अनेकान्तकी मान्यतामें ही प्रतीतिगोचर होता है ॥ ५६ ॥

57) **न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।**
**व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥**

§ 57 **चलाचलात्मकं वस्तु कृतकाकृतकात्मकत्वात्। न हि चेतनस्यान्यस्य वा सर्वथोत्पत्तिः, सदादिसामान्यस्वभावेन सत एवातिशयान्तरोपलम्भात् घटवत्। कथचिदुत्पादविगमात्मकत्वादिति[1] योज्यम् ॥ ५७ ॥**

§ 57 तदेव दर्शयति—कथमनेकान्त त्रयमेकस्मिन् सभवति। इति चेदत आह—**सामान्यात्मना** द्रव्यरूपेण। **नोदेति** नोत्पद्यते। **न व्येति** न विनश्यति। कुतो**ऽन्वयात्** सर्वपर्यायेष्वनुगतैकाकारेण वर्तनात्। **व्यक्त** स्फुटमेतत्। **विशेषात्**पर्यायरूपेणोत्पद्यते विनश्यति च। तवार्हत। सह युगपदेकत्रैकस्मिन् वस्तुनि। **उदयादि सत्**-उत्पादविनाशस्थितय सत्यो विरोधाभावात् ॥५७॥

---

57) 1. A, B, C –दित्यादि।

§ 57 ( हे भगवन् ! ) **आपके मतमे सामान्य स्वरूपसे**— सर्व अवस्थाओ अथवा पूर्वोत्तर-पर्यायोमे साधारण स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यकी दृष्टिसे—**न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न विनाशको प्राप्त होती हैं; क्योकि प्रकट अन्वयरूप है**— वस्तुका सामान्य स्वरूप जो द्रव्यस्वभाव है वह उसकी सब अवस्थाओमे सदा स्थिर रहता है। ( यदि यह कहा जाय कि काटे हुए नख-केश फिरसे उपजते है, उनमे अन्वयके दर्शन-द्वारा व्यभिचार-दोष आता है, क्योकि उनमे उत्पत्ति और विनाश दोनो दिखाई पडते है जब कि अन्वयके कारण वे दोनो न होने चाहिये थे, तो ऐसा कहना ठीक नही है, कारण कि अन्वयके साथ 'व्यक्त' विशेषण लगा हुआ है, जो इस वातका सूचक है कि एकत्वान्वय प्रमाणसे वाधित नही होना चाहिये। यहाँ ये नखादिक वे ही है ऐसा एकत्वान्वय प्रकट-प्रमाणसे वाधित है, क्योकि उत्पन्न नखादिक वे ही न होकर उनके सदृश है जो कट चुके है। ) **विशेषरूपसे**—पर्याय अथवा व्यतिरेककी दृष्टि-से—**वस्तु विनशती तथा उपजती है। एक वस्तुमे युगपत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना 'सत्' कहलाता है**— जैसाकि सूत्रकारके 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्' इस वचनसे भी जाना जाता है ॥ ५७ ॥

58) **कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् ।**
**न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षा खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥**

§ 58 **कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ कथंचिद्भिन्नौ भिन्नलक्षणसंबन्धित्वात्सुखदुःखवत् । स्यादभिन्नौ तदभेदस्थितजातिसख्याद्यात्मकत्वात्पुरुषवत् । उत्पादविगमध्रौव्यलक्षण स्याद्भिन्नमस्खलन्नानाप्रतीते रूपादिवत् । उत्पाद केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वाद्वियत्कुसुमवत् । तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ ॥ ५८ ॥**

§ 58 कथ य एवोत्पाद स एव विनाशो यावेव विनाशोत्पादौ तावेव स्थिति । इत्यत आह—योऽय **कार्यस्योत्पादः** स एव **हेतोरु**पादानकारणस्य **क्षयो** विनाशो **नियमात्** निश्चयात् **लक्षणात** पुन **पृथग्** भिन्नौ स्वरूपभेदात् । **जात्यादेरवस्थानात्** सत्त्वप्रमेयत्वादिना **न तौ** भिन्नौ । कुत , तेन रूपेणैकत्वात् । **अनपेक्षा** परस्परापेक्षामन्तरेण ते स्थित्युत्पत्तिविनाशा **खपुष्प**समाना । तस्मादेते कथचित् परस्परमभिन्ना कथचिद्भिन्नाश्च भवन्ति ॥ ५८ ॥

§ 58 'हेतुका—उपादानकारणका—**जो क्षय है**— पूर्वाकारसे विनाश है—**वह उत्तराकार-रूप कार्यका उत्पाद है; क्योंकि दोनोके एक हेतुका नियम है**— जो हेतु उत्पादरूप कार्यके उत्पादका है वही उपादानके विनाशका हेतु है। इससे बौद्धोका उत्पादको सहेतुक और विनाश-को निर्हेतुक वतलाना बाधित ठहरता है। ( इस पर यदि यह कहा जाय कि उत्पाद और विनाश दोनोका एक ही हेतु होनेपर दोनो अभिन्न ठहरते है, तो यह ठीक नही, क्योकि ) **उत्पाद और विनाश दोनों लक्षणभेदके कारण एक दूसरेसे कथंचित् भिन्न हैं**—कार्योत्पादका लक्षण स्वरूपलाभ है और हेतुक्षयका लक्षण स्वभावप्रच्युति है। इस तरह भिन्न लक्षणसे लक्षित होने-के कारण दोनो कथचित् भिन्न हैं—सर्वथा भिन्न नही। **जाति आदिके अवस्थानके कारण नाश और उत्पाद दोनो भिन्न ही नहीं, कथचित् अभिन्न भी हैं,** क्योकि मिट्टी आदि द्रव्यके विना घटका नाश और कपालका उत्पाद नही वनता—नाश और उत्पाद दोनो पर्यायकी अपेक्षासे हैं, जात्यादिके अवस्थानरूप सद्द्रव्यकी अपेक्षासे नही। सद्द्रव्य मिट्टी आदि है, वही घटाकार

रूपसे नष्ट हुई और कपालके रूपसे उत्पन्न हुई, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। **यदि उत्पाद, व्यय**
52 **और ध्रौव्य परस्पर अपेक्षा न रखें, तो तीनो ही आकाशके पुष्पके समान अवस्तु ठहरें**—स्थिति और विनाशके बिना केवल उत्पाद नही बनता, नाश और उत्पादके विना स्थिति नही बनती और स्थिति तथा उत्पादके बिना विनाश नही बनता। इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि जो सत् है वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त है, अन्यथा उसका सत्व ही नही बनता, वह आकाशकुसुमके सदृश अवस्तु ठहरता है ॥ ५८ ॥

59) **घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।**
**शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥**

§ 59. **प्रतीतिभेदमित्थ समर्थयते–घट भङ्क्त्वा मौलिनिर्वतने घटमौलिसुवर्णार्थी तन्नाशोत्पादस्थितिषु विषादहर्षौदासीन्यस्थितिमय जन. प्रतिपद्यत इति। निर्हेतुकत्वे तदनुपपत्तेः ॥५९॥**

§ 59. लौकिकदृष्टान्तेन स्पष्टयन्नाह—अय जनस्त्रितयार्थी। यो घटार्थी स तस्मिन् भग्ने शोक याति। यश्च मौल्यर्थी स तस्मिन्नुत्पन्ने हर्षं याति। यश्च सुवर्णार्थी स माध्यस्थ याति सुवर्णसद्भावात्। न चैतदहेतुक किन्तु सहेतुकमेव। तदेव सुवर्णद्रव्य घटस्वरूपेण विनश्यति, तदेव मौलिस्वरूपेणोत्पद्यते, सुवर्णस्वरूपेणानुगतैकाकारस्वरूपेण तिष्ठति। एव सर्वं वस्तु ॥ ५९ ॥

§ 59 (सुवर्णघटको तोडकर मुकुटके बनाये जानेपर) **नाश, उत्पाद और स्थितिकी जो अवस्थाएँ होती हैं, उनमे यह घटका अर्थीजन शोक (विषाद) को, मुकुटका अर्थी हर्षको और सुवर्णका अर्थी शोक तथा हर्षसे रहित मध्यस्थ-भावको प्राप्त होता है और यह सब सहेतुक होता है**—घटार्थीके शोकका कारण घटका नाश है, मुकुटार्थीके हर्षका कारण मुकुटका उत्पाद है और सुवर्णार्थीके मध्यस्थ-भावका कारण सुवर्णकी स्थिति है—जो सुवर्ण घटके रूपमे था वही मुकुटके रूपमे विद्यमान है, इससे उसके लिये शोक तथा हर्षका कोई कारण नही रहता। बिना हेतुके उन घट-मुकुट-सुवर्णार्थियोंके शोकादिकी उत्पत्ति नही बनती। (बौद्धोका जो यह कहना है कि विषादादिके कोई हेतु नही होते, किन्तु पूर्वविषादादिके वासनामात्रनिमित्तसे विषादादिक उत्पन्न होते हैं, वह ठीक नही, क्योकि पूर्वविषादादिके वासनामात्र निमित्तके होते हुए भी उन विषादादिके नियमका सभव नही।) इस तरह लौकिक जनोकी उत्पादादि-विषयक-प्रतीतिके भेदसे यह सिद्ध है कि वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ऐसे तीन रूपमे व्यवस्थित है। अब एक दूसरे दृष्टान्त-द्वारा इस विषयको और स्पष्ट किया जाता है ॥५९॥

60) **पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।**
**अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥**

§ 60 **लोकोत्तरदृष्टान्तेनापि तत्र प्रतीतिनानात्व विनाशोत्पादस्थितिसाधनं प्रत्याययति। दधिपयोऽगोरसव्रतानां क्षीरदध्युभयवर्जं तत्, क्षीरात्मना नश्यद्दध्यात्मनोत्पद्यमानं गोरस स्वभावेन तिष्ठतीति। तस्मात्तत्त्वं[1] त्रयात्मकम् ॥६०॥**

§ 60 पुनरपि लोकोत्तरदृष्टान्तेन पोषयति—यस्य **पयो** दुग्धमेवाह भुञ्जे इति **व्रतं** नियम, **नासौ दध्यत्ति** दधि भुङ्क्ते। यस्य च **दध्य**हं भुञ्जे इति **व्रतं नासौ पयोऽत्ति** दुग्ध भुङ्क्ते। यस्य

60) 1. As ततस्तत्त्वं।

**चागोरसमह** भुञ्ज इति **व्रतं नासावुभयमत्ति** । कुत , गोरसरूपेण तयोरेकत्वात् । दुग्धव्रतस्य दधिरूपेणाभावात् । दधिव्रतस्य पयोरूपेणाभावात् । अगोरसव्रतस्य दधिदुग्धरूपेणाभावात् । **तस्मात्तत्त्व** वस्तु **त्रयात्मक** स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मक सुघटमेतदनेकान्ते जैनमते इति स्थितम् ॥६०॥

§ 60 **जिसके दुग्ध लेनेका व्रत है**—आज मैं दूध ही लूँगा ऐसी प्रतिज्ञा है—**वह दही नहीं खाता, जिसके दही लेनेका व्रत है वह दुग्ध नही पीता और जिसका गोरस न लेनेका व्रत है वह दूध-दही दोनो ही नहीं खाता । इससे मालूम होता है कि वस्तु-तत्त्व त्रयात्मक है**—युगपत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है । एक ही वस्तुमे प्रतीतिका नानापन उस वस्तुके विनाश, उत्पाद और स्थिति ( ध्रौव्य ) का साधक जान पडता है—जो दूधरूपसे नाशको प्राप्त हो रहा है वही दधिरूपसे उत्पद्यमान और गोरसरूपसे विद्यमान ( ध्रौव्य ) है, क्योकि दूध और दही दोनो ही गोरसरूप हैं । गोरसकी एकताके होते हुए भी जो दधिरूप है वह दुग्धरूप नही, जो दुग्धरूप है वह दधिरूप नही, ऐसा व्रतियोके द्वारा द्रव्य-पर्यायकी विभिन्न प्रतीति-वश भेद किया जाता है । यदि प्रतीतिमे त्रिरूपता न हो तो एकके ग्रहणमे दूसरे का त्याग नही बनता । इस तरह वस्तुतत्त्वके त्रयात्मक साधन-द्वारा उसका प्रस्तुत नित्य-अनित्य और उभय-साधन भी विरोधको प्राप्त नही होता, क्योकि एक ही वस्तुमे स्थिरताके व्यवस्थापन-द्वारा वह कथचित् नित्य और नाशोत्पादके प्रतिष्ठापन-द्वारा कथचित् अनित्य सिद्ध होता है और इसलिये यह ठीक कहा जाता है कि सपूर्ण वस्तु-समूह कथचित् नित्य ही है, कथचित् अनित्य ही है, कथचित् उभयरूप ही है, कथचित् अवक्तव्य ही है, कथचित् नित्यावक्तव्य ही है, कथचित् अनित्यावक्तव्य ही है और कथचित् उभयावक्तव्य ही है । और इस सप्तभगीकी व्यवस्थापनप्रक्रियाको उसी प्रकारसे नयप्रमाणकी अपेक्षासे योजित करना चाहिए जिस प्रकार कि वह भावादि तथा एकादि सप्तभगियोकी व्यवस्थाके लिये की गई है ॥ ६० ॥

**इति देवागमाप्तमीमासाया तृतीय· परिच्छेद ।**

# चतुर्थपरिच्छेदः

61) **कार्यकारणनानात्वं गुणगुण्यन्यतापि च ।**
**सामान्यतद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीष्यते ॥ ६१ ॥**

§ 61 **अवयवगुणसामान्यतद्वता[1] व्यतिरेकैकान्तमाशङ्क्य प्रतिविधत्ते ॥ ६१ ॥**

§ 61 द्रव्यपर्यायरूप तत्त्व व्यवस्थाप्य नैयायिकवैशेषिकमतमाशङ्क्य दूषयितुकाम प्राह— **कार्यं** घटादिरूप **कारण** मृत्पिण्डादिक तयोर्नानात्वं भेद इष्यते चेत् **गुणो** रूपादि **गुणी** द्रव्य तयो **अपि** यदि **अन्यता** इष्यते सर्वदा भेद इष्यते । सामान्य बुद्ध्यभिधानप्रवृत्तिलक्षण तद्वत् **सामान्यवत्** व्यक्तय' तयोश्च **यद्यन्यतेष्यते** सर्व**थैकान्तेन** ॥ ६१ ॥

§ 61 **यदि** ( वैशेषिकमतावलम्बियोके मतानुसार ) **एकान्तसे**—सर्वथा रूपमें—**कार्य-कारणका भेद माना जाता है, गुण-गुणीकी भिन्नता स्वीकार की जाती है और सामान्य तथा सामान्यवान्** जो **द्रव्य-गुण-कर्मरूप त्रिक है उसका एक-दूसरेसे अन्यत्व इष्ट किया जाता है** (तो उसमें जो बाधा आती है उसे आगे वतलाया जाता है । ) यहाँ वैशेषिकमतानुसार 'कार्य' शव्दसे चलनादि क्रियारूप कर्मका, तन्तु आदि अवयवरूप कारणके अवयवीका, सयोगादिरूप अनित्य गुणका और प्रध्वसाभावका ग्रहण है, 'कारण' शव्द समवायीका, समवायिवान्का ( कर्मवान्का, अनित्यगुणवान्का, पटादि अवयवोका ) और प्रध्वसके प्रति कारणका वाचक है, 'गुण' शव्द नित्य-गुणका, 'गुणी' शव्द गुणके आश्रयभूत द्रव्यका, 'सामान्य' शव्द पर-अपर-जातिका और 'सामान्यवान्' शव्द द्रव्य-गुण-कर्मरूप अर्थका वोधक है। वैशेषिकमतका कथन है कि क्रिया-तत्क्रियावान्का, समवाय-समवायीका, अवयव-अवयवीका, गुण-गुणीका, विशेषण-तद्विशेष्यका, सामान्य-तत्सामान्यवान्का और अभाव-तद्विशेष्यका एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न-पना ही है, क्योकि उनका भिन्न प्रतिभास होता है, सह्याचल-विन्ध्याचलकी तरह—अपने इस 'भिन्नप्रतिभासत्व' हेतुको असिद्ध-विरुद्धादि दोषोसे रहित सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है और उस प्रयत्नमे एक वात यह भी कही गई है कि कार्य-कारणादिका लक्षण एक-दूसरेसे भिन्न है और वह भिन्न-लक्षण भिन्न प्रतिभासका हेतु है, वस्तु यदि एक है तो उसका भिन्न-लक्षणसे प्रतिभास नही होता । इससे भिन्न-प्रतिभास हेतु विरुद्ध नही है, क्योकि भिन्नलक्षणलक्षित विपक्षमे उसकी वृत्तिका अभाव है। दूसरी बात यह भी कही गई है कि जिनका ऐसा अनुमान है कि कार्य-कारणका, गुण-गुणीका तथा सामान्य-सामान्यवान्का एक-दूसरेके साथ तादात्म्य है—अभेद है, क्योकि उनका देश ( क्षेत्र ) अभिन्न है । जिनका तादात्म्य नही होता उनका देश अभिन्न नही होता, जैसे कि सह्याचल और विन्ध्याचलका । प्रकृत कार्य-कारणादिका देश अभिन्न है अत उनका तादात्म्य है, और इस अनुमानसे वे कार्य-कारणादिकी भिन्नताके एकान्तको बाधित ठहराते हैं, वह ठीक नही है, क्योकि देशाऽभेद दो प्रकारका है–एक शास्त्रीय और दूसरा लौकिक । कार्य-कारणादिका शास्त्रीय देशाऽभेद असिद्ध है—शास्त्रकी अपेक्षासे

---

61) 1, P –वतो ।

पटादिरूप कार्यका स्वकीय कारण तन्तुसमूह और तन्तुओका कारण कपासादि इस तरह सबका स्व-अन्य-कारणदेशको दृष्टिसे देशभेद ही है। लौकिक देशाऽभेदका आकाश-आत्मादिके साथ व्यभिचारदोष घटित होता है, क्योकि लौकिक देशकी अपेक्षा आकाश और आत्मादिके भिन्न-देशका अभाव होने पर भी उनका तादात्म्य नही है ॥ ६१ ॥

62) **एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा ।**
**भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥ ६२ ॥**

§ 62 **एकमनेकत्र वर्तमान प्रत्यधिकरणम् । न तावदेकदेशेन, निष्प्रदेशत्वात् । नापि सर्वात्मना, अवयव्यादिबहुत्वप्रसङ्गात् । अथापि कथंचित्प्रदेशवत्त्वम्, तत्रापि वृत्तिविकल्पोऽनवस्था च । तदेकत्वमेव[1] न स्यात् । नाय प्रसङ्गोऽनेकान्ते कथंचित्तादात्म्यात्, वेद्यवेदकाकारज्ञानवत् ॥ ६२ ॥**

62 तदानी किं स्यादत आह—**एकस्य** अवयव्यादे कार्यस्य घटादेरनेकेषु स्वारम्भकावयवेषु **वृत्तिः** वर्तन सा **न** स्यात् । कुत , **भागाभावात्** निरवयवत्वात् । अवयविनो अर्थे वर्तन्ते अवयविबहुत्व स्यादनिष्ट चैतत् । यथास्य भागा परिकल्प्यन्ते, एव सति **नैकत्वमस्य, भागित्वात् ।** तस्मात् **अनार्हते मते** वृत्तिविकल्पस्य सर्वात्मनैकदेशेन **दोष** एव । आर्हते पुनर्मते सर्वं युक्तमनेकान्तात् ॥ ६२ ॥

§ 62 ( यदि वैशेषिकमतानुसार कार्य-कारण, गुण-गुणी और सामान्य-सामान्यवान्को सर्वथा एक दूसरेसे भिन्न माना जाय तो ) **एककी**—पटादि अवयवीरूप कार्य-द्रव्यादिकी—( अपने आरम्भक तन्तु आदि ) **अनेकोमे**—कारणादिकमे—**वृत्ति**—प्रवृत्ति **नहीं बनती; क्योकि उस एकके विभागके अभावसे निरंशपना माना गया है**—जबकि वृत्ति होनी चाहिये, अन्यथा कार्य-कारणभावादिका विरोध उसी तरह घटित होगा जिस तरह अकार्य-कारणरूप तन्तु-घटका और मृत्पिण्ड-पटका कार्य-कारणभाव विरुद्ध होता है। **यदि** ( अवयवी आदि ) **एकको भागित्वरूप आश्रित करके वृत्ति मानी जाय तो इससे एकका एकत्व स्थिर नही रहता**—वह विभक्त होकर बहुरूपमे परिणत हो जाता है। इसके सिवाय यह प्रश्न पैदा होता है कि एककी अनेकमे वह वृत्ति तन्तु आदिके लक्षण आधारके प्रति एकदेशरूपसे होती है या सर्वात्मक रूपसे ? एक देशरूपसे वह नही बनती, क्योकि एक पटादि कार्य द्रव्यके निष्प्रदेश होनेसे तन्तु आदि अनेक अधिकरणोमे उसका वर्तना नही बनता और प्रत्येकमे सर्वात्मकरूपसे वृत्तिके होने पर एक अवयवी आदिके बहुत्वका प्रसग उपस्थित होता है—जितने अवयव उतने ही अवयवी ठहरते है, जितने सयोगी आदि गुणी उतने ही अनेक अवयवोमे स्थित सयोगादि गुण ठहरते हैं और जितने सामान्यवान् अर्थ उतने ही सामान्य होने चाहिये। परन्तु ऐसा नही है। **अतः एककी अनेकमे सर्वात्मक अथवा सर्वदेश वृत्ति माननेसे, आर्हन्तमतसे भिन्न जो सर्वथा एकान्तमत है उसमे दोष आता है।** इस तरह एककी अनेकमे प्रवृत्तिका मानना और न मानना दोनो ही सदोष ठहरते हैं। एकदेशरूप और सर्वात्मक वृत्तिसे भिन्न वृत्तिका अन्य कोई प्रकार नही है। ( यदि वैशेषिकमतकी मान्यतानुसार समवाय-सम्बन्धको प्रकारान्तर माना जाय—यह

---

62) 1. As तदेकमेव ।

कहा जाय कि समवाय-सम्बन्धके कारण अवयवी आदि अवयवादिकमे वर्तता है, बिना समवाय-सम्बन्धके वर्तनके अर्थका अभाव है तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि यहाँ भी वही प्रश्न पैदा होता है कि अवयवी आदिकी अवयवादिकमे वह समवायवृत्ति एकदेश है अथवा सर्वात्मक ? और दोनोमेसे किसी भी प्रकारकी समवायवृत्तिको माननेपर वही दोष घटित होता है, जिसे ऊपर बतलाया गया है ) ॥ ६२ ॥

63) **देशकालविशेषेऽपि[1] स्याद्वृत्तिर्युतसिद्धवत् ।**
**समानदेशता न स्यान्मूर्तकारणकार्ययो ॥ ६३ ॥**

§ 63 **तस्मादङ्गाङ्ग्यादेरत्यन्तभेदात्[2] तद्देशकालविशेषेणापि वृत्तिः प्रसज्येत । घटवृक्षवद्वर्णादिभिरनैकान्तिकत्वमित्ययुक्तम्, तदव्यतिरेकैकान्तानभ्युपगमात् । अवयवावयविनो समानदेशे वृत्तिर्न भवेत्, मूर्तिमत्त्वात्, खरकरभवत् ॥ ६३ ॥**

§ 63 पुनरपि भेदपक्षे दूषणमाह—**देशः** क्षेत्र **कालः** समयादिक तयो**र्विशेषो** भेदस्तस्मिन् **अपि** तयोरवयवावयविनोर्या **वृत्तिर्वर्तन स्यात्** युतसिद्धानामिव पृथग्भिन्नानामिव **युतसिद्धवत्** घटपटादिवत् इत्यर्थ । अन्यच्च **समानदेशता न स्यात्** तयोरवयवावयविनोरेकस्मिवन्नवस्थान न स्यात्, मूर्तिमत्त्वात् यथा, खरकरभयो ॥ ६३ ॥

§ 63. ( यदि अवयवादि और अवयवी आदिमे सर्वथा भेद स्वीकार किया जाय तो ) **देश और कालकी अपेक्षासे भी उनमे**—अवयवादि और अवयवी आदिमे—**भेद मानना पड़ेगा और तब युत-सिद्धके समान**—पृथक्-पृथक् आश्रयमे रहने वाले घट-वृक्षकी तरह—**उनमे भी वृत्ति** ( समवाय-सम्बन्धकी वर्तना ) **माननी होगी** । ( फलत ) **मूर्तिक कारण और कार्यमे जो समान (अभिन्न) देशता**—एककाल-देशता—**देखी जाती है वह नहीं बन सकेगी** । अवयवादि और अवयवी आदिमे सर्वथा भेद माननेपर उनमे देशभेद और कालभेद भी मानना पडेगा और उनका सम्बन्ध युत-सिद्धो जैसा होगा, तब उनमे अभिन्नदेशता कैसे बन सकती है ? यह बात वैशेषिकोको सोचनेकी है । यद्यपि आत्मा और आकाशमे अत्यन्त भेद होनेपर भी उनमे न देशभेद है और न कालभेद है और इसलिये यह अत्यन्तभेद कार्य-कारणके देश और कालके भेदका नियामक नही है, तथापि सत्, द्रव्यत्व आदि रूपसे आत्मा और आकाशमे भी अत्यन्तभेद असिद्ध है । अत एव उनके अभिन्नदेश और अभिन्नकालके होनेमे कोई बाधा नही है ॥ ६३ ॥

64) **आश्रयाश्रयिभावान्न स्वातन्त्र्यं समवायिनाम् ।**
**इत्ययुक्तः स संबन्धो न युक्तः समवायिभिः ॥ ६४ ॥**

§ 64. **कार्यकारणादीना परस्पर प्रतिबन्धात् कुतः स्वातन्त्र्यं यतो देशकालादिभेदेन वृत्तिः, इति चेत्, समवायस्य समवायान्तरेण वृत्तावनवस्था प्रसङ्गात् । स्वत एव वृत्तौ द्रव्यादेस्तथोपपत्तेरसबद्ध समवायः कथं द्रव्यादिभिः सह वर्तेत, यत पृथक्सिद्धिर्न स्यात् ॥ ६४ ॥**

§ 64 पुनरपि भेदवादिन प्रति दूषणमाह—**स्वातन्त्र्यं** स्वप्रधानता तेषा **नास्ति** कुत **आश्रयाः** स्वारभकावयवा **आश्रयी** अवयवी कार्यादिस्तयोर्भावस्तस्मात् । यस्मात् आश्रयमन्तरेण

63) 1. C च । 2. P –दाद्देश ।

नाश्रयी वर्तते नाश्रयिणमन्तरेणाश्रय परस्परप्रतिबन्धात् । तस्मान्न कालादिभेदेन वृत्तिस्तेषा **समवायिनां** कार्यकारणानामिति चेदत्रोत्तरमाह—**सोऽयुक्त संबन्धः समवायिभिः** सह **न युक्तः,** समवाय सबन्ध परैरिष्ट कार्यकारणादिभि सह स न घटते विचार्यमाणायोगात् । अनवस्थादि दोषादिति ॥ ६४ ॥

§ 64 **यदि ऐसा कहा जाय कि समवायियोमे**—अवयव-अवयवी ( तन्तु-पट ) आदिमे—(समवायके द्वारा) **आश्रयाऽऽश्रयोभाव होनेके कारण स्वतन्त्रता नहीं है, जिससे देश व कालकी अपेक्षा भेद होनेपर भी वृत्ति** ( समवाय-सम्बन्ध-वर्तना ) **बनती, तो यह कहना ठीक नहीं है।** ( क्योकि तब यह प्रश्न उठता है कि वह समवाय समवायिओमे स्वत वर्तता—सम्बन्धित होता है या अन्य समवायसे वर्तित–सम्बन्धित होता है। यदि स्वत सम्बन्धित होता है तो फिर अवयवी भी अपने अवयवोमे स्वत सम्बद्ध हो जायगा, उसके लिये एक अलग समवायकी व्यर्थ-कल्पनासे वया नतीजा ? यदि अन्य समवायसे वह सम्बन्धित होता है तो वह अन्य समवाय भी अन्य तृतीयसे और तृतीय भी अन्य चतुर्थसे सम्वन्धित मानना पडेगा और इस तरह अनेक समवायोकी कल्पना करनेपर एक समवाय की मान्यता बाधित ठहरेगी और अनवस्था-दोषका प्रसग भी उपस्थित होगा । ) ( यदि यह कहा जाय कि समवाय अनाश्रित होनेसे सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा नही रखता, किन्तु असम्वद्ध ही रहता है तो यह कहना उचित नही, क्योकि ) **जो स्वयं असम्बद्ध** ( सम्वन्ध रहित ) **है वह एक** ( अवयवी ) **का दूसरे** ( अवयवो ) **के साथ सम्बन्ध कैसे करा सकता है** ? सम्वन्धरहित होनेकी हालतमे वह दूसरे ( द्रव्यादि )के साथ कैसे रह सकता है ? नही रह सकता ॥ ६४ ॥

65) **सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तितः** ।[1]
**अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः ॥ ६५ ॥**

§ 65 **प्रत्येकं परिसमाप्तेराश्रयाभावे सामान्यसमवाययोरसभवादुत्पत्तिविपत्तिमत्सु कथ वृत्तिः, उत्पित्सुप्रदेशे प्राड् नासीत्, नान्यतो याति, स्वयमेव पश्चाद्भवति, स्वाश्रयविनाशे च नश्यति, प्रत्येकं परिसमाप्तं चेति व्याहतमेतत् ॥ ६५ ॥**

§ 65 तदेव विघटयन्नाह—**सामान्यं** भिन्नेष्वभिन्नकारणम् । **समवाय** इहेद प्रत्ययलक्षणम् । **एकैकत्र** एकस्मिन्नवयवे व्यक्तौ वा । **समाप्तितः** समाप्तेर्व्यवस्थितत्वादित्यर्थ । **आश्रयमन्तरेण** यस्मात्तयोरवस्थान नास्ति । एव सति नाशोत्पादा विद्यन्ते येषा तेषु **नाशोत्पादिषु** खण्डमुण्ड-घटपटादिषु **को विधिः** क क्रम , किन्तु न कश्चिदपि स्यात् ॥ ६५ ॥

§ 65 **जिस-प्रकार सामान्य आश्रयके बिना नहीं रहता, उसी प्रकार समवाय भी आश्रय-के बिना नहीं रहता। जब सामान्य और समवाय दोनोकी प्रत्येक द्रव्यादि नित्य व्यक्तियोमे समाप्ति–पूर्णता होती है तब नाश हुए तथा उत्पन्न हुए अनित्य कार्योमे उनके सद्भावकी विधि-व्यवस्था कैसे बन सकती है ?**—नही बन सकती । जहाँ एक व्यक्तिका उत्पाद हुआ वहाँ पहलेसे न सामान्य है और न समवाय, क्योकि उनका वहाँ कोई आश्रय नही है और ये दोनो विना आश्रयके नही रहते । अन्यथा अनाश्रित होनेका प्रसग आयेगा । यह भी सभव नही कि वे अन्य व्यक्तिसे पूर्णरूपमें या अशरूपमे आते हैं, क्योकि पूर्वाधारका अभाव तथा सामान्य

65) 1 A समाश्रित· ।

एव समवायमें साशपनेका प्रसग आवेगा । स्वय पीछे उनका उत्पाद भी संभव नही है, अन्यथा वे अनित्य माने जायेंगे । आश्रयके नाश होनेपर भी उनका नाश नही होता, क्योंकि वे नित्य है और आश्चर्य यह कि प्रत्येकमे पूर्ण रूपसे रहते हैं। साराश यह कि सामान्य और समवाय इन दोनो पदार्थोंका नित्य व्यक्तियोमे सत्व सिद्ध होनेपर भी अनित्य व्यक्तियोमें उनका सद्भाव सिद्ध नही होता, जबकि वैशेपिक इन दोनोको नित्य, व्यापक और एक एव प्रत्येकमे पूर्णरूपसे व्याप्त मानते है, जो स्पष्टत युक्ति और प्रतीतिके विरुद्ध है ॥ ६५ ॥

66) **सर्वथानभिसंबन्धः सामान्यसमवाययोः ।**
**ताभ्यामर्थो न संबद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत् ॥ ६६ ॥**

§ 66. **सामान्यसमवाययोः परस्परतः संबन्धासभवात् ताभ्यामर्थोऽपि न सबद्धः, ततस्त्रीण्यपि नात्मानं विभृयु , कूर्मरोमादिवत् ॥ ६६ ॥**

§ 66 पुनरपि सबन्धस्य दूषणमाह—**सामान्यसमवाययो**. परस्परेण **सर्वथा** सर्वप्रकारेणा**नभिसंबन्धो**ऽसयोगोऽतस्**ताभ्यां** सामान्यसमवायाभ्या **अर्थो** गुणगुण्यादिर्न **सबद्धो** न लग्नोऽत**स्तानि त्रीणि** अपि सामान्यसमवायार्थरूपाणि **खपुष्प**समानानि ॥ ६६ ॥

§ 66 ( वैशेषिक मतानुसार ) **जब सामान्य और समवाय दोनोके सर्वथा अनभिसम्बन्ध हैं**—परस्परमे एकका दूसरेके नाथ सयोगादिरूप कोई प्रकारका भी सम्बन्ध नही है— **तब उन दोनोंके साथ द्रव्य, गुण और कर्मरूप जो अर्थ है उसका भी सम्बन्ध नहीं रहता** । ( और इसलिये ) **सामान्य, समवाय तथा अर्थ ये तीनों ही आकाश-पुष्पके समान अवस्तु ठहरते हैं।** क्योकि असत्का और अवस्तुका कूर्म-रोमादिकी तरह कोई भी स्वरूप नही बन सकता ॥६६॥

67) **अनन्यतैकान्तेऽणूनां संघातेऽपि विभागवत् ।**
**असहतत्वं स्याद्भूतचतुष्कं भ्रान्तिरेव सा ॥ ६७ ॥**

§ 67 **कार्यकारणादेरभेदैकान्ते धारणाकर्षणादयः परमाणूनां संघातेऽपि माभूवन्, विभागवत् । नाहितोऽपि विशेषस्तेषा विभागैकान्तं निराकरोति । तत एवान्यत्रापि तन्नेष्यते, पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्थितिरेवं विभ्रममात्रं प्राप्नोति । इष्टत्वाददोषः, इति चेत्, न, प्रत्यक्षादिविरोधात् ॥ ६७ ॥**

§ 67 सत्यमेवैतत् समवायादीना दोष । अस्माक पुन परमाणूनामेकान्तेनानयत्वमिच्छता न दोष इत्यत्र दूषणमाह—**परमाणूना** द्वितीयविभागरहिताना **संघातेऽपि** प्रचयेऽपि **असंहतत्वं** पृथक्त्व **स्यात् विभागवत्,** यथा घटपटयो । न अन्यता **अनन्यता** सैवैकान्तस्तस्मिन्-परमाणूनाम् । अन्यथा स्वरूपेण परिणामायोगात्, एकदेशेन सर्वात्मना वा तथा वृत्तिविरोधात् । सहस्राणुमात्रपिण्डप्रसङ्गादणो । तस्मात्प्रविरलत्वं प्रविकलत्वम्, अणूना ततो धारणाकर्षणादयो न स्यु । **भूतानां** पृथिव्यादीना चतुर्णां भावश्चतुष्क सा **भ्रान्ति**' **स्यात्** । भूतचतुष्टय भ्रान्त स्यादित्यर्थ ॥६७॥

§ 67. **यदि** (बौद्ध-मतानुसार) **परमाणुओकी अनन्यताका**—सर्व अवस्थाओंमे स्वरूपान्तर-परिणमनरूप अन्यताके अभावका—**एकान्त माना जाय तो स्कन्धरूपमे उनके मिलनेपर भी न मिलनेकी भ्रान्तिमे परस्पर असम्बद्धता रहेगी और ऐसा होनेपर बौद्धोके द्वारा प्रतिपादित जो भूतचतुष्क है**—परमाणुओका पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ऐसे चार स्कन्धोके रूपमे जो कार्य

है—वह ( वास्तविक न होकर ) **भ्रान्तरूप ही ठहरेगा** । ( यदि भूतचतुष्टयको भ्रान्तिरूप न माना जायगा तो परमाणुओंका संघातावस्थामें स्वरूपान्तर मानना होगा और वैसा मानने पर सर्वथा अनन्यताका एकान्त नहीं बन सकेगा । ) ॥ ६७ ॥

**68) कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम् ।**
**उभयाभावतस्तत्स्थ गुणजातीतरच्च न ॥६८॥**

§ 68 **चक्षुरादिबुद्धौ स्थूलैकाकारः प्रतिभासमानः परमाणुभेदैकान्तवादं प्रतिहन्ति तद्विपरीतानुपलब्धिर्वा । तत्रैतत्स्यात् भ्रान्तैकत्वादिप्रतिपत्तिरिति, तन्न, परमाणूनां चक्षुरादिबुद्धौ [1]स्वरूपमनर्पयता कार्यलिङ्गाभावात् । तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तेस्तद्द्वयाभावात् तद्वृत्तयो जातिगुणक्रिया न स्युः, व्योमकुसुमसौरभवत् ॥ ६८ ॥**

§ 68 सत्यमेव नैतत्प्रमाण भावात् पुनरपि दूषणमाह—अणूना यदेतत्कार्यं स्थूलघटपटादिकं तस्य यदि **भ्रान्ति**र्विभ्रमस्तदानीं **कार्यभ्रान्तेरणू**नामपि **भ्रान्ति** । यत **कार्यलिङ्गं कारणं** कार्यद्वारेण कारणस्यावगमो नान्यथा, अतोऽन्यतराभावे उभयोरप्यभावोऽविनाभावनियमात् । **उभयाभावाच्च तत्स्थं** तयो स्थित **गुणो** रूपादि , **जातिः** सामान्य **इतरच्च** क्रिया एतत्समुदित न न स्यात् । चैतदिष्ट सर्वप्रमाणप्रसिद्धत्वात् ॥ ६८ ॥

§ 68 **भूतचतुष्करूप-कार्यके भ्रान्तिरूप होनेसे तत्कारण परमाणु भी भ्रान्तिरूप ठहरेंगे—तब वस्तुत. उनकी** अस्तित्व-सिद्धि ही नहीं बन सकेगी , **क्योंकि कारण कार्य-लिङ्गक होता है**—कार्यसे ही उसे जाना जाता अथवा अनुमान किया जाता है । **कार्य-कारण दोनोके भ्रान्तिरूप अभावसे उनमे** रहनेवाले **गुण-जाति-क्रियादिक भी नहीं बन सकेंगे**—जैसे गगनकुसुमोंके अभावमें उनकी कोई गन्ध भी नहीं बन सकती ॥ ६८ ॥

**69) एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाभावोऽविनाभुवः ।**
**द्वित्वसंख्याविरोधश्च संवृत्तिश्चेन्मृषैव सा ॥ ६९ ॥**

§ 69 **आश्रयाश्रयिणोरेकत्वे तदन्यतराभावस्ततः शेषाभावस्तत्स्वभावाविनाभावित्वात्[1], बन्ध्यासुतरूपसंस्थानवत् । तथा च सति द्वित्वसंख्यापि न स्यात् । तत्र संवृत्तिकल्पना शून्यतां नातिवर्तते, परमार्थविपर्ययात् शून्यतां व्यलीकवचनार्थवत् ॥ ६९ ॥**

§ 69. कार्यकारणयो **एकत्वे** द्वयोर्मध्येऽ**न्यतराभाव**स्तस्य चाभावे द्वितीयस्य चाभाव । कुत , **अविनाभाव**नियमात् । न ह्येकमन्तरेणापरं भवति । **द्वित्व**मिति च या **संख्या** तस्याश्च **विरोधो**ऽघटना । अथ मत सवृत्या सर्वं युक्तम् । सा **संवृतिर्मृषैव** व्यलीकैव । ततो न किंचित् स्यात्, बन्ध्यासुतपरिकल्पितरूपव्यावर्णनवत् ॥ ६९ ॥

§ 69 **यदि** ( साख्यमतानुसार ) **कार्य-कारणादिका सर्वथा एकत्व माना जाय**—कार्य जो महत् आदि और कारण जो प्रधान दोनोंका तादात्म्य अगीकार किया जाय—**तो एककी मान्यतापर दूसरेका अभाव ठहरेगा**—प्रधानरूप कारणकी मान्यतापर महत् आदिरूप कार्यकी

68) 1. As स्वभाव– ।
69) 1. A, C भावात् ।

पृथक् कोई मान्यता नही बन सकेगी, दोनोके सर्वथा एक होनेसे। साथ ही कार्यके अभावपर शेष जो कारण उसका भी अभाव ठहरेगा, क्योकि कार्यका कारणके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है, कारण कार्यकी अपेक्षा रखता है, सर्वथा कार्यका अभाव होनेपर कारणत्व बन नही सकता और इस तरह सर्वके अभावका प्रसग उपस्थित होता है। इसके सिवाय, (यदि यह कहा जाय कि महत् आदि कार्यका प्रधानरूप-कारणमे अनुप्रवेश हो जानेसे उत्तर-सृष्टिक्रमकी अपेक्षा पृथक्सत्तारूप भेदका अभाव होनेपर भी कारण तो एक रहता ही है—नित्य होनेसे उसका अभाव नही होता, तो ) दोकी सख्याका विरोध उपस्थित होता है—कार्य और कारण सर्वथा एक होनेपर यह कार्य है और यह कारण है ऐसे दोकी सख्याका निर्देश नही बन सकता, जैसे कि वस्तुके सर्वथा एक होनेपर उसमे कार्य-कारणभाव नही बनता। **यदि द्वित्व-सख्याको संवृतिरूप कल्पित अथवा औपचारिक ही माना जाय तो यह संवृति ( परमार्थके विपरीत होनेसे जब मृषा ही है तब द्वित्व-संख्या भी मृषा ही ठहरती है**—ऐसी स्थितिमे प्रधानकी जानकारी तब कैसे हो सकेगी ? प्रत्यक्षसे वह हो नही सकती, क्योकि प्रधान प्रत्यक्षका विषय नही। अनुमानसे भी नही हो सकती, क्योकि अभ्रान्तलिङ्गका अभाव है। आगमसे भी नही बन सकती, क्योकि शब्दके भी भ्रान्तत्व माना गया है, और भ्रान्तलिङ्गसे अभ्रान्त साध्यकी सिद्धि होती नही, सिद्धि मानने पर अतिप्रसग-दोष उपस्थित होता है। ( इसी प्रकार पुरुष और चैतन्य जो आश्रय-आश्रयीरूप है उनकी एकता माननेपर एक दूसरेका अभाव ठहरता है, पुरुषमे चैतन्यके अनुप्रवेशपर पुरुषमात्रका और चैतन्यमे पुरुषके अनुप्रवेशपर चैतन्यमात्रका प्रसग उपस्थित होता है और इससे साख्यमतानुयायियोंके यहाँ सर्वथा एकत्वकी मान्यतापर पुरुष और चैतन्य इन दोमेसे किसी एकका अभाव सिद्ध होता है। दोमेसे एकका अभाव होनेपर शेषका भी अभाव ठहरता है, क्योकि दोनोमे परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है। पुरुष आश्रय है और चैतन्यस्वभाव उसका आश्रयी है—आश्रयके बिना आश्रयीका और आश्रयीके बिना आश्रयका कोई अस्तित्व नही बनता। दोनोके सर्वथा एक होनेपर द्वित्व-सख्या भी नही बनती और द्वित्वसख्यामे सवृतिकी कल्पना करनेपर शून्यताका प्रसग आता है, क्योकि परमार्थत द्वित्वसख्याके अभावपर सख्येय जो पुरुष और चैतन्य उनकी भी कोई व्यवस्था नहीं बनती—ऐसी कोई वस्तु ही सम्भव नही जो सकलधर्मोसे शून्य हो। अत. साख्योका यह कार्य-कारणादिकी अनन्यताका एकान्त भी वैशेषिकोंके अन्यता एकान्तकी तरहसे नही बन सकता ॥ ६९ ॥

70) **विरोधान्नोभयैकात्म्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।**
**अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ७० ॥**

§ 70 **अवयवेतरादीना व्यतिरेकाव्यतिरेकैकान्तौ न वै यौगपद्येन संभविनौ, विरोधात् । तथानभिलाप्यतैकान्ते स्ववचनविरोधः, तदभिलाप्यत्वात् । स्याद्वादाभ्युपगमे तु न दोषः, कथंचित्तथाभावोपलब्धेः ॥ ७० ॥**

§ 70 उभयैकान्तवादिनं प्रत्याह—अवयवावयविव्यतिरेकाव्यतिरेकैकान्तौ न यौगपद्येन सभविनौ, विरोधात् स्ववचनविरोधात् । अनभिलाप्यतैकान्तोऽपि न सभवति । स्याद्वादाभ्युपगमे तु न दोष कथचित् तथाभावोपलब्धे ॥ ७० ॥

§ 70 **यदि कार्य-कारणादिकी अन्यता और अनन्यताके दोनो एकान्त एक साथ माने जाँय तो वे स्याद्वाद न्यायके विद्वेषियोके**—सर्वथा एकान्तवादियोके—**यहाँ युगपत् नहीं बन सकते, क्योंकि उनमे परस्पर विरोध होनेसे उनका एकात्म्य अथवा तादात्म्य असभव है। यदि अवाच्यता** ( अनभिलाप्यता ) **का एकान्त** माना जाय—कार्य-कारणादिका भेद-अभेद सर्वथा अवाच्य है ऐसा कहा जाय—**तो यह कहना भी नही बन सकता; क्योकि इस कहनेसे ही वह वाच्य** ( अभिलाप्य ) **हो जाता है। और जब यह कहना भी नही बन सकता तब अवाच्यतैकान्त-सिद्धान्तका परको प्रतिपादन कैसे बन सकता है ? नहीं बन सकता।** ( यदि बौद्धोंके द्वारा यह कहा जाय कि परमार्थसे तो वचनद्वारा किसी भी पदार्थ अथवा सिद्धान्तका प्रतिपादन नही बनता—सवृतिके द्वारा ही बनता है तो सवृतिके स्वय मिथ्या होनेसे उसके द्वारा सत्यसिद्धान्तादिका प्रतिपादन कैसे बन सकता है ? नही बन सकता। अत सवृतिरूप-वचनके द्वारा प्रतिपादन करनेपर भी अवाच्यताका एकान्त स्थिर नही रह सकता। ) ॥ ७०॥

71) **द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः ।**
**परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥ ७१ ॥**

72) **संज्ञासख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः ।**
**प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ ७२ ॥**

§ 71, 72 **यत्प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्त तदेकम्, यथा वेद्यवेदकज्ञानं रूपादिद्रव्यं वा**[1]**। तथा च द्रव्यपर्यायौ न व्यतिरिच्येते, तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। उपयोगविशेषाद्रूपादिज्ञाननिर्भासभेदः स्वविषयैकत्वं न वै निराकरोति, सामग्रीभेदे युगपदेकार्थोपनिबद्धविशदेतरज्ञानवत्। तदेव सति विरोधाद्युपालम्भश्चतुरस्रधिया मनो मनागपि न प्रीणयति। वर्णादेरप्यभावप्रसङ्गात्। एकत्वानैकत्वैकान्तौ नान्योन्यं विजयेते, भावस्वभावप्रतिबन्धनात्**[2] **। यत्परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकं तद्भिन्नलक्षणं यथा रूपादि**[3] **तथा च द्रव्यपर्यायौ। विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभ्या वस्तुस्वभावभेदसिद्धेः, अन्यथानानेकं जगत्स्यात्, तदभ्युपगमप्रकारान्तरासंभवात्**[4] **॥ ७१-७२ ॥**

॥ इत्याप्तमीमासाभाष्ये चतुर्थ परिच्छेद ॥

§ 71 तथैव स्पष्टयति—कारण गुणी सामान्य वस्तु **द्रव्य**मित्युच्यते, कार्यं गुणो विशेष. **पर्याय** इत्युच्यते, **तयोरैक्यम्**, एकत्वम्, कुत , **तयोरव्यतिरेकतः** द्रव्यपर्याययोरव्यतिरेकोपलम्भात्। एतेनास्य हेतो प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धत्व प्रत्युक्तम्। परिणाम कारणस्यान्यथाभाव वाग्गोचरातीतस्तस्य विशेषश्च **परिणामविशेषाच्च** तयोरैक्यम्। शक्तयो विद्यन्ते यस्य तत् **शक्तिमत्**—द्रव्य **परिणामि**। प्रतिनियतकार्यसम्पादनसामर्थ्यविशेषा **शक्तयो** यथा घृतादे स्नेहतर्पणबृंहणादय । तयोर्भावस्तस्मात् तयोरैक्यमिति वेदितव्यम् ॥ ७१ ॥

§ 72. कथचिद्भेदनिरूपणार्थमाह—**सज्ञा** नाम, **सख्या** एकादिका, तयो**र्विशेषो** भेदस्तस्मात्तयोर्नानात्वं भेद । दृश्यते सज्ञाभेद ऊढात्र वधू प्रमदा कामिनी क्रोधवती भामा। द्वित्वादेकत्वं सख्याभेदोऽपि प्रतीत । **स्वम्** असाधारण **लक्षणं** स्वरूप यस्य स चासौ **विशेषस्तस्मात्तयोर्नानात्वम्**। तथा च द्रव्येणान्यत्**प्रयोजनं** पर्यायेणान्यत् वृक्षपत्रपुष्पवत् ॥ ७२ ॥

71, 72) 1 As मेचकज्ञान वा, इत्यधिकम्। 2. C, As बन्धात्। 3. D, P. भेदादि। 4. As पक्षान्तरा-।

बनती—( दोनों ही डूबते हैं ) वैसे ही नील और नील-ज्ञानमे सर्वथा अपेक्षाकृत-सिद्धिकी बात है—नीलज्ञानके बिना नील सिद्ध नही होता, अज्ञेयत्वका प्रसग आनेसे और तथा-सवेदननिष्ठ होनेसे, और नीलकी अपेक्षाके बिना नीलज्ञान सिद्ध नही होता, क्योकि नीलज्ञानके नीलसे आत्मलाभ बनता है, अन्यथा नीलज्ञानके निर्विषयत्वका प्रसग आता है और बौद्धोंने ज्ञानको निर्विषय माना नही। इस तरह एकके अभावमे दूसरेका भी अभाव होनेसे नील और नीलज्ञान दोनोका ही अभाव ठहरता है। जब ज्ञान और ज्ञेय दोनो ही न रहे तब सर्व-शून्यताका प्रसग उपस्थित होता है। आपेक्षिक-सिद्धि के एकान्तमे दोष देखकर यदि यौग-मतवादी यह कहे कि 'धर्म-धर्मीकी सर्वथा आपेक्षिक-सिद्धि नही किन्तु अनापेक्षिक-सिद्धि है, क्योकि धर्म-धर्मीके प्रतिनियत-बुद्धिका विषयपना है, नीलादिके स्वरूपकी तरह। सर्वथा अनापेक्षिकत्वका अभाव होनेपर प्रतिनियत-बुद्धिका विषयपना नही बनता, तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि सर्वथा अनपेक्षा-पक्षमे भी अन्वयव्यतिरेक घटित नही होते। अन्वय सामान्यको और व्यतिरेक विशेषको कहते हैं, दोनो परस्पर अपेक्षाके रूपमे ही तिष्ठते हैं, दोनोकी सर्वथा अनापेक्षिक-सिद्धि माननेपर न सामान्य स्थिर रहता है और न विशेष। प्रतिनियतबुद्धि-विषयोमे भी प्रतिनियत-पदार्थता सापेक्षरूपमे होती है, नील-पीतकी तरह। नील और पीतकी अनापेक्षिक-सिद्धि माननेपर यह नील है, यह पीत है ऐसा निश्चय नही बनता ॥ ७३ ॥

74) **विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।**
**अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ७४ ॥**

§ 74 **अनन्तरैकान्तयोर्युगपद्विवक्षा मा भूत्, विप्रतिषेधात्, सदसदेकान्तवत्। तथानभिधेयत्वैकान्तेऽपीति कृत विस्तरेण ॥ ७४ ॥**

§ 74 उभयैकान्त दर्शयन्नाह—अपेक्षानपेक्षैकान्तोभय नास्ति, विरोधात्। नाप्यवाच्यमवाच्यत्वेनापि वाच्यत्वात् ॥ ७४ ॥

§ 74 **यदि आपेक्षिक-सिद्धि और अनापेक्षिक-सिद्धि दोनोका एकान्त माना जाय तो वह स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखनेवालोके**—उस न्यायका आश्रय न लेनेवाले सर्वथा एकान्तवादियोके **यहाँ नहीं बनता क्योकि दोनो एकान्तोमे परस्पर विरोध है**—उनकी युगपत् विवक्षा सदसत् ( भावाऽभाव ) एकान्तकी तरह नही बनती। **यदि** ( विरोधके भयादिसे ) **अवाच्यताका एकान्त माना जाय**—सिद्धिको सर्वथा अवाच्य कहा जाय—तो यह **अवाच्य कहना भी नहीं बनता, क्योकि इस कथनसे ही वह कथचित् वाच्य हो जाती है, और उससे सर्वथा अवाच्यताका सिद्धान्त बाधित ठहरता है ॥ ७४ ॥**

75) **धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्धचत्यन्योऽन्यवीक्षया ।**
**न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥ ७५ ॥**

§ 75 **न केवलं सामान्यविशेषयो. स्वलक्षणमपेक्षितपरस्पराविनाभावलक्षणं स्वत सिद्धलक्षणम्, अपि तु धर्मधर्मिणोरपि, कर्मकर्तृबोध्यबोधकवत् ॥ ७५ ॥**

§ 75 तयोरनेकान्त दर्शयन्नाह—क्रमभावि पिण्डादिकार्यं सहभावी रूपादिगुणो विसदृशपरिणामलक्षणश्च विशेषो **धर्मो**ऽत्र कथ्यते। कारणादिव्यपदेश द्रव्यं **धर्मी**। स्वधर्मापेक्षया द्रव्य-

स्य धर्मिव्यपदेशः । स्वधर्म्यपेक्षया च रूपादेश्च धर्मव्यपदेशस्तयोर्योऽ**विनाभावो**ऽव्यभिचारोऽवश्य सोऽ**न्योऽन्यापेक्षया सिद्धयति** भासते उत्पद्यते वा । **स्वरूपम**साधारण रूप तयोर्न परत , कुत यस्मात्**स्वत एव** तत्सिध्यति । यथा **कारकज्ञापकाङ्गं** कारकक्रियाया अङ्ग ज्ञापकक्रियाया अङ्ग निबन्धन तयोरिव **तद्वत्** कर्तृकर्मबोध्यबोधकवदित्यर्थ । अथवा अङ्गशब्दो विशेषार्थो द्रष्टव्य , यथा कर्मकर्तृव्यपदेशाविनाभावो बोध्यबोधकव्यपदेशाविनाभावश्च सिध्यत्यन्योन्यापेक्षयैवमत्रापीत्यर्थ ॥ ७५ ॥

§ 75. **धर्म और धर्मीका अविनाभाव सम्बन्ध ही एक दूसरेको अपेक्षासे सिद्ध होता है न कि स्वरूप**—स्वरूप तो अपने कारणकलापसे धर्म-धर्मीकी विवक्षासे पूर्व ही सिद्धत्वको प्राप्त है, **क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है, कारक और ज्ञापकके अंगोकी तरह**—जैसे कारकके दो अग ( अवयव ) कर्ता-कर्म और ज्ञापकके दो अग बोध्य बोधक ( वेद्य-वेदक अथवा प्रमेय-प्रमाण ) ये अपने-अपने स्वरूप-विषयमे दूसरे अगकी ( कर्ता कर्मकी और कर्म कर्ताकी, बोध्य बोधककी, बोधक बोध्यकी ) अपेक्षा नही रखते—अन्यथा अपेक्षा-द्वारा एकके स्वरूपको दूसरेके आश्रित माननेपर दोनोंके ही अभावका प्रसग उपस्थित होता है। परन्तु कर्ता-कर्मका और ज्ञाप्य-ज्ञापकका व्यवहार परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षाके बिना नही बनता—व्यवहारके लिये पारस्परिक अपेक्षा आवश्यक है—स्वरूपके लिये नही। इस तरह धर्मधर्मिभूत सकल पदार्थोंकी कथचित् आपेक्षिकी सिद्धि है अविनाभावरूप व्यवहारकी दृष्टिसे, कथचित् अनापेक्षिकी सिद्धि है—पूर्व प्रसिद्ध स्वरूपकी दृष्टिसे, कथचित् उभयी सिद्धि है—अपेक्षा–अनपेक्षारूप दोनो धर्मोंके क्रमार्पितकी दृष्टिसे, कथचित् अवक्तव्या सिद्धि है— उक्त दोनो ( युगपत्कथन ) की दृष्टिसे। शेष 'आपेक्षिकी' और 'अवक्तव्या' आदि भगोको भी इसी प्रकार घटित करके यहाँ भी सप्तभगी-प्रक्रियाकी योजना कर लेनी चाहिये, जो कि नयविशेषकी दृष्टिसे पूर्ववत् अविरुद्ध है ॥ ७५ ॥

॥ इति देवागमाप्तमीमांसाया पंचम॰ परिच्छेद ॥



§ 71 द्रव्य और पर्याय दोनो ( कथचित् ) एक हैं; क्योंकि इनके (प्रतिभास का भेद होनेपर भी) अव्यतिरेकपना है—अशक्यविवेचन होनेसे सर्वथा भिन्नताका अभाव है। तथा द्रव्य और पर्याय (कथचित् ) नानारूप हैं—एक दूसरेसे भिन्न हैं, क्योंकि दोनोंमे परिणामका भेद है, शक्तिमान-शक्तिभावका भेद है, संज्ञा ( नाम ) का भेद है, सख्याका भेद है, स्वलक्षणका भेद है और प्रयोजनका तथा आदि शब्दसे काल एवं प्रतिभासका भेद है, इससे द्रव्य और पर्याय दोनो सर्वथा एकरूप नही और न सर्वथा नानारूप ही हैं—दोनोंमे कथचित् भेदाऽभेदरूप अनेकान्तत्व प्रतिष्ठित है। यहाँ 'द्रव्य' शब्दसे गुणी, सामान्य तथा उपादानकारणका और 'पर्याय' शब्दसे गुण, व्यक्ति-विशेष तथा कार्यद्रव्यका ग्रहण है। 'अव्यतिरेक' शब्द अशक्य-विवेचनका वाचक है, जिसका अभिप्राय यह है कि एक द्रव्यको अन्य द्रव्यरूप तथा एक द्रव्यकी पर्यायको अन्य-द्रव्यकी पर्यायरूप नही किया जा सकता अथवा विवक्षित द्रव्यको उसकी पर्यायसे और विवक्षित पर्यायको उसके द्रव्यसे सर्वथा अलग नही किया जा सकता। इस तरह द्रव्य और पर्याय दोनो एक वस्तु है, जैसे वेद्य और वेदकका ज्ञान, जिसे प्रतिभासका भेद होनेपर भी सर्वथा भेदरूप नही किया जा सकता। यदि ब्रह्माद्वैतवादियोकी मान्यतानुसार पर्यायको अवास्तव और द्रव्यको वास्तव बतलाकर पर्यायका तथा बौद्धोकी मान्यतानुसार द्रव्यको अवास्तव और पर्यायको वास्तव बतलाकर द्रव्यका अभाव माना जाय तो द्रव्य-पर्याय दोनोंमेसे किसीका भी सद्भाव नही बन सकेगा—अर्थक्रिया-लक्षण-वस्तुमे पदार्थकी तब कोई उपपत्ति अथवा व्यवस्था ही नही बन सकेगी, क्योकि पर्यायनिरपेक्ष केवल द्रव्य और द्रव्यनिरपेक्ष केवल पर्याय अर्थक्रियाको निमित्त नही होता, निमित्त माननेपर क्रम-यौगपद्यका विरोध उपस्थित होगा—सर्वथा एकस्वभावरूप द्रव्य या पर्यायके क्रमयौगपद्य घटित नही होता, क्रमयौगपद्यके घटित न होनेपर अर्थक्रिया नही बनती और अर्थ-क्रियाके न बननेपर वस्तुका अस्तित्व न रहकर अभाव ठहरता है। अत द्रव्य और पर्याय दोनोंमेसे किसीका भी लोप करनेपर दूसरेका भी लोप उपस्थित होता है और वस्तुतत्त्वकी कोई व्यवस्था नही बन सकेगी। द्रव्यका लक्षण गुण-पर्यायवान् है, जैसा कि 'गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्' इस तत्त्वार्थसूत्रसे जाना जाता है, जिसमे गुण सहभावी ( युगपत् ) और पर्याय क्रमभावी होते हैं। पर्यायका लक्षण 'तद्भाव परिणाम' सूत्रके अनुसार तद्भाव—उस उस प्रतिविशिष्टरूपसे होना –है, जो कि क्रमाक्रमरूपमे होता है। क्रमश परिणमनको 'पर्याय' और अक्रम ( युगपत् ) परिणमनको 'गुण' कहते हैं। द्रव्य और पर्याय दोनोकी यह लक्षण-भिन्नता दोनोके कथचित् नानापनको सिद्ध करती है। इस तरह द्रव्य और पर्यायमे कथचित् नानापना ही है, स्वलक्षणके भेदसे, कथचित् एकपना ही है, अशक्य-विवेचनके कारण, कथचित् उभयपना ही है, दोनोकी क्रमार्पित-विवक्षासे, कथचित् अवक्तव्यपना है, दोनोंके सहार्पणकी दृष्टिसे। शेप तीन भंगोको भी इसी प्रकारसे घटित कर लेना चाहिये ॥ ७२ ॥

॥ इति देवागमाप्तमीमांसायां चतुर्थ. परिच्छेद ॥

स्य धर्मिव्यपदेशः। स्वधर्म्यपेक्षया च रूपादेश्च धर्मव्यपदेशस्तयोर्योऽ**विनाभावो**ऽव्यभिचारोऽवश्य **सोऽन्योऽन्यापेक्षया सिद्धयति** भासते उत्पद्यते वा। **स्वरूपम**साधारण रूप तयोर्न परत, कुत यस्मात्**स्वत एव** तत्सिध्यति। यथा **कारकज्ञापकाङ्गे** कारकक्रियाया अङ्ग ज्ञापकक्रियाया अङ्ग निबन्धन तयोरिव **तद्वत्** कर्तृकर्मबोध्यबोधकवदित्यर्थ। अथवा अङ्गशब्दो विशेषार्थो द्रष्टव्य, यथा कर्मकर्तृव्यपदेशाविनाभावो बोध्यबोधकव्यपदेशाविनाभावश्च सिध्यत्यन्योन्यापेक्षयैव-मत्रापीत्यर्थ ॥ ७५ ॥

§ 75 **धर्म और धर्मीका अविनाभाव सम्बन्ध ही एक दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होता है न कि स्वरूप**—स्वरूप तो अपने कारणकलापसे धर्म-धर्मीकी विवक्षासे पूर्व ही सिद्धत्वको प्राप्त है, **क्योंकि वह स्वतः सिद्ध है, कारक और ज्ञापकके अंगोकी तरह**—जैसे कारकके दो अग ( अवयव ) कर्ता-कर्म और ज्ञापकके दो अग बोध्य बोधक ( वेद्य-वेदक अथवा प्रमेय-प्रमाण ) ये अपने-अपने स्वरूप-विषयमे दूसरे अगकी ( कर्ता कर्मकी और कर्म कर्ताकी, बोध्य बोधककी, बोधक बोध्यकी ) अपेक्षा नही रखते—अन्यथा अपेक्षा-द्वारा एकके स्वरूपको दूसरेके आश्रित माननेपर दोनोंके ही अभावका प्रसग उपस्थित होता है। परन्तु कर्ता-कर्मका और ज्ञाप्य-ज्ञापकका व्यवहार परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षाके बिना नही बनता—व्यवहारके लिये पारस्परिक अपेक्षा आवश्यक है—स्वरूपके लिये नही। इस तरह धर्मधर्मिभूत सकल पदार्थोंकी कथचित् आपेक्षिकी सिद्धि है अविनाभावरूप व्यवहारकी दृष्टिसे, कथचित् अनापेक्षिकी सिद्धि है—पूर्व प्रसिद्ध स्वरूपकी दृष्टिसे, कथचित् उभयी सिद्धि है—अपेक्षा–अनपेक्षारूप दोनो धर्मोंके क्रमार्पितकी दृष्टिसे, कथचित् अवक्तव्या सिद्धि है— उक्त दोनो ( युगपत्कथन ) की दृष्टिसे। शेष 'आपेक्षिकी' और 'अवक्तव्या' आदि भंगोको भी इसी प्रकार घटित करके यहाँ भी सप्तभंगी-प्रक्रियाकी योजना कर लेनी चाहिये, जो कि नयविशेषकी दृष्टिसे पूर्ववत् अविरुद्ध है ॥ ७५ ॥

॥ इति देवागमाप्तमीमांसायां पंचमः परिच्छेद ॥



# षष्ठः परिच्छेदः

76) **सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः ।**
**सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि ॥ ७६ ॥**

§ 76 **उपेयतत्त्वं व्यवस्थाप्योपायतत्त्व व्यवस्थाप्यते । युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे इत्यादेरेकान्तस्य[1], बहुलं दर्शनात् । प्रत्यक्षतदाभासयोरपि व्यवस्थितिरनुमानात्, अन्यथा सङ्करव्यतिकरोपपत्तेः । कथञ्चित्साक्षात्करण[2]मन्तरेण न क्वचिदनुमानं किं पुनः शास्त्रोपदेशाः[3] । न चैते युक्तिनिरपेक्षाः, परस्परविरुद्धार्थतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात् । न च प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्तरेणोपदेशं ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः ॥ ७६ ॥**

§ 76 उपेयतत्त्व व्यवस्थाप्योपायतत्त्वव्यवस्थापनार्थमाह—यदि **सर्वं हेतुतो** निमित्तात् **सिद्धम्** अवगत तर्हि **प्रत्यक्षादितः** प्रत्यक्षागमादेर्गतिरवगमो **न** स्यात् । दृश्यते चैन्द्रियकस्याशनपानादेरर्थस्यानीन्द्रियस्य मलयकाश्मीरादेरत्र क्रमेण प्रत्यक्षादाप्तोपदेशतश्च गतिरिति । अथ **आगमात्** आप्तोपदेशात् **सर्वं** चेष्यते ततो **विरुद्धार्थानि** यानि **मतानि** तान्यपि सिद्धिमुपगच्छेयुरिति ॥ ७६ ॥

§ 76. **यदि** ( केवल अनुमानवादी बौद्धोंके मतानुसार ) **सब कुछ** ( एकान्तत ) **हेतुसे ही सिद्ध माना जाय**—हेतुके विना किसी भी कार्य-कारणादिरूप तत्त्वकी सिद्धि—निश्चितिको अगीकार न किया जाय—**तो प्रत्यक्षादिसे फिर कोई गति**—सिद्धि, व्यवस्थिति अथवा ज्ञानकी प्राप्ति—**नहीं बन सकेगी** ( और ऐसा होनेपर हेतुमूलक अनुमानज्ञान भी नही बन सकेगा, क्योकि अनुमानके लिये धर्मीका तथा उदाहरणका प्रत्यक्षज्ञान होना आवश्यक है, धर्म आदिके प्रत्यक्षज्ञानके विना कोई अनुमान प्रवर्तित नही होता । अनुमान-ज्ञानके लिये अनुमानान्तरकी कल्पना करनेसे अनवस्था-दोष उपस्थित होता है और कही कोई भी अनुमान नही बन पाता । और तब फिर परार्थानुमानरूप शास्त्रोपदेशका भी कोई प्रयोजन नही रहता—वह व्यर्थ ठहरता है, क्योकि अभ्यस्तविषयमे भी यदि प्रत्यक्षसे सिद्धि नही मानी जायगी तो फिर शब्द तथा लिङ्ग ( हेतु ) का भी ज्ञान नही बन सकेगा और इस तरह स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान दोनो ही नही बन सकेंगे ) **यदि आगमसे ही सर्वतत्त्व-समूहकी सिद्धि मानी जाय तो ये परस्पर विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले** ( युक्ति-निरपेक्ष ) **मत भी सिद्धिको प्राप्त होंगे** क्योकि आगममात्रकी दृष्टिसे दोनोंके आगमोमे कोई विशेष नही है और तत्त्वप्ररूपण एकका दूसरेके विरुद्ध है, दोनोको आगमकी दृष्टिसे सिद्ध अथवा निश्चितरूपसे ठीक माननेपर विरुद्धार्थके भी तत्त्वरूपसे सिद्धिका प्रसग उपस्थित होगा और तब किसी तत्त्वकी भी कोई यथार्थ व्यवस्था नही बन सकेगी और न लोक-व्यवहार ही सुघटित हो सकेगा ॥ ७६ ॥

---

76) 1 D, P –रेकान्ते तस्य । 2 P –कारण– । 3 As –देशात् ।

77) विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ७७ ॥

§ 77 युक्तीतरैकान्तद्वयाभ्युपगमोऽपि मास्मभूत्, विरुद्धयोरेकत्र सर्वथासंभवात् । तदवाच्यत्वेऽपि पूर्ववत् ॥ ७७ ॥

§ 77 उभयैकात्म्यैकान्त निराकर्तुमाह—उभयैकान्तत्व नास्ति विरोधात् । अवाच्यमपि न ॥ ७७ ॥

§ 77 हेतु और आगम दोनो एकान्तोका यदि ऐकात्म्य माना जाय तो वह भी नहीं बन सकेगा, क्योंकि दोनोमे परस्पर विरोध है—सर्वथा विरुद्ध दो सिद्धान्तोका एकत्र अवस्थान उनके सर्वथा असम्भव है जो स्याद्वाद-न्यायसे द्वेष रखते है—और कथचित् रूपसे हेतु तथा आगमकी मान्यताको स्वीकार नही करते । यदि ( हेतु तथा आगम दोनो एकान्तो-द्वारा तत्त्वसिद्धिमे विरोध दोष देखकर ) अवाच्यताका एकान्त माना जाय तो तत्त्वसिद्धि निश्चयसे 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नहीं बन सकेगा—ऐसा कहनेसे ही वह वाच्य हो जानेके कारण स्ववचन-विरोधका प्रसग उपस्थित होता है ॥ ७७ ॥

78) वक्तर्यनाप्ते यद्धेतो साध्य तद्धेतुसाधितम् ।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम् ॥ ७८ ॥

§ 78. यो यत्राविसवादकः स तत्राप्तः । ततः परोऽनाप्त. । तत्त्वप्रतिपादनमविसवादः, तदर्थज्ञानात् । तेनातीन्द्रिये जैमिनिःरन्यो वा श्रुतिमात्रावलम्बी नैवाप्त , तदर्थापरिज्ञानात्, तथागतवत् । न हि तादृशोऽतीन्द्रियार्थज्ञानमस्ति, दोषावरणक्षयातिशयाभावात् । श्रुतेः परमार्थविस्त्वम्, तत. श्रुतेरविसंवादनमित्यन्योऽन्यसंश्रितम् । स्वतः श्रुतेर्न वै प्रामाण्यम्, अचेतनत्वात्, घटवत् । सन्निकर्षादिभिरनैकान्तिकत्वमयुक्तम्, तत्प्रामाण्यानभ्युपगमात् । अथापि कथचित् तत्प्रमाणत्वं स्यात्, अविसवादकत्वात्, श्रुतेरयुक्तमेव, तदभावात् । तेनोपचारमात्रमपि न स्यात्, तदर्थबुद्धिप्रामाण्यासिद्धेः । आप्तवचन तु प्रमाणव्यपदेशभाक्, तत्कारणकार्यत्वात् । तदतीन्द्रियार्थदर्शनोत्पत्ते[1]स्तदर्थज्ञानोत्पादनाच्च । नैतत् श्रुतेः संभवति, सर्वथाप्तानुक्तेः, पिटकत्रयवत् । वक्तृदोषात्तादृशोऽप्रामाण्यं तदभावाच्छ्रुते. प्रामाण्यमिति चेत्, कुतोऽयं विभाग. सिद्धयेत् । अभ्युपगमानभ्युपगमाभ्या क्वचित्पौरुषेयत्वमन्यद्वा व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम् । एतेन कर्तृस्मरणाभावादय' प्रत्युक्ताः । वेदेतरयोरविशेषात् । इतरत्र बुद्धो वक्तेति चेत्, तत्र कमलोद्भवादिरिति कथं न समानम् । सुदूरमपि गत्वा तदङ्गीकरणेतरमात्रे व्यवतिष्ठेत । वेदाध्ययनवदितरस्यापि सर्वदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रक्लृप्तौ न वक्त्रं वक्रीभवति । तदतिशयान्तराणा च शक्यक्रियत्वादितरत्रापि, परोक्षाया मन्त्रशक्तेरपि दर्शनात् । सिद्धेऽपि तदनादित्वे पौरुषेयत्वाभावे वा कथमविसवादकत्वं प्रत्येतव्यम्, म्लेच्छव्यवहारादेस्तादृशो बहुलमुपलम्भात् । कारणदोषनिवृत्तेः कार्यदोषाभावकल्पनायां पौरुषेयस्यैव वचनस्य दोषनिवृत्तिः कर्तुर्वीतदोषस्यापि संभवात्, तदध्येतृव्याख्यातृश्रोतृणा रागादिमत्त्वान्नेतरस्य, इति निश्शङ्कं नश्चेतः । वक्तृगुणापेक्षं वचनस्याविसंवादकत्वं चक्षुर्ज्ञानवत्, विसंवादकस्य तद्दोषानुविधानात् ।

78) 1. P -नोपपत्ते- ।

ततोऽनाप्तवचनान्नार्थज्ञानमन्धरूपदर्शनवत् । तत्र यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यम्, अग्निर्हिमस्य भेषजम्, द्वादशमासाः संवत्सरः, इत्यादिवत् । नाग्निहोत्रादिवाक्यसाधनम् । सिद्धे पुनराप्तवचनत्वे यथा हेतुवादस्तथा आज्ञावादोऽपि प्रमाणम् । ननु चापौरुषेयत्ववदाप्तशासनमप्यशक्यव्यवस्थम् । उक्तमत्र सर्वथैकान्तवादानां स्याद्वादप्रतिहतत्वादिति । तत्राप्तिः साक्षात्करणादिगुणः सम्प्रदायाविच्छेदो वा, अन्यथान्धपरम्परया प्रतिपत्तेः ॥ ७८ ॥

इत्याप्तमीमांसाभाष्ये षष्ठः परिच्छेदः ।

§ 78 पुनरप्यनेकान्तनिरूपणार्थमाह—यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः । ततः परोऽनाप्तः अनाप्ते वक्तरि तत्त्वस्योपदेष्टरि हेतोरनुमानाद् यत्साध्यं शक्याभिप्रेत प्रसिद्ध तद्धेतुसाधितं लिङ्गात्प्रतिपादितम् । आप्ते वक्तरि वाक्याद् वचनाद्यत्साध्य तद् आगमसाधितं प्रवचनप्रतिपादित प्रमाणभूत प्रवचन हि तत् । अनाप्ते पुनर्विसंवादक तस्माद्धेतुमन्तरेण न तत्सेत्स्यति ॥ ७८ ॥

§ 78 **वक्ताके आप्त न होनेपर जो (तत्त्व) हेतुसे साध्य होता है वह हेतु-साधित (युक्ति-सिद्ध) कहा जाता है और वक्ताके आप्त होनेपर जो तत्त्व उस आप्तके वाक्यसे साध्य होता है उसे आगम-साधित (शास्त्रसिद्ध) समझना चाहिये ।** यहाँ आप्त और अनाप्तके स्वरूपको मुख्यतासे ध्यानमे लेनेकी जरूरत है । आप्तका स्वरूप इस ग्रन्थके प्रारम्भकी कुछ कारिकाओमे विस्तारके साथ बतलाया जा चुका है, जिसका फलित-रूप इतना ही है कि जो वीतराग तथा सर्वज्ञ होनेसे युक्ति-शास्त्रके अविरोधरूप यथार्थ वस्तुतत्त्वका प्रतिपादक एव अविसंवादक है वह आप्त है और जो आप्तके इस स्वरूपसे भिन्न अथवा विपरीतरूपको लिये हुए विसंवादक है वह आप्त नही—अनाप्त है । तत्त्वके प्रतिपादनका नाम अविसंवाद है, जो सम्यग्ज्ञानसे बनता है । जो तत्त्वका—यथार्थ वस्तुतत्त्वका—प्रतिपादन करता है वह अविसंवादक है और इसलिये उसका ज्ञान सम्यक् ज्ञान होना चाहिए, जो कि अबाधित-व्यवसायरूप होता है और जिसके प्रत्यक्ष (साक्षात्) तथा परोक्ष (असाक्षात्) ऐसे दो भेद है । संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनो अज्ञानोका नाश इस सम्यग्ज्ञानका फल है । ऐसी स्थितिमे उक्तलक्षण-आप्तका वचन सिद्ध होनेपर आगमसिद्ध उसीप्रकारसे प्रमाण होता है जिस प्रकार कि हेतुसिद्ध ॥ ७८ ॥

इति देवागमाप्तमीमांसायां षष्ठः परिच्छेदः ।

●

# सप्तमः परिच्छेदः

79) अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाखिलम् ।
प्रमाणाभासमेवातस्तत्प्रमाणादृते कथम् ॥ ७९ ॥

§ 79 तज्जन्मकार्यप्रभवादि वेद्यवेदकलक्षणमनैकान्तिकमादर्श्य संवित्तिरेव खण्डशः प्रतिभासमाना व्यवहाराय कल्प्यते, इत्यभिनिवेशेऽपि प्रमाण मृग्यम् । क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासन्तानत्वमिति स्वतस्तावन्न सिद्ध्यति, भ्रान्तेः । तथात्मसंवेदनेऽपि व्यवसायवैकल्ये प्रमाणान्तरापेक्षयानुपलम्भकल्पत्वात् । न हि तथा बुद्धय संविदन्ते[1] यथा व्यावर्ण्यन्ते । नापि परतः, संबन्धप्रतिपत्तेरयोगात् । स्वाशमात्रावलम्बिना मिथ्याविकल्पेन प्रकृततत्त्वव्यवस्थापने बहिरर्थेष्वप्यविरोधात् । कथंचिदत्र वेद्यलक्षण यदि व्यवतिष्ठेत तदा प्रकृत कृत स्यात्, नान्यथा । न चानुक्तदोष लक्षणमस्ति । तत्संभवे नोन्यत्र तदसंभवो[2]ऽभिधेयः । तत्स्वपक्षपरपक्षयो सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं किंचित्कथंचित्कुतश्चिदवितथज्ञानमादरणीयम्, अन्यथाऽशेषविभ्रमासिद्धेः । एतेन यद्ग्राह्यग्राहकाकार तत्सर्वं भ्रान्तम्, यथा स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञान तथा च प्रत्यक्षादिकमिति प्रतिविहित वेदितव्यम् ॥ ७९ ॥

§ 79 अन्तस्तत्त्वमेव तत्त्वमिति येषा मत तन्निराकरणायाह—अन्तरभ्यन्तरमङ्ग कारण यस्य स चासावर्थश्च तस्य भाव , **अन्तरङ्गार्थता** सैव **एकान्तो** मिथ्यात्व तस्मिन् । **बुद्धिश्च** बहिरर्थपरिच्छेदिका । **वाक्यं** चानुमाननिमित्त परार्थम् । द्वन्द्वैकवद्भाव । तत् **अखिलं** निरवशेषं **मृषा** मिथ्या । प्रमाणमिवावभासत इति **प्रमाणाभासमेव** । यद्येव कथ मुख्यप्रमाणमन्तरेण तत्प्रमाणाभास यस्मात्सति प्रमाणे प्रमाणाभासो नान्यथा ॥ ७९ ॥

79 **यदि** ( विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोके मतानुसार ) **अन्तरंगार्थताका एकान्त माना जाय**—अन्तरग जो स्वसविदित ज्ञान उसीके वस्तुता स्वीकार की जाय और बहिरग जो प्रतिभासके अयोग्य जड है उसके वस्तुता न मानी जाय—**तो बुद्धिरूप अनुमान और वाक्यरूप आगम सब मिथ्या ठहरते हैं । जब मिथ्या ठहरते हैं तब वे प्रमाणाभास ही हुए**;—क्योकि प्रमाण सत्यसे और प्रमाणाभास मिथ्या ( मृषा )से व्याप्त होता है । **और प्रमाणाभासका व्यवहार बिना प्रमाणका अस्तित्व अंगीकार किये कैसे बन सकता है** ?—नही बन सकता । अत अन्तरगार्थताके एकान्तकी मान्यता दूषित है । उसे अनुमानादि किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नही किया जा सकता, और जब सिद्ध नही किया जा सकता तो दूसरोको उसकी प्रतीति भी नही कराई जा सकती । ( जो ग्राह्य-ग्राहकाकाररूप है वह सब भ्रान्त है, ऐसी सवेदनाद्वैतकी मान्यतासे संवेदनाद्वैत भी भ्रान्त ठहरता है, क्योकि स्वरूपका ज्ञान भी वेद्य-वेदक-लक्षणाका अभाव होनेपर घटित नही होता । सबके भ्रान्त होनेपर साध्य-साधनका ज्ञान भी सम्भव नही हो सकता । उसके सत्यरूपमे सम्भव होनेपर सर्वविभ्रमकी सिद्धि नही बनती । ) ॥ ७९ ॥

---

79) 1 As संविद्रते ।  2. D, P तदभावो ।

80) **साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता ।**
**न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥ ८० ॥**

§ 80 **सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोर्द्विचन्द्रदर्शनवदित्यत्रार्थसंविदोः सहदर्शनमुपेत्यैकत्वैकान्तं साधयन् कथमवधेयाभिलापः, स्वाभिलापाभावं वा स्ववाचा प्रदर्शयन् कथं स्वस्थः । पृथगनुपलम्भाद्भेदाभावमात्रं साधयेत् । तच्चासिद्धम्, संबन्धासिद्धेरभावयोः खरशृङ्गवत् । एतेन**[1] **सहानुपलम्भादभेदसाधनं प्रत्युक्तम्, भावाभावयोः संबन्धासिद्धेः । तादात्म्यतदुत्पत्त्योरर्थस्वभावनियमात् । सिद्धेऽपि प्रतिषेधैकान्ते विज्ञप्तिमात्रं न सिद्ध्येत्, तदसाधनात् तत्सिद्धौ तदाश्रयं दूषणमनुषज्येत । तदेकोपलम्भनियमोऽप्यसिद्धः, साध्यसाधनयोरविशेषात् । तथैकज्ञानग्राह्यत्वं द्रव्यपर्यायपरमाणुभिरनैकान्तिकम् । अनन्यवेद्यत्वमसिद्धम् । एकक्षणवर्तिसंवित्तीनां साकल्येन सहोपलम्भनियमाद्व्यभिचारी हेतुः, तथोत्पत्तेरेव संवेदनत्वात् । दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः, तथोपलम्भाभेदयोरर्थे प्रतिनियमाद् भ्रान्तौ तदसंभवात् । ननु चासहानुपलम्भमात्रादभेदमात्रम्, कथंचिदर्थस्वभावानवबोधप्रसङ्गात् । सर्वविज्ञानस्वलक्षणक्षणक्षयविविक्तसन्ततिविभ्रमस्वभावानुमितेः साकल्येनैकत्वप्रसङ्गात्, एकार्थसङ्गतदृष्टयः परचित्तविदो वा नावश्यं तद्बुद्धिं तदर्थं वा संविदन्तीति हेतोरसिद्धिः, सहोपलम्भनियमश्च स्यात् भेदश्च स्यात् । किं विप्रतिषिध्येत । स्वहेतुप्रतिनियमसंभवात् । तस्मादयं मिथ्यादृष्टिः परप्रत्यायनाय शास्त्रं विदधानः परमार्थतः संविदानो वा वचनं तत्त्वज्ञानं च प्रतिरुणद्धीति न किंचिदेतत्, असाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनाच्च निग्रहार्हत्वात् ॥ ८० ॥**

§ 80 अथ मतं सर्वं बाह्याभ्यन्तरं ज्ञानमेवैतस्य मतस्य निराकरणार्थमाह—साध्यत इति साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं पक्षधर्मं । साध्यतेऽनेनेति **साधनं** प्रकृतेनाविनाभावि तयोराकारो **विज्ञप्तिर्विज्ञानं** तस्या **यदि विज्ञप्तिमात्रता** ज्ञानमात्रत्वम् । **न साध्यं न च हेतुः** चकारान्नापि दृष्टान्तः । कुतः **प्रतिज्ञादोषाद्धेतुदोषाच्च** । निरंशत्वमभ्युपगम्य स भेदं साधयेत् । अभ्युपगमहानिः प्रतिज्ञाहेतुदोषः, अतः प्रतिज्ञादोषे हेतुदोषेऽकिंचित्कराख्यः । अथवा प्रतिज्ञैव हेतुः स दोषस्तस्मात् । यस्मान्न तदेव साध्यं साधनं निरंशत्वात्तस्य ॥ ८० ॥

80 **यदि साध्य और साधन ( हेतु ) की विज्ञप्ति ( ज्ञान ) के विज्ञप्तिमात्रता मानी जाय**—ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ नही ऐसा कहा जाय—**तो साध्य, हेतु और द्वितीय चकारसे दृष्टान्त ये तीनों नही बनते, क्योंकि ऐसा कहनेमे प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष उपस्थित होता है**—प्रतिज्ञासे स्ववचन-विरोध आता है और हेतुप्रयोग असिद्धादि दोषोंसे दूषित ठहरता है। साध्य-युक्त पक्षके वचनको 'प्रतिज्ञा' और साधनके वचनको 'हेतु' कहते हैं। संवेदनाद्वैतवादी ( बौद्ध ) अपने संवेदना-तत्त्वको सिद्ध करनेके लिये कहते है कि नीला पदार्थ और नीलेका ज्ञान ये अभेद रूप हैं, क्योंकि इनकी एक साथ उपलब्धिका नियम है ( सहोपलम्भ-नियमात् )। जैसे नेत्रविकारीके दो चन्द्रमाका दर्शन होते हुए भी चन्द्रमा वास्तवमे एक ही है वैसे ही नीला पदार्थ और नीलज्ञान दो न होकर ज्ञानाद्वैतरूप एक ही वस्तु है। इस कथनमे प्रतिज्ञा-दोष जो घटित होता है वह स्ववचन-विरोध है, क्योंकि अपने द्वारा कहे हुए नीला-पदार्थरूप धर्म-धर्मीके भेदका और हेतु तथा दृष्टान्त दोनोंके भेदका अद्वैतके साथ विरोध है। सर्वथा अद्वैत-एकान्तकी

---

80) 1 As एतेनासहा–।

मान्यतामे इनका कहना नही बनता और इसलिये साध्य-साधनादिके भेदरूप ज्ञानके अभेदरूप विज्ञानाद्वैतताका कथन करनेवालेके स्ववचन-विरोधरूप प्रतिज्ञा-दोष सुघटित होता है। हेतु दोष यह घटित होता है कि उक्त हेतु नील और नील-ज्ञानकी पृथक् उपलब्धिके अभावसे नील और नीलज्ञान-भेदके अभावको सिद्ध करता है, जो कि असिद्ध है, क्योकि दोनो अभावोमे परस्पर सम्बन्ध सिद्ध नही है—सम्बन्धका अभाव उसी प्रकार है जिस प्रकार कि गधे और सीगमे सम्बन्धका अभाव है। जो हेतु साध्यके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध न रखता हो वह साध्यको सिद्ध करनेमे समर्थ नही होता और इसलिये असिद्धहेतु कहलाता है। यदि यह कहा जाय कि 'जिस प्रकार अग्निके अभावसे धूमका अभाव और व्यापक (वृक्ष) के अभावसे व्याप्य (शीशम)का अभाव सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार नील और नीलज्ञानकी पृथक् उपलब्धिके अभावसे दोनोंके भेदका अभाव सिद्ध किया जाता है, इसलिये हमारा हेतु असिद्ध नही है', तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि धूम और अग्निका कार्य-कारणभाव-सम्बन्ध सिद्ध होनेपर ही कारणके अभावमे कार्यका अभाव सिद्ध होता है तथा शीशम और वृक्षके व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध सिद्ध होनेपर ही व्यापकके अभावमे व्याप्यका अभाव सिद्ध होता है, अन्यथा नही—अर्थात् कार्य-कारणका और व्याप्य-व्यापकका यदि पहलेसे अस्तित्व सिद्ध नही है तो कारणके अभावमे कार्यका और व्यापकके अभावमे व्याप्यका अभाव सिद्ध नही होता। इस प्रकार भेद और पृथक् उपलब्धिका सम्बन्ध चूंकि विज्ञानाद्वैतवादियोके विरोधदोपके कारण सिद्ध नही बनता, जिससे पृथक् उपलब्धिका अभाव (सहोपलम्भ-नियमरूप) हेतु भेदाऽभावको सिद्ध करे इसलिये उनका उक्त पृथक् उपलब्धिका अभावरूप हेतु निश्चित नही—असिद्ध है ॥८०॥

81) **बहिरङ्गार्थतैकान्ते प्रमाणाभासनिह्नवात् ।**
**सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ॥ ८१ ॥**

§ 81 **यत्किञ्चिच्चेतस्तत्सर्वं साक्षात्परम्परया वा बहिर्थप्रतिबद्धम् । यथाग्निप्रत्यक्षेतरसंवेदनम्, स्वप्नदर्शनमपि चेतस्तथाविषयाकारनिर्भासात् । साध्यदृष्टान्तौ पूर्ववदिति । अत्रापि लोकसमयप्रतिबद्धानां परस्परविरुद्धशब्दबुद्धीना स्वार्थसबन्ध. परमार्थतः प्रसज्येत ॥८१॥**

§ 81 अथान्तरङ्गार्थतैकान्ते दोषदर्शनाद् बहिरङ्गार्थोऽभ्युपगम्यते तत्रापि दोप दर्शयति—**बहिरङ्गार्थतैकान्तो** बाह्यार्थैकान्तस्तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने **विरुद्धार्थाभिधायिनां** प्रमाणान्तरबाधितार्थप्रकाशकाना **सर्वेषां** निरवशेषाणा **कार्यस्य सिद्धिर्निष्पत्ति** व्यवहारसिद्धिर्भवेदित्यर्थ । कस्मात्**प्रमाणाभासनिह्नवात्** प्रमाणस्याभासो मिथ्यात्व तस्य निह्नवो निराकरण तस्मात् । एतदपि कुत । अन्तस्तत्त्वे सति बहिरर्थस्य सिद्धिरसिद्धश्च नान्यथा ॥ ८१ ॥

§ 81 **यदि बहिरंगार्थताका एकान्त माना जाय**—ज्ञानको कोई परमार्थ वस्तु न मानकर बाह्य पदार्थको ही वस्तु माना जाय—**तो इससे प्रमाणाभासका**—सशयादिरूप मिथ्या ज्ञानका—**लोप होता है, और प्रमाणाभासके लोपसे सभी विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवालोके कार्य-सिद्धि ठहरेगी**—सवेदनाऽद्वैतवादी, ब्रह्माऽद्वैतवादी आदि किसी भी एकान्तवादी अथवा प्रत्यक्षादिके सर्वथा विरुद्ध कथन करनेवालोको तब मिथ्यादृष्टि या असत्यवादी नही कहा जा सकेगा, यह दोष आएगा ॥ ८१ ॥

82) **विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।**
**अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ८२ ॥**

§ 82 **अन्तर्बहिर्ज्ञेयैकान्तयोः सहाभ्युपगमो विरुद्धः तदवाच्यतायां[1]मुक्तिविरोधः पूर्ववत् ॥ ८२ ॥**

§ 82 उभयैकान्तप्रतिक्षेपायाह—पूर्ववत् ॥ ८२ ॥

§ 82. **अन्तरंग और बहिरंग ज्ञेयरूप दोनों एकान्तोंका ऐकात्म्य** (सहाऽभ्युपगम) **स्याद्वाद न्यायके विद्वेषियोंके विरुद्ध है और इसलिये उनके उभय एकान्तका सिद्धान्त नहीं बनता।** अन्तरंगार्थ और बहिरंगार्थ दोनों एकान्तोंकी अवाच्यताका एकान्त माननेपर 'अवाच्य है' यह उक्ति भी नहीं बनती—अवाच्यतैकान्तके विरुद्ध पड़ती है ॥ ८२ ॥

83) **भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः ।**
**बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते ॥ ८३ ॥**

§ 83 **सर्वसंवित्तेः स्वसंवेदनस्य कथंचित्प्रमाणत्वोपपत्तेः, तदपेक्षायां सर्वं प्रत्यक्षम्, न कश्चित्प्रमाणाभासः । तथानभ्युपगमेऽन्यत[1]एव बुद्धेरनुमानं स्यात् । तत्रार्थज्ञानमलिङ्गम्, तदविशेषेणासिद्धेः । विशेषे वा तदन्यतरेणार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेन । यच्चेदमर्थज्ञानं तच्चेदर्थस्वलक्षणं स्याद्व्यभिचारादहेतुः । एतेनेन्द्रियादि[2] प्रत्युक्तम् । प्रत्यक्षेतरबुद्धयवभासस्य स्वसंवेदनात्प्रत्यक्षं विरुद्धम् । सुखदुःखादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्वे हर्षविषादादयोऽपि न स्युरात्मान्तरवत् । एतेन प्रतिक्षणं निरंशं संवेदनं प्रत्यक्षं प्रत्युक्तम्, यथाप्रतिज्ञमनुभवाभावात् । यथानुभवमनभ्युपगमात् । सर्वत्र सर्वदा भ्रान्तेतरप्रत्यक्षत्वाविशेषात् । कथंचिद्भ्रान्तावेकान्तहानेर्विकल्पसंवेदनेऽपि विकल्पान्तिवृत्तेः । तस्मात्स्वसंवेदनापेक्षया न किंचिद् ज्ञानं सर्वथा प्रमाणम् । बहिरर्थापेक्षया तु प्रमाणतदाभासव्यवस्था, तत्संवादकविसंवादकत्वात् क्वचित्स्वरूपे केशमशकादिज्ञानवत् ॥ ८३ ॥**

§ 83 भाव एव तत्त्वं नाभाव इति यस्य मतं तन्निराकरणायाह—**भावो** ज्ञानं तदेव **प्रमेयं** तस्य तस्मिन्वा **अपेक्षा** अभ्युपगमस्तस्यामभ्युपगम्यमानायाम् । **प्रमाणाभासस्य निह्नवो** लोपः । कुतः, ज्ञानस्य तदेतत्प्रामाण्यमप्रामाण्यं च बाह्यार्थापेक्षायां भवति नान्यथा, इति ॥ ८३ ॥

§ 83 ( हे अर्हन् भगवन् ) **आपके मतमें भावप्रमेयकी अपेक्षा**—स्वसंवेदन-प्रमाणके द्वारा सब कुछ प्रत्यक्ष होनेपर—**और बाह्यप्रमेयकी अपेक्षा**—इन्द्रियज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष होनेपर—**प्रमाण तथा प्रमाणाभास दोनों बनते हैं**—जहाँ विसंवाद होता है अथवा बाधा आती है वहाँ प्रमाणाभास बनता है और जहाँ विसंवाद न होकर निर्बाधता होती है वहाँ प्रमाण बनता है। इस तरह प्रमाण अप्रमाणकी व्यवस्थारूपसे कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि एक ही जीवके आवरणके अभावविशेषके कारण सत्य-असत्य-प्रतिभासरूप संवेदन-परिणामकी सिद्धि उसी प्रकार बनती है जिस प्रकार कि किट्ट-कालिमाके अभावविशेषके कारण सुवर्णका उत्कृष्ट-जघन्य

82) 1 P -याँ युक्ति- ।
83) 1. D, P -न्यतम एव । 2. As -दिप्रत्यक्ष प्रत्यु- ।

परिणाम बनता है । यदि कोई कहे कि जीव कोई वस्तु ही नहीं है तो यह कहना नही बन सकता, क्योकि जीवके ग्राहक ( अस्तित्व-सूचक ) प्रमाणका सद्भाव है, उसीको अगली कारिकामे बतलाया जाता है ॥ ८३ ॥

84) **जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत् ।**
**मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत् ॥ ८४ ॥**

§ 84 स्वरूपव्यतिरिक्तेन शरीरेन्द्रियादिकलापेन जीवशब्दोऽर्थवान्, अतो न कुत प्रकृतः[1] स्यादिति विकलवोल्लापमात्रं लोकरूढे समाश्रयणात् । यत्रायं व्यवहारः जीवो गतस्तिष्ठतीति वा नात्र सञ्ज्ञा अभिप्रेतमात्र सूचयति, ततोऽर्थक्रियाया नियमायोगात्, करणप्रतिपत्तीना तदभावेऽनादरणीयत्वात्, साधनतदाभासयोरन्यथा विशेषासंभवात्, परम्परयापि परमार्थैकतानत्वं वाचः प्रतिपत्तव्यम् । क्वचिद् व्यभिचारदर्शनादनाश्वासे चक्षुरादिबुद्धेरपि कथमाश्वासः[2] । तदाभासोपलब्धे., कुतो धूमादेरग्न्यादिप्रतिपत्तिः, कार्यकारणभावस्य व्यभिचारदर्शनात् । काष्ठादिजन्मनोऽग्नेरिव मणिप्रभृतेरपि भावात् । तद्विशेषपरीक्षायामितरत्रापि विशेषाभावात् । अभिसन्धिवैचित्र्यादभिधानव्यभिचारोपलम्भे तदितर[3]कारणसामग्रीशक्तिवैचित्र्यं पश्यता कथमाश्वासः । तस्मादयमक्षलिङ्गसञ्ज्ञादोषाविशेषेऽपि क्वचित् परितुष्यन्नन्यतमप्रद्वेषेण ईश्वरायते, परीक्षाक्लेशलेशासहनात् । भावोपादानसंभवे हि समाख्यानामित[4]रोपादानप्रक्लृप्ति । भावश्चात्र हर्षविषादाद्यनेकविकारविवर्त. प्रत्यात्मवेदनीय. प्रतिशरीर [5]भेदाभेदात्मकोऽप्रत्याख्यानार्हः प्रतिक्षिपन्तमात्मानं प्रतिबोधयतीति कृतं प्रयासेन । न हि मायादिसमाख्या' स्वार्थरहिता', [6]विशेषार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात् प्रमाणसमाख्यावत् ॥ ८४ ॥

§ 84 एतच्च मत सर्वं वचो विवक्षामात्रसूचकमित्यस्य निराकरणायाह—**जीवस्य शब्द** सञ्ज्ञा देशामर्शकत्वाद्घटादिसञ्ज्ञा परिगृह्यन्ते । सह बाह्येनार्थेन वर्तत इति **सबाह्यार्थ** । कुत **संज्ञात्वात्** सनामत्वात् **हेतुशब्दवत्** । शब्दस्यार्थस्त्रिधा बहिरर्थो घटाद्याकार स्वार्थो वा । तथा चोक्तम् —"स्वार्थमभिधाय काप्यन्यत्र वर्तते ।" [ ] इति । यद्येव भ्रान्तिसञ्ज्ञा यास्ता कथम् । ता अपि स्वैरात्मस्वरूपैरर्थै**र्मायाद्यैर्**माया स्वप्नेन्द्रजालादि । **भ्रान्तिसञ्ज्ञाः** स्वार्थवत्य. **प्रमाया** उ **क्त्यै**र्यथा, प्रमाणशब्द प्रमाणाभासशब्दश्च यथा स्वार्थप्रतिपादक । अथवा सम्यक् ज्ञायतेऽनयेति सञ्ज्ञा तस्या भाव सञ्ज्ञात्वम् । तस्माद्देशामर्शकत्वादन्येषामपि ग्रहण प्रमाणतन्निबन्धनविचाराभ्यासदानफलादीनाम् । एतेषामन्यथानुपपत्तेर्जीवादिशब्द सबाह्यार्थ । अन्यथा एतेषामभाव स्यात् ॥ ८४ ॥

§ 84 **जीव-शब्द बाह्यार्थ-सहित है**—बाह्यमे जीव शब्दका वाच्य अर्थस्वरूप-लक्षण-विशिष्ट जीव वस्तु है—**क्योकि यह शब्द संज्ञा (नाम) है, जो शब्द सञ्ज्ञा या नामरूप होता है वह बाह्य अर्थके बिना नहीं होता, जैसे हेतु-शब्द**—अग्निमान् आदिके अनुमानमे प्रयुक्त हुआ धूम (धुआँ) आदि सञ्ज्ञात्मक हेतु शब्द धुआँ आदि नामधारी बाह्य-पदार्थके अस्तित्वके बिना नही होता, सब ही हेतुवादी हेतु-शब्दको बाह्यार्थ-सहित मानते है, अन्यथा हेतु और हेत्वाभासमे कोई भेद

84) 1 P प्रत्यक्षत । 2. As, D, P–रपि कथमाश्वास , पाठो नास्ति । 3. As –तराध्यक्षानुमानका– । 4. P –मितरेतरो– । 5 As –रं भेदात्म– । 6 As विशिष्टप्रति– ।

नही बन सकता। ( यदि यहाँ कोई कहे कि माया ( इन्द्रजाल ) आदि भ्रान्तिकी सज्ञाएँ हैं, जिनका कोई वाह्यार्थ नही है अत सज्ञापना हेतु अनेकान्तिक है—व्यभिचारी है—उससे जीव-शब्दका बाह्यार्थ होना अनिवार्य (लाज़िमी) नही ठहरेगा तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि) **मायादि जो भ्रान्तिकी संज्ञाएँ हैं वे भी प्रमाणोक्तिके समान अपने अर्थको साथ मे लिये हुए हैं। जिस प्रकार** प्रमाण-वचनका ज्ञान-लक्षण बाह्यार्थ है उसी प्रकार मायादि भ्राति-सज्ञाओका भी बाह्यार्थ भ्रान्ति-विषयक विशिष्ट-प्रतिपत्ति है—भ्रान्ति-सज्ञाओका भ्रान्तिरूप अर्थका अभाव माननेपर भ्रान्त-सज्ञासे भ्रान्ति-प्रतिपत्तिका योग नही बन सकेगा और उस योगके न बननेसे प्रमाणत्वप्रतिपत्तिका प्रसग उपस्थित होगा। अर्थात् भ्रान्तिको भी सम्यक् ज्ञान मानना पडेगा जो इष्ट तथा अवाधित नही। इससे खरविषाण ( गधेके सीग ) खपुष्प ( गगनकुसुम ) आदि शब्दो-का भी स्वार्थरहित होना वाधित हो जाता है। उनका स्वार्थ अभाव है, उसको न मानने पर खर-विषाणादिके भावका प्रसग उपस्थित होगा। अत. इन खरविषाणादिके साथ भी उक्त सज्ञात्वहेतुका व्यभिचार नही है ॥ ८४ ॥

85) **बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः ।**
**तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः ॥ ८५ ॥**

§ 85 **हेतुव्यभिचाराशङ्कां प्रत्यस्तमयति, तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तवस्तुसंबन्धदर्शनात्तद्-बुद्धीनां च तिसृणा तन्निर्भासनात्तद्विषयत्वोपपत्तेः ॥ ८५ ॥**

§ 85 सिद्धसाध्यतापरिहारद्वारेणामुमेवार्थं प्रकटयन्नाह—बुद्धिश्च शब्दश्चार्थश्च बुद्धि-शब्दार्थास्तेषा सज्ञा **बुद्धिशब्दार्थसंज्ञा. तिस्र** त्रिसख्या। बुद्धिरादिर्येषा ते **बुद्ध्यादयस्तेषा वाचिका** प्रतिपादिका **तुल्याः** समा । केन बुद्ध्याद्यर्थप्रतिपादकत्वेन। **बुद्ध्यादीना बोधाश्च** ज्ञानानि च वुद्ध्याद्यर्थस्य **प्रतिबिम्बका** प्रतिनिधयस्त्रयस्तेऽपि तुल्या अर्थप्रतिपादकत्वेन। किमुक्त भवति—"गौरिति जानीत" इतीय वुद्धेर्वाचिका सज्ञा। तस्याश्च श्रोतु. पुरुषस्य स्वार्थे वोधको बोधो भवति। गौरित्याहेतीय शब्दस्य स्वस्यैव रूपस्य वाचिका सज्ञा। तस्याश्च श्रोतु. पुरुषस्य स्वार्थे शब्दस्य स्वस्मिन्नेव रूपे वोधको वोधो भवति। गामानय दोहार्थमितीयं सज्ञा वाह्यार्थस्य वाचिका भवति। तस्याश्च श्रोतु स्वार्थे सास्नादिमति पिण्डे वोधको बोधो भवति। ततो वुद्ध्याद्यर्थवाचकत्वेन सज्ञास्तिस्र समा एव वुद्ध्यादीना शब्दार्थाना त्रयोऽपि वोधका वेदका वोधा बुद्ध्यादिशब्दार्थप्रतिभासकाश्च समा एव तत्प्रतिभासकत्वेन ॥ ८५ ॥

§ 85 ( यदि कोई मीमासक-मतानुसारी यह कहे कि अर्थ, शब्द और ज्ञान ये तीनो बराबरकी सज्ञाएँ हैं, जीव-अर्थ, जीव-शब्द और जीव-बुद्धि तीनोकी 'जीव' सज्ञा होनेपर अर्थ-पदार्थक जीवशब्द ही सबाह्यार्थ प्रसिद्ध है—वुद्धि-पदार्थक तथा शब्द-पदार्थक नही, ऐसी स्थितिमे सज्ञा-पना हेतुके विपक्षमे भी व्यापनेसे व्यभिचार दोष आता है, क्योकि सज्ञात्व-हेतुको वुद्धि, शब्द और अर्थादिक विशेषणसे रहित सामान्यरूपसे हेतु कहा गया है, तो ऐसा कहनेवाले भी यथा-र्थवादी नही है, क्योकि ) **बुद्धि, शब्द और अर्थ तीनोकी संज्ञाएँ और बुद्धि-आदि सज्ञा-जनित बुद्धि आदि-विषयक तीनो बोध भी सर्वत्र स्वव्यतिरिक्त बुद्ध्यादि विषयके प्रतिबिम्बक होते हैं**—उच्चारित-शब्दसे जो (अव्यभिचरित) निश्चितबोध होता है वही उसका स्वार्थ है, अन्यथा शब्दके व्यवहारका विलोप ठहरता है। जैसे अर्थपदार्थक जीव-शब्दमे 'जीवको नही मारना

चाहिये' इस वाक्यमें जीव अर्थका प्रतिबिम्बक बोध उत्पन्न होता है वैसे ही बुद्धिपदार्थक जीव-शब्दसे 'जीव बोधको प्राप्त होता है' इत्यादि बुद्धिस्वरूप जीव-शब्दसे बुद्धि-अर्थका प्रतिबिम्बक बोध होता है और 'जीव' कहा जाता है इस शब्दपदार्थक जीव-शब्दसे शब्दका प्रतिबिम्बक बोध है। इस तरह शब्दसे चूंकि तीन प्रकारका बोध उत्पन्न होता है इसलिये बुद्धि आदि तीनो सज्ञाओंमेंसे प्रत्येकके तीन अर्थ जाने जाते है, जिससे सज्ञात्वहेतुमे व्यभिचारदोषके लिये कोई स्थान नही रहता ॥ ८५ ॥

**86) वक्तृश्रोतृप्रमातॄणां वाक्यबोधप्रमा[1] पृथक् ।**
**भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ वाह्यार्थौ तादृशेतरौ ॥ ८६ ॥**

§ 86 **वहिरर्थाभावाद्वक्त्रादित्रयं न बुद्धे· पृथक्कृतं[2] ततोऽसिद्धतादिदोषः साधनस्येति, तन्न, रूपादेर्ग्राहकस्य तद्व्यतिरिक्तविज्ञानसन्तानकलापस्य[3] च स्वांशमात्रावलम्बिनः प्रमाणस्य विभ्रमकल्पनायां साकल्येनासिद्धेरन्तर्ज्ञेयाभ्युपगमविरोधात् । तौ हि ग्राहकापेक्षया वाह्यार्थौ भ्रान्तावेव कुतस्तत्र हेयोपादेयविवेकः ॥ ८६ ॥**

§ 86 पुनरप्याशङ्क्य तमेव वाह्यार्थं प्रतिपादयन्नाह—वक्ता च श्रोता च प्रमाता च वक्तृश्रोतृप्रमातारस्तेषा **वक्तृश्रोतृप्रमातॄणा** वाचकश्रावकज्ञापकानाम् । यथासख्य वाक्य च बोधश्च प्रमा च **वाक्यबोधप्रमा** शब्दशाब्दप्रत्यक्षानुमानानि । पृथक् व्यवस्थितलक्षणानि । **भ्रान्तावेव** यदि भ्रान्तिस्वरूपे व्यवतिष्ठेरन् न तु वर्तेरन्निति वाक्यशेष ।तत को दोष स्यादित्याह–**प्रमाभ्रान्ती** सर्वेषा प्रमाणाना वाह्यापेक्षाया द्वैविध्ये सति प्रमाणयो प्रत्यक्षाप्रत्यक्षयो प्रत्यक्षानुमानयोर्वा भ्रान्ती भ्रान्तिस्वरूपताया सत्यामपि । **वाह्यार्थौ** वाह्यविषयौ दृश्यानुमेयाख्यौ । **तादृशात्प्र**स्तुताद् भ्रान्तस्वरूपाद् इतरावन्यावभ्रान्तस्वरूपौ क्रमाक्रमानेकान्तात्मकौ सन्तौ विभावनीयौ स्याताम् । अथवा प्रमाभ्रान्तौ यौ भ्रान्ताभ्रान्तौ वाह्यार्थौ भ्रान्तावेव तत इद भ्रान्तमिदमभ्रान्तमिति विचारोऽनर्थक स्यात् ॥ ८६ ॥

§ 86 ( यदि कोई विज्ञानाद्वैतवादी–योगाचारमतानुयायी बौद्धका पक्ष लेकर यह कहे कि 'आपका सज्ञापना हेतु विज्ञानाद्वैतवादीके प्रति असिद्ध है, क्योकि सज्ञाका विज्ञानसे पृथक् कोई अस्तित्व नही है, दृष्टान्त जो 'हेतु-शब्दवत्' दिया गया है वह भी साधनविकल है, हेतु-शब्दके तदाकारज्ञानसे भिन्न दूसरे हेतु-शब्दका अभाव है। सज्ञाके अवभासनमे जो ज्ञान प्रवृत्त होता है उस संज्ञाभासज्ञानको हेतु माननेपर अर्थात् यह कहनेपर कि 'जीव-शब्द सवाह्यार्थ है' सज्ञाभास ( शब्दाकार ) ज्ञानके होनेसे तो यह हेतु शब्दाभास ( शब्दाकार ) स्वप्नज्ञानके साथ व्यभिचारी है, जिसमे शब्दाकार ज्ञानके होते हुए भी वाह्यार्थका अभाव होता है' तो ऐसी शका करनेवालोंके समाधानार्थ आचार्यश्री स्वामी समन्तभद्र कहते है— ) **वक्ताका** ( अभिधेय-विषयक ) **बोध** ( जो वाक्यकी प्रवृत्तिमे कारण होता है ), **श्रोताका वाक्य** ( जो उसे अभिधेय-परिज्ञानके लिये सुननेको मिलता है ) **और प्रमाताका प्रमाण** ( जो सुने हुए वाक्यके अर्थावबोधको लेकर वक्ताके अभिधेय-विषयमे योग्य-अयोग्य अथवा सत्य-असत्यका निर्णय करता है ) **ये तीनो एक दूसरेसे पृथक् जाने जाते हैं**—भिन्न-भिन्न प्रतिभासित होते हैं—ऐसी स्थिति-

86) 1. As बोधवाक्यप्रमा । 2. As –भूत । 3 P –ज्ञानस्य ।

मे विज्ञानाद्वैतता बाधित ठहरती है, 'सज्ञात्वात्' हेतुके असिद्धताका दोष नही आता और न 'हेतु-शब्दवत्' इस दृष्टान्तके साध्य-विकलताका प्रसग ही उपस्थित होता है। ( इसपर यदि यह कहा जाय कि बाह्य अर्थका अभाव होनेसे वक्ता, श्रोता और प्रमाता ये तीनो बुद्धि ( ज्ञान )से पृथक्-भूत नही हैं, वक्तादिके आभास–आकाररूप परिणत हुई बुद्धिके ही वक्ता आदिका व्यवहार होता है, वाक्यके अवतारका भी बोध ( बुद्धि ) के बिना कही कोई अस्तित्व नही बनता और प्रमाण स्वय बोधरूप है ही। अत. ( वक्तादित्रयके बुद्धिसे पृथग्भूत न होनेके कारण ) उक्त हेतुके असिद्धतादि दोष बराबर घटित होता है, तो यह कहना ठीक नही है, क्योकि ) **रूपादि-ग्राहक वक्ता तथा श्रोताके, व्यतिरिक्त-विज्ञानसन्तान-कलापके और स्वांश ( ज्ञान ) मात्राव-लम्बी प्रमाणके विभ्रमकी कल्पना किये जानेपर रूपादिकी पूर्णत असिद्धि होती है और उस असिद्धिसे अन्तर्ज्ञेय जो ज्ञानाद्वैत है उसकी मान्यता विरुद्ध पड़ती है**—रूपादिककी, अभिधेयकी, ग्राहक वक्ता तथा श्रोताकी विभ्रमरूप कल्पना किये जानेपर व्यतिरिक्त-विज्ञानका जो सन्तान-कलाप है वह स्वाशमात्रग्राही सिद्ध नही होता, क्योकि स्वाशमात्रावलम्बी ज्ञानोंके परस्पर असचार है—स्वरूपका गमकत्व नही बनता—जिससे अभिधान-ज्ञान और अभिधेय-ज्ञानका भेद होवे। स्वाशमात्रावलम्बी ज्ञानको भी यदि विभ्रम रूप माना जावे तो प्रमाणकी सिद्धि नही बनती, क्योकि बौद्धोंके यहाँ अभ्रान्त ज्ञानको प्रमाण माना गया है। प्रमाणकी भी विभ्रम-रूपसे कल्पना किये जानेपर अन्तर्ज्ञेय ( ज्ञानाद्वैत ) ही तत्त्व है यह अभ्युपगम कैसे विरुद्ध नही पडेगा ? प्रमाणान्तरसे अभ्युपगम माननेपर सभीके अपने इष्टके अभ्युपगमका प्रसग उपस्थित होगा, उसमे बाधा नही दी जा सकेगी। **प्रमाणके भ्रान्त होनेपर बाह्यार्थों, तादृश अतादृशो, प्रमेयो, अन्तर्ज्ञेय-बहिर्ज्ञेयों, इष्टाऽनिष्टोका विवेचन भी भ्रान्त ठहरेगा**—स्वज्ञान-ग्राहककी अपेक्षासे अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय दोनो ही बाह्यार्थ है और वे ग्राहक-प्रमाणके भ्रान्त होनेसे विभ्रमरूप भ्रान्त ही ठहरते है, ऐसी स्थितिमे अन्तर्ज्ञेय ( ज्ञानाद्वैत )का एकान्त माननेपर हेयोपादेयका विवेक किस आधारपर बन सकता है ? नही बन सकता। और यदि प्रमाणको अभ्रान्त माना जाय तो बाह्यार्थको स्वीकार किया जाना चाहिये, क्योकि बाह्यार्थके अभावमे प्रमाण-प्रमाणाभासकी कोई व्यवस्था नही बन सकती, जैसाकि अगली कारिकामे स्पष्ट किया गया है ॥ ८६ ॥

87) **बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति ।**
**सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥ ८७ ॥**

§ 87 **स्वपरप्रतिपत्त्यर्थं साधनं बुद्धिशब्दात्मक स्वसवित्त्यैव परप्रतिपादनायोगात् ।** [तस्य च सति बहिरर्थे प्रमाणत्वमर्थप्राप्तितः सिद्ध्येत् । असति प्रमाणाभासत्वमर्थानाप्ति. इति । ][1] तदेव परमार्थसन्बहिरर्थं साधनदूषणप्रयोगात् । अन्यथा स्वप्नेतराविशेषात् किं केन साधितं दूषित चेति कुतः सन्तानान्तरमन्यद्वा । तैमिरिकद्वयद्विचन्द्रदर्शनवत् भ्रान्तः सर्वो व्यवहारः, इत्यत्रापि तत्त्वज्ञानं शरणम् । अन्यथा बहिरर्थवदभिसहितस्यापि निराकरणापत्ते. । तथा परमाण्वादिदूषणेऽपि प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथा तत्कृतमकृत स्यादिति सर्वत्र योज्यम् । तदिमे विज्ञानसन्ताना. सन्ति न सन्तीति तत्त्वाप्रतिपत्तेः दृष्टापह्नुतिरनिबन्धनैव, [2]दृश्येनात्मना कथं-

87) 1 A, B, C [ ] चिन्हाकितोऽशो नास्ति । 2 P अदृश्ये ।

**चिदहृश्यानामपि परमाणूनां बहिरपि समवस्थाने विप्रतिषेधाभावात्, अन्तर्ज्ञेयवत्। तत्र पूर्वादिदिग्भागभेदेन षडंशादिकल्पनया वृत्तिविकल्पेन वा परपक्षोपालम्भे स्वपक्षाक्षेपात्। कथंचिद्विरोधपरिहारस्य पुनरायास[3]तामप्यशक्ते। तत्साक्षात्परम्परया वा विमत्यधिकरणभावापन्नं ज्ञानं स्वरूपव्यतिरिक्तार्थावलम्बनम्, ग्राह्यग्राहकाकारत्वात्, सन्तानान्तरसिद्धिवत्। न हि व्यापारव्याहारनिर्भासो विप्लुतो नास्ति, तदन्यत्रापि वासनाभेदो गम्येत, न सन्तानान्तरम्॥ ८७॥**

इत्याप्तमीमांसाभाष्ये सप्तमः परिच्छेदः॥

§ 87. बाह्यार्थे सति प्रमाणमप्रमाणं च युज्यते नान्यथेति आह—**बुद्धिश्च शब्दश्च** तयो **प्रामाण्यमर्थप्रतिपादकत्वं बाह्यार्थे सति** भवति, **असति** अविद्यमाने च **न** भवति। **सत्यम्** अवितथम् **अनृतं** वितथं तयोर्व्यवस्था **अर्थस्य आप्त्यनाप्तिषु** ग्रहणाग्रहणेषु सत्सु **युज्यते** नान्यथा। वचनस्य तदा सत्यता भवति यदा बाह्यार्थं तादृग्भूतं प्रापयति। अन्यथासत्यम्॥ ८७॥

§ 87 ( स्वप्रतिपत्तिके लिये ) **बुद्धिरूप**-ज्ञानकी **और** ( परप्रतिपत्तिके लिये ) **शब्दकी प्रमाणता बाह्य-अर्थके** ( जो कि ग्राहककी अपेक्षासे ज्ञानरूप वा अज्ञानरूप है ) **होनेपर अवलम्बित है,** न होनेपर वह नही बनती—तब प्रमाणाभासता होती है। **इसी प्रकार बाह्य-अर्थके होने न होनेपर बुद्धि और शब्द दोनोकी** ( जो कि स्व–पर–पक्ष-साधन-दूषणात्मक होते है ) **सत्य और असत्यकी व्यवस्था युक्त होती है**—बाह्यार्थके होनेपर दोनोके सत्यकी और न होनेपर असत्यकी व्यवस्था बनती है। ( ऐसी स्थितिमे बाह्यार्थकी सिद्धि होनेसे **'वक्तृ-श्रोतृ-प्रमातृणा बोध-वाक्य-प्रमाः पृथक्'** इस कारिकामे कहे गये वक्ता, श्रोता, प्रमाता तीनो और इनके बोध-वाक्य-प्रमाण ये तीनो भी सिद्ध होते है, और इसलिये जीव-शब्दके बाह्यार्थ-साधनमे दिये गये सज्ञात्व-हेतुके असिद्धता तथा अनैकान्तिकताका दोप घटित नही होता और न 'हेतुशब्दवत्' इस दृष्टान्तके साधनधर्मवैकल्य ही घटित होता है, जिससे जीवकी सिद्धि न होवे—जीवकी सिद्धि उक्त हेतु और दृष्टान्त दोनोंसे होती है। जीवके अर्थको जानकर प्रवृत्ति करनेवालेके सवाद-विसवादकी सिद्धि होती ही है। )॥ ८७॥

इति देवागमाप्तमीमांसायां सप्तम परिच्छेद॥

●

---

3 P –रायाशयता–।

# अष्टमः परिच्छेदः

88) **दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैव पौरुषतः कथम् ।**
**दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ ८८ ॥**

§ 88 **योग्यता पूर्वकर्म[1] वा दैवमुभयमदृष्टम्, पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्, ताभ्यामर्थसिद्धि, तदन्यतरापायेऽघटनात् । पौरुषमात्रे अर्थादर्शनात्, दैवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसङ्गात् ॥ ८८ ॥**

§ 88 तस्य वाह्यार्थस्य कथ प्राप्तिर्भवतीति पृष्टे कश्चिदाह दैवादेव, कश्चित्पुन पौरुषादेवैतत्पक्षद्वय विघटयन्नाह—**अर्थस्य** कार्यस्य प्रशस्ताप्रशस्तशरीरेन्द्रियादेस्तथा ज्ञानसुखादेरज्ञानदु खादेर्वा **सिद्धि**र्निष्पत्तिर्यदि **दैवादेव** सर्वथा स्यात् तद्दैवं कर्माख्य **पौरुषा**न्मनोवाक्कायव्यापारलक्षणाच्छुभाशुभरागादिप्रायात्पुरुषकारात्तर्हि **कथ** स्यात् । अथ दैवान्तरादेव दैव स्यादित्यत्रोच्यते—**दैवतश्चेत्** यदि दैवादेव दैव स्यात्तदानीम् **अनिर्मोक्ष**· असिद्धि स्यात् । दैवस्य कारणभूतस्य कार्यभूतस्य च सतत सन्ततितो विच्छेद प्रत्युपायासभवात् । तदा दानशीलप्रवज्यार्थ कृष्याद्यर्थश्च पुरुषकारोऽप्यनर्थ स्यात् ॥ ८८ ॥

§ 88 **यदि** ( मीमासकमतानुसार ) **दैवसे ही अर्थकी**—सपूर्ण प्रयोजन रूप कार्यकी—**सिद्धि मानी जाय तो फिर दैवरूप कार्यकी सिद्धि पौरुषसे**—कुशलाऽकुशल-समाचरण-लक्षण-पुरुष-व्यापारसे—**कैसे कही जा सकती है ?** नही कही जा सकती, क्योकि वैसा कहनेसे प्रतिज्ञाको हानि पहुँचती है अर्थात् यह कहना वाधित होता है कि 'सर्व-अर्थकी सिद्धि दैवसे होती है' । **यदि पौरुषसे दैवकी सिद्धि न मानकर दैवान्तरसे दैवकी सिद्धि मानी जाय तो फिर मोक्षका अभाव ठहरता है**—क्योकि पूर्व-पूर्व दैवसे उत्तरोत्तर दैवकी प्रवृत्ति तब समाप्त नही हो सकेगी—**और मोक्षके अभावसे तत्कारणभूत पौरुष निष्फल हो जाता अथवा व्यर्थ ठहरता है** । ( यदि यह कहा जाय कि पुरुषार्थसे दैवका क्षय होनेपर मोक्षकी सिद्धि होती है अत पुरुषार्थको निष्फल नही कहा जा सकता, तो फिर वही प्रतिज्ञा-हानि उपस्थित होती है—पुरुषार्थसे मोक्षप्राप्तिको स्वीकार कर लेनेपर सब कुछ दैवसे उत्पन्न ( सिद्ध ) होता है, इस प्रकारकी जो प्रतिज्ञा है वह स्थिर नही रहती—बाधित ठहरती है । इसपर यदि मीमासकोके द्वारा यह कहा जाय कि मोक्ष-कारण-पौरुषके भी दैवकृत होनेसे परपरासे मोक्ष भी दैवकृत सिद्ध होता है, इसमे प्रतिज्ञा-हानिकी कोई बात नही, तो यह कहना ठीक नही, क्योकि तब पौरुषसे ही वैसे दैवका सिद्ध होना ठहरता है, इसलिये दैवका एकान्त स्थिर नही रहता । दूसरे, धर्मसे ही अभ्युदय तथा नि श्रेयस सिद्धिकी जो एकान्तमान्यता है वह वाधित ठहरती है । और तीसरे, उनके द्वारा मान्य महेश्वरकी सिसृक्षा ( सृष्टि रचनेकी इच्छा ) के व्यर्थ होनेका प्रसग उपस्थित होता है—अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्तिके दैवाधीन होनेसे इस प्रकारके वचनोका कहना नही वनता कि 'यह

---

88) 1 As —ता कर्म पूर्वं वा । P पूर्वकर्मता ।

अज्ञ प्राणी अपनेको सुख दु ख प्राप्त करनेमे असमर्थ है, ईश्वरकी इच्छासे प्रेरित हुआ ही स्वर्ग या नरकको जाता है । ) ॥ ८८ ॥

89) **पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।**
**पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥ ८९ ॥**

§ 89 **तद्धि पौरुषं विना दैवसम्पदा न स्यात् । तदुक्तम्—"तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः । सहायास्तादृशा सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥१॥" [ ] इति, तत्सर्वं पौरुषापादितमिति चेत् तदव्यभिचारदर्शिनो न वै श्रद्दधीरन् ॥ ८९ ॥**

§ 89. अथ **पौरुषादेव सिद्धिश्चेत्** सर्वथा यदि पौरुषमात्रादेवार्थसिद्धि स्यात्, तत्पौरुषं दैवाद्दैवप्रामाण्यात् **कथम्** अफल स्यात् । तथाहि—समाने हि समानाना केचिदर्थेषु युज्यन्ते केचिन्न प्रसिद्धमेतत् । अन्यथा दैवमन्तरेण पौरुषादेव पौरुषस्य प्रवृत्तौ मत्या **सर्वप्राणिषु पौरुषममोघमेव** सफलमेव स्यात् दैवहीनानामपि तद्भवति ॥ ८९ ॥

§ 89 **यदि पौरुषसे ही सब कुछ सिद्धिका एकान्त माना जाय तो यह प्रश्न पैदा होता है कि पौरुषरूप कार्यकी सिद्धि कैसे ? उसे यदि दैवसे कहा जाय**—पुण्य-पापरूप दैवी सम्पत्तिके आश्रित बतलाया जाय—**तो यह कहना उक्त एकान्तको माननेपर कैसे बन सकता है ?** नही बन सकता, क्योकि इससे प्रतिज्ञा-हानिका—स्वीकृत एकान्तसिद्धान्तको बाधा पहुँचनेका—प्रसग उपस्थित होता है तथा उक्त एकान्त स्थिर नहीं रहता । **यदि बुद्धि व्यवसायात्मक पौरुष** ( पुरुषार्थ ) **की सिद्धिको पौरुषसे ही माना जाय तो सब प्राणियोमे पौरुष अमोघ ठहरेगा**—किसीका भी पौरुष तब ( बाधक कारणान्तरके न होनेमें ) निष्फल नही जायगा—परन्तु यह प्रत्यक्षके विरुद्ध है, क्योकि समान-पुरुषार्थ करनेवालोंके भी एकका पुरुषार्थ सफल और दूसरेका निष्फल होता देखा जाता है, ऐसे इस मान्यतामे व्यभिचार दोष आता है । ( यदि यह कहा जाय कि पुरुषार्थ दो प्रकारका है—एक सम्यग्ज्ञान-पूर्वक और दूसरा मिथ्याज्ञान पूर्वक । मिथ्याज्ञानपूर्वक पुरुषार्थमे व्यभिचार आने अथवा उसके सफल न होनेपर भी सम्यग्ज्ञानपूर्वक जो पुरुषार्थ है वह सफल होता है । अत सच्चा (सम्यग्ज्ञानपूर्वक) पुरुषार्थ सफल ही होता है, तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि ऐसा कहनेवाले चार्वाकमतवालोंके दृष्टकारणसामग्रीके सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थमे भी व्यभिचार-दोष दिखलाई पड़ता है—खेती आदिकी सफलताके दृष्ट-कारणोका सम्यग्ज्ञान होते हुए भी किसीको तत्पूर्वक खेती आदि करनेपर सफलता नही मिलती । और अदृष्टताको प्राप्त ( अदृश्य ) कारण-कलापका प्रत्यक्षरूपमे सम्यग्ज्ञान अल्पज्ञोंके असभव है ।अत तत्पूर्वक पुरुषार्थ उनके बनता नही । यदि अनुमानादि-प्रमाणान्तरसे उस ज्ञानका सभव माना जाय तो इसमे दो विकल्प उत्पन्न होते हैं—एक तो यह कि वह अदृश्य-कारण-कलाप कारण-शक्तिका विशेष है अथवा पुण्य-पापका विशेष है । यदि उसे कारण शक्तिका विशेष कहा जाय तो उस शक्ति-विशेषका सम्यग्ज्ञान होनेपर भी तत्पूर्वक पुरुषार्थके व्यभिचार दोष दिखलाई पडता है, जैसे क्षीणायुष्क-मनुष्यमे औषधशक्ति-विशेषके सम्यग्ज्ञानपूर्वक भी उस औषधिको पिलाने आदिका जो पुरुषार्थ किया जाता है वह उपयोगी नहीं होता—निष्फल जाता है । इससे सर्व-प्राणियोमे पुरुषार्थके अमोघत्वकी सिद्धि नही बनती । और यदि उस अदृश्य-कारणकलापको पुण्य-पापादिका विशेष माना जाय तो दैवकी सहायतासे हुए पौरुषसे ही

फलकी सिद्धि ठहरी । इधर दैवके सम्यग्ज्ञानपूर्वक उपायसे उपेयकी व्यवस्थिति और उधर दैवके अपरिज्ञानपूर्वक भी कदाचित् फलकी उपलब्धि देखनेमे आती है, इससे सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थका एकान्त भी ठीक नही है । ) ॥ ८९ ॥

90) **विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।**
**अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ९० ॥**

§ 90. दैवेतरयो. सहैकान्ताभ्युपगमे व्याघातात्, अवाच्यताया च स्ववचनविरोधात् स्याद्वादनीतिः ॥ ९० ॥

§ 90 उभयैकान्तेऽपि न युक्तम्—उभयदोषप्रसङ्गात् । अवाच्यत्वदोषाच्च ॥ ९० ॥

§ 90 **स्याद्वादन्यायके विद्वेषियोके दैव और पौरुष दोनो एकान्तोका ऐकात्म्य नहीं बनता; क्योंकि इनमे परस्पर विरोध है** ( इन दोनो एकान्तोकी ) **अवाच्यताका एकान्त माननेपर इन्हें अवाच्य कहना भी नहीं बनता है**—कहनेसे स्ववचन-विरोध घटित होता है ॥ ९० ॥

91) **अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्ट स्वदैवतः ।**
**बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्ट स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥**

§ 91 अतर्कितोपस्थितमनुकूल प्रतिकूलं वा दैवकृतम्, तद्विपरीत हि पौरुषापादितम्, अपेक्षाकृतत्वात्तद्व्यवस्थाया. ॥ ९१ ॥

इत्याप्तमीमांसाभाष्ये अष्टम. परिच्छेद ॥

§ 91 दैवात्केवलात्पौरुषाच्च केवलादर्थसिद्धिर्यदि न भवति कथ तर्हि स्यादत आह—बुद्धिर्विचार पूर्वं प्रथम कारण यस्या सा तथा न बुद्धिपूर्वा **अबुद्धिपूर्वा** सा चासौ **अपेक्षा** च आलोचनं च सा तथा तस्यामतर्कितोपस्थितन्यायेनेत्यर्थ । **इष्टम्** अभिलषित सुखादि । **अनिष्टम्** अनभिलषित दु खादि । **स्वदैवत** स्वपुण्यपापफलात्पूर्वजन्मनिबद्धकर्मण । यद्यपि पौरुषमात्र विद्यते तथापि मुख्याभावो विवक्षितो नात्यन्ताभाव । तथा **बुद्धिपूर्वव्यपेक्षाया** विचारपूर्वकत्वेनानुष्ठानात् **इष्टमनिष्ट च स्वपौरुषात्** स्वकीयपुरुषकारात् । अत्रापि दैवमप्रधानत्वेन विवक्षित नात्यन्ताभावत्वेन । परस्परापेक्षयैव कार्यसिद्धिर्यतो देव आत्मा तस्य कर्म दैवमिति ॥ ९१ ॥

§ 91 **जो इष्ट या अनिष्ट**—अनुकूल वा प्रतिकूल—**कार्य अपने बुद्धि-व्यापारकी अपेक्षा रखे बिना ही घटित अथवा उपस्थित होता है उसे स्वदैवकृत समझना चाहिये**—क्योकि उसमे पौरुष गौण और दैव प्रधान है । और **जो इष्ट या अनिष्ट कार्य अपने बुद्धिव्यापारकी अपेक्षा रखकर घटित अथवा उपस्थित होता है उसे स्वपौरुषकृत समझना चाहिये,** क्योकि उसमे दैव गौण और पौरुष प्रधान हैं । दैव और पुरुषार्थ दोनोकी व्यवस्था एक दूसरेकी अपेक्षाको साथमे लिये हुए है, एकके अभावमे दूसरेकी व्यवस्था नही बनती । वस्तुत दोनोके सयोगसे ही कार्यसिद्धि होती है, अन्यथा वह नही बनती । अत दोनोमेसे किसीका भी एकान्त ठीक न होकर स्याद्वाद-नीतिको लिये हुए अनेकान्त-दृष्टि ही श्रेयस्कर है—*दैव-पौरुष-विषयक* सारे विवादको शान्त करनेवाली है । और इसलिये सब कुछ कथचित् दैवकृत है, अबुद्धिपूर्वकी अपेक्षासे, कथ-

चित् पौरुपकृत है, बुद्धिपूर्वकी अपेक्षासे, कथचित् उभयकृत है, क्रमार्पित दैव-पौरुष दोनोंकी अपेक्षासे, कथचित् दैवकृत और अवक्तव्यरूप है, अबुद्धिपूर्वकी अपेक्षा तथा सहार्पित दैव-पौरुपकी अपेक्षासे; कथचित् पौरुपकृत और अवक्तव्यरूप है, बुद्धिपूर्वकी अपेक्षा तथा सहार्पित-दैव-पौरुपकी अपेक्षासे, कथचित् उभय और अवक्तव्यरूप है, क्रमार्पित दैव पौरुष और सहार्पित दैव पौरुपकी अपेक्षासे । इस तरह सप्तभगी प्रक्रिया यहाँ भी पूर्ववत् जाननी ॥ ९१ ॥

इति देवागमाप्तमीमांसायामष्टमः परिच्छेदः ॥



# नवमः परिच्छेदः

92) **पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्य च सुखतो यदि ।**
**अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥ ९२ ॥**

§ 92 **परत्र सुखदुःखोत्पादनात् पुण्यपापबन्धैकान्ते कथमचेतना न बध्येरन् वीतरागा**[1] **वा, तन्निमित्तत्वात्**[2] **॥ ९२ ॥**

§ 92 ननु परदु खे पाप तस्यैव सुखे पुण्य स्वदु खात्पुण्य स्वसुखात्पापमित्येव कैश्चिदभाणि न दैवादिति तन्मतनिराकरणायाह—**परे**ऽन्यस्मिन् प्राणिनि **दु खमात्राद्यदि पाप** स्यात्, तस्मिन्नेव **सुखमात्राच्च पुण्यं** यदि स्यात्, तदानीम् **अचेतनो** विपशस्त्रादि **अकषायो** वीतराग तावपि **बध्येयाता** कर्मबन्धस्य कर्तारौ भवत । **निमित्तत्वात्** । प्रत्ययमन्तरेणापि भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य ॥ ९२ ॥

§ 92 ( इष्ट-अनिष्टके साधनरूप जो दैव है वह दो प्रकारका है—एक पुण्य और दूसरा पाप । यह दोनो प्रकारका दैव कैसे उत्पन्न होता है, इस विषयके विवादका प्रदर्शन और निराकरण करते हुए आचार्य महोदय लिखते हैं—**यदि परमे दु खोत्पादनसे निश्चित** ( एकान्तत ) **पापवन्धका होना और सुखोत्पादनसे** ( एकान्तत ) **पुण्यवन्धका होना माना जाय तो अचेतन पदार्थ**—कण्टकादिक तथा दुग्धादिक—**और अकषाय परिणत जीव**—वीतराग अवस्थामे स्थित मुनि आदि—**भी दु ख-सुखका निमित्त होनेसे बन्धको प्राप्त होगे**—उन्हे तव अवन्धक कैसे माना जा सकता है ? ( इस पर यदि यह कहा जाय कि उनके दूसरोको दु ख वा सुख देनेका कोई अभिसधान या सकल्प नही होता इसलिये वे वन्धको प्राप्त नही होते तो फिर परमे दु ख-सुखका उत्पादन निश्चितरूपसे पाप-पुण्यके वन्धका हेतु है ऐसा एकान्त नहीं वन सकता ।) जव परमे सुख-दु खका उत्पादन ही पुण्य-पापका एक मात्र कारण है तो फिर दूध-मलाई तथा विष कण्टकादिक अचेतन पदार्थ, जो दूसरोंके सुख-दु खके कारण वनते हैं, पुण्य-पापके वन्धकर्ता क्यो नही ? परन्तु इन्हे कोई भी पुण्य-पापके वन्धकर्ता नही मानता—काँटा पैरमे चुभकर दूसरेको दु ख उत्पन्न करता है, इतने मात्रसे उसे कोई पापी नही कहता और न पापफलदायक कर्मपरमाणु ही उससे आकर चिपटते अथवा वन्धको प्राप्त होते हैं । इसी तरह दूध मलाई वहुतोको आनन्द प्रदान करते हैं, परन्तु उनके इस आनन्दसे दूध मलाई पुण्यात्मा नही कहे जाते और न उनमे पुण्य फलदायक कर्मपरमाणुओका ऐसा कोई प्रवेश अथवा सयोग होता है जिसका फल उन्हे (दूध मलाईको) वादको भोगना पडे । इससे उक्त एकान्त सिद्धान्त स्पष्ट सदोष जान पडता है । यदि यह कहा जाय कि 'चेतन ही वन्धके योग्य होते हैं अचेतन नहीं', तो फिर कषाय-रहित वीतरागियोंके विषयमे आपत्तिको कैसे टाला जायगा ? वे भी अनेक प्रकारसे दूसरोके सुख-दु खके कारण वनते है । उदाहरणके तौरपर किसी मुमुक्षुको मुनि-

---

92) 1 P –रागो । 2 C adds बन्धस्य ।

दीक्षा देते है तो उसके अनेक सम्बन्धियोको दु ख पहुचता है। शिष्यो तथा जनताको शिक्षा देते हैं तो उससे उन लोगोको सुख मिलता है। पूर्ण सावधानीके साथ ईर्यापथ शोधकर चलते हुए भी कभी कभी दृष्टिपथसे बाहरका कोई जीव अचानक कूदकर पैर-तले आ जाता हे और उनके उस पैरसे दबकर मर जाता है। कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानावस्थामे स्थित होनेपर भी यदि कोई जीव तेजीसे उडा-चला आकर उनके शरीरसे टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीवके मार्गमे बाधक होनेसे वे उसके दु खके कारण बनते हैं। अनेक निर्जितकषाय ऋद्धिधारी वीतरागी साधुओ के शरीर के स्पर्शमात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगीजन नीरोग हो जाते हैं और यथेष्ट सुखका अनुभव करते है। ऐसे और भी बहुतसे प्रकार हैं जिनमे वे दूसरोके सुख-दु खके कारण बनते है। यदि दूसरोके सुख-दु खका निमित्त कारण बननेसे ही आत्मामे पुण्य-पापका आस्रव-बन्ध होता है तो फिर ऐसी हालतमे वे कपाय-रहित साधु कैसे पुण्य पापके बन्धनसे बच सकते है ? यदि वे भी पुण्य-पापके बन्धनमे पडते है तो फिर निर्बन्ध अथवा मोक्षकी कोई व्यवस्था नही बन सकती, क्योकि बन्धका मूलकारण कषाय है। कहा भी है–"**कषायमूलं सकलं हि बन्धनम्।**" "**सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध ।**" और इसलिये अकषायभाव मोक्षका कारण है। जब अकषायभाव भी बन्धका कारण हो गया तब मोक्षके लिए कोई कारण नही रहता। कारणके अभावमे कार्यका अभाव हो जानेसे मोक्षका अभाव ठहरता है। और मोक्षके अभावमे बन्धकी भी कोई व्यवस्था नही बन सकती, क्योकि बन्ध और मोक्ष जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमे अविनाभाव सम्बन्धको लिये होते हैं—एकके विना दूसरेका अस्तित्व बन नही सकता, यह बात इससे पूर्व कारिकाकी व्याख्यामे भली प्रकार स्पष्ट की जा चुकी है। जब बन्धकी कोई व्यवस्था नही बन सकती तब पुण्य-पापके बन्धकी कथा ही प्रलापमात्र हो जाती है। अत. चेतन-प्राणियोकी दृष्टिसे भी पुण्य-पापकी उक्त एकान्त-व्यवस्था सदोष है। यहाँ पर यदि कहा जाय कि उन अकषाय-जीवोके दूसरोको सुख-दु ख पहुचानेका कोई सकल्प या अभिप्राय नही होता, उस प्रकार-की कोई इच्छा नही होती और न उस विषयमे उनकी कोई आसक्ति ही होती है, इसलिये दूसरोक सुख-दु खकी उत्पत्तिमे निमित्तकारण होनेसे वे बन्धको प्राप्त नही होते, तो फिर दूसरोमे दु खोत्पादन पापका और सुखोत्पादन पुण्यका हेतु है, यह एकान्त सिद्धान्त कैसे बन सकता है ?–अभिप्रायाभावके कारण अन्यत्र भी दु खोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका बन्ध नही हो सकेगा, प्रत्युत इसके विरोधी अभिप्रायके कारण दु खोत्पत्तिसे पुण्यका और सुखोत्पत्तिसे पापका बन्ध भी हो सकेगा। जैसे एक डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्ण सावधानीके साथ फोडेका ऑपरेशन करता है परन्तु फोडेको चीरते समय रोगीको कुछ अनिवार्य दु ख भी पहुँचाता है। इस दु खके पहुँचानेसे डाक्टरको पापका बन्ध नही होगा इतना ही नही, बल्कि उसको दु ख विरोधिनी भावनाके कारण यह दु ख भी पुण्य-बन्धका कारण होगा। इसी तरह एक मनुष्य कषायभावके वशवर्ती होकर दु ख पहुँचानेके अभिप्रायसे किसी कुबडेको लात मारता है, लातके लगते ही अचानक उसका कुबडापन मिट जाता है और वह सुखका अनुभव करने लगता है, कहावत भी है–"कुबडे गुण लात लग गई"–तो कुबडेके इस सुखानुभव से लात मारने-वालेको पुण्यफलकी प्राप्ति नही हो सकती—उसे तो अपनी सुखविरोधिनी भावनाके कारण पाप ही लगेगा। अत यह एकान्त सिद्धान्त कि 'परमे सुख-दु खका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है, पूर्णतया सदोष है, और इसलिए उसे किसी तरह भी वस्तुतत्त्व नही कह सकते ॥ ९२ ॥

**93 पुण्यं ध्रुव स्वतो दुःखात्पाप च सुखतो यदि ।**
**वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥ ९३ ॥**

§ 93 आत्मसुखदु खाभ्या पापेतरैकान्तकृतान्ते पुनरकषायस्यापि ध्रुवमेव बन्धः स्यात् । ततो न कश्चिन्मोक्तुमर्हति, तदुभयाभावासभवात् ॥ ९३ ॥

§ 93 तथा—**स्वस्मिन् दु खाद् ध्रुव** निश्चित **पुण्य** यदि स्यात्तस्मिन्नेवात्मनि **सुखात्** हेतोर्ध्रुव **पापं** च **यदि** स्यात्, तत किं स्यात्, ताभ्या **वीतरागो मुनिर्युञ्ज्याद्** वद्धो भवेत् । कुत **निमित्तत्वात्** ॥ ९३ ॥

§ 93 **यदि अपनेमे दु.खोत्पादनसे पुण्यका और सुखोत्पादनसे पापका बन्ध ध्रुव है**—निश्चितरूपसे होता है—ऐसा एकान्त माना जाय, **तो फिर वीतराग** ( कषायरहित ) **और विद्वान् मुनिजन भी पुण्य पापसे बँधने चाहिये;** क्योकि ये भी अपने सुखदु खकी उत्पत्तिके निमित्तकारण होते है । वीतराग और विद्वान् मुनिके त्रिकाल योगादिके अनुष्ठानद्वारा कायक्लेशादिरूप दु खकी और तत्त्वज्ञानजन्य सन्तोषलक्षणरूप सुखकी उत्पत्ति होती है । जब अपनेमे दु खसुखके उत्पादनसे ही पुण्य-पाप बँधता है तो फिर ये अकषायजीव पुण्य पापके बन्धनसे कैसे मुक्त रह सकते हैं ? यदि इनके भी पुण्य पापका ध्रुव बन्ध होता है तो फिर पुण्य पापके अभावको कभी अवसर नही मिल सकता और न कोई मुक्त होनेके योग्य हो सकता है–पुण्य पापरूप दोनो बन्धोके अभावके बिना मुक्ति होती ही नही । और मुक्तिके बिना वन्धनादिककी भी कोई व्यवस्था स्थिर नही रह सकती, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है । यदि पुण्य-पापके अभाव बिना भी मुक्ति मानी जायगी तो ससृतिके–ससार अथवा सासारिक जीवनके–अभावका प्रसग आएगा, जो पुण्य पापकी व्यवस्था माननेवालोमेसे किसीको भी इष्ट नही है । ऐसी हालतमे आत्म सुख दु खके द्वारा पाप-पुण्यके बन्धनका यह एकान्त सिद्धान्त भी सदोष है । यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि अपनेमे दु ख-सुखकी उत्पत्ति होने पर भी तत्त्वज्ञानी वीतरागियोके पुण्य पापका बन्ध इसलिये नही होता क्योकि उनके दु ख-सुखके उत्पादनका अभिप्राय नही होता, वैसी कोई इच्छा नही होती और न उस विषयमे आसक्ति ही होती है, तो फिर इससे तो अनेकान्त सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है—उक्त एकान्तकी नही । अर्थात् यह नतीजा निकलता है कि अभिप्रायको लिये हुए दु ख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है, अभिप्रायविहीन दु ख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु नही है । अत उक्त दोनो एकान्त सिद्धान्त प्रमाणसे वाधित हैं, इष्टके भी विरुद्ध पड़ते हैं और इसलिये ठीक नही कहे जा सकते ॥ ९३ ॥

**94) विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।**
**अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ९४ ॥**

§ 94 प्रस्तुतैकान्तद्वयसिद्धान्ते व्याहतेरनभिधेयतायामनभिधेयाभिधानविरोधात् कथंचिदेवेति युक्तम् ॥ ९४ ॥

§ 94 अथोभयैकान्तस्तद्वयादिष्यते तत्रापि दोष एव, विरोधात् । नाप्यवाच्यत्व वचनविरोधात् । सुगमम् ॥ ९४ ॥

§ 94 ( पाप-पुण्यके वन्ध-सम्वन्धी प्रस्तुत दोनो एकान्तोकी अलग मान्यतामे दोष देखकर ) **यदि दोनो सिद्धान्तोके एकात्मरूप उभय एकान्तको माना जाय तो वह स्याद्वाद-न्यायसे द्वेष रखनेवालोके विरोध-दोषके कारण नहीं बनता । अवाच्यताका एकान्त माननेमे भी 'अवाच्य है' यह कहना युक्त नहीं ठहरता है । क्योकि** 'अवाच्य' शब्दके द्वारा वह 'वाच्य' हो जायगा और तव सर्वथा अवाच्यताका एकान्त नही रहेगा ॥ ९४ ॥

95) **विशुद्धिसक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम् ।**
**पुण्यपापास्रवौ युक्तौ न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः ॥ ९५ ॥**

§ 95 **आत्मनः परस्य वा सुखदु खयोर्विशुद्धिसंक्लेशाङ्गयोरेव पुण्यपापास्रवहेतुत्वम्, न चान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । आर्तरौद्रध्यानपरिणाम. सक्लेश. तदभावो विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम् ॥ ९५ ॥**

इत्याप्तमीमांसाभाष्ये नवम परिच्छेद ॥

§ 95 कथ तर्ह्यत आह—स्य आत्मा परोऽन्यस्तयोस्तिष्ठतीति **स्वपरस्थ** सुख चासुख च **सुखासुखं** जीवप्रदेशाह्लादनानाह्लादनम् । विशुद्धि प्रमोदादिशुभपरिणाम । यद्यपि निरवशेषरागादिविरहलक्षणाया विशुद्धौ विशुद्धिशब्दो वर्तते तथापि कुशलशब्दवत् शुभपरिणामादौ वर्तमानो विशुद्धिशब्दो गृह्यते । सक्लेश. आर्तरौद्रध्याने तयोरङ्ग कारण **विशुद्धिसक्लेशाङ्गं चेत्** यदि स्वपरस्थ सुखासुख विशुद्धिसक्लेशालम्बन यदि भवति तदा **पुण्य** च **पापं** च तयो **आस्रवौ युक्तौ । न चेत्** एव यद्येवं न स्यात् । पुण्यास्रव पापास्रवश्च **व्यर्थो** निष्फल । **अर्हतो** वीतरागस्य **तव** एव वा । एतेन मस्करिपूरणमत निराकृत भवति । सिद्धेषु संक्लेशकारणाभावात् ॥ ९५ ॥

§ 95 **यदि स्व-परस्थ**—अपना अथवा परका—**सुख-दुःख विशुद्धि तथा सक्लेशका अंग है**—तत्कारण-कार्य वा स्वभावरूप है—**तो वह सुख-दु ख यथा क्रम पुण्य-पापके आस्रव वन्धका हेतु हे और यदि विशुद्धि तथा संक्लेश दोनोमेसे किसीका भी अग**—कारण-कार्य-स्वभावरूप—**नहीं होता है तो** ( हे अर्हन् भगवन् ! ) **आपके मतमे वह व्यर्थ कहा है**—उसका कोई फल नही । अन्यथा, पूर्वकारिका ( ९३ ) मे कहे हुए 'अचेतनाऽकपायी' और 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' पदोमे जिनका उल्लेख है उनके भी वन्धका प्रसग उपस्थित होगा । यहाँ 'सक्लेश' का अभिप्राय आर्त-रौद्रध्यानके परिणामसे हे—"**आर्त रौद्र-ध्यानपरिणाम संक्लेश**" ऐसा अकलकदेवने 'अष्टशती' टीकामे स्पष्ट लिखा है और श्रीविद्यानन्दने उसे 'अष्टसहस्री' मे अपनाया है । 'सक्लेश' शब्दके साथ प्रतिपक्षरूपसे प्रयुक्त होनेके कारण 'विशुद्धि' शब्दका अभिप्राय 'सक्लेशाऽभाव' हे ( "**तदभाव विशुद्धि.**" इत्यकलक )—उस क्षायिकलक्षणा तथा अविनश्वरी परमशुद्धिका अभिप्राय नही है जो निरवशेप-रागादिके अभावरूप होती है, उस विशुद्धिमे तो पुण्य-पाप-वन्धके लिये कोई स्थान नही हे । और इसलिए विशुद्धिका आशय यहाँ आर्तरौद्रध्यानसे रहित शुभ-परिणतिका है । वह परिणति धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यानके स्वभावको लिये हुए होती है । ऐसी परिणतिके होनेपर ही आत्मा स्वात्मामे—स्वस्वरूपमे—स्थितिको प्राप्त होता है, चाहे वह कितने ही अशोमे क्यो न हो । इसीसे अकलकदेवने अपनी व्याख्यामे, इस सक्लेशाभावरूप विशुद्धिको "**आत्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्**" रूपसे उल्लिखित किया है और इससे यह नतीजा निकलता है कि उक्त पुण्य-प्रसाधिका विशुद्धि आत्माके विकासमे सहायक होती है, जब कि

सक्लेशपरिणतिमे आत्माका विकास नही बन सकता—वह पाप-प्रसाधिका होनेसे आत्माके अध पतनका कारण बनती है । इसीलिये पुण्यको प्रशस्त और पापको अप्रशस्त कर्म कहा गया है । विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धिके स्वभावको 'विशुद्धिअग' कहते हैं । इसी तरह सक्लेशके कारण, सक्लेशके कार्य तथा सक्लेशके स्वभावको 'सक्लेशाङ्ग' कहते हैं । स्व-परस्थ सुख-दु ख यदि विशुद्धिअगको लिये हुए होता है तो वह पुण्य-रूप शुभ-बन्धका और सक्लेशाङ्गको लिए हुए होता है तो पाप-रूप अशुभबन्धका कारण होता है, अन्यथा नही । तत्त्वार्थसूत्रमे, **"मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव"** इस सूत्रके द्वारा मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूपसे बन्धके जिन कारणोका निर्देश किया है वे सब सक्लेशपरिणाम ही हैं, क्योकि आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणामोके कारण होनेसे 'सक्लेशाङ्ग'मे शामिल है, जैसे कि हिसादि-क्रिया सक्लेशकार्य होनेसे सक्लेशाङ्गमे गर्भित है । अत स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे उक्त सूत्रका कोई विरोध नही है । इसी तरह **'कायवाड्मन.कर्मयोग'** **'स आस्रवः'**, **'शुभ. पुण्यस्याऽशुभ पापस्य'** इन तीन सूत्रोंके द्वारा शुभ-कायादि-व्यापारको पुण्यास्रवका और अशुभ-कायादि व्यापारको पापास्रवका जो हेतु प्रतिपादित किया है, वह कथन भी इसके विरुद्ध नही पडता, क्योकि कायादि-योगके भी विशुद्धि और सक्लेशके कारण-कार्य-स्वभावके द्वारा सक्लेशत्व-विशुद्धित्वकी व्यवस्थिति है । सक्लेशके कारण कार्य-स्वभाव ऊपर बतलाए जा चुके हैं । विशुद्धिके कारण सम्यग्दर्शनादिक है, धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान उसके स्वभाव हैं और विशुद्धिपरिणाम उसका कार्य है । ऐसी हालतमे स्व-पर-दु खकी हेतुभूत कायादि-क्रियाएँ यदि सक्लेश-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती है तो वे सक्लेशाङ्गत्वके कारण, विषभक्षणादिरूप कायादिक्रियाओकी तरह, प्राणियोको अशुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण बनती है, और यदि विशुद्धि-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती है तो विशुद्ध्यङ्गत्वके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियाओकी तरह, प्राणियोंके शुभफल-दायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण होती है । जो शुभफलदायक पुद्गल हैं वे पुण्यकर्म हैं, जो अशुभफलदायक पुद्गल हैं वे पापकर्म हैं, और इन पुण्य-पाप कर्मोके अनेक भेद हैं । इस प्रकार सक्षेपसे इस कारिकामे सपूर्ण शुभाऽशुभरूप पुण्य-पाप-कर्मोंके आस्रव-बन्धका कारण सूचित किया है । इससे पुण्य-पापकी व्यवस्था बतलानेके लिये यह कारिका कितनी रहस्यपूर्ण है, इसे विज्ञपाठक स्वय समझ सकते हैं । साराश इस सब कथनका इतना ही है कि—सुख और दु ख दोनो ही, चाहे स्वस्थ हो या परस्थ—अपनेको हो या दूसरोको—कथचित् पुण्यरूप आस्रव-बन्धके कारण है, विशुद्धिके अग होनेसे, कथचित् पापरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, सक्लेशके अग होनेसे, कथचित् पुण्य-पाप उभयरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, क्रमार्पित विशुद्धि-सक्लेशके अग होनेसे, कथचित् अवक्तव्यरूप हैं, सहार्पित-विशुद्धि सक्लेशके अग होनेसे । और विशुद्धि-सक्लेशका अग न होनेपर दोनो ही बन्धके कारण नही हैं । इस प्रकार नय-विवक्षाको लिए हुए अनेकान्तमार्गसे ही पुण्य-पापकी व्यवस्था ठीक बैठती है—सर्वथा एकान्तपक्षका आश्रय लेनेसे नही । एकान्त पक्ष सदोष है, जैसाकि ऊपर बतलाया जा चुका है और इसलिये वह पुण्य-पापका सम्यक् व्यवस्थापक नही हो सकता ॥ ९५ ॥

इति देवागमाप्तमीमांसाया नवम परिच्छेद ॥

# दशमः परिच्छेदः

96) **अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बन्धो ज्ञेयानन्त्यान्न केवली ।**
**ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा ॥ ९६ ॥**

§ 96 **यदि बन्धोऽयमज्ञानात्**[1] **नेदानीं कश्चिन्मुच्येत, सर्वस्यैव क्वचिदज्ञानोपपत्तेर्ज्ञेयानन्त्यात् । यदि पुनर्ज्ञाननिर्ह्रासाद्ब्रह्मप्राप्तिरज्ञानात्सुतरां प्रसज्येत । दुःखनिवृत्तेरिव सुखप्राप्तिः ॥ ९६ ॥**

§ 96 अथ पुण्यपापास्रवकारणमज्ञानमिष्यते चेत्तन्मतनिराकरणायाह— **यद्यज्ञानात्** जाड्यस्वरूपाद् **बन्धो ध्रुवो न केवली** मुक्तः । कुतः **ज्ञेयानन्त्यात्** प्रमेयस्यानन्त्यं यतः । अथ कथाचित् **ज्ञानस्तोकात्** बोधनिर्ह्रासात् **मोक्षोऽभ्युपगम्यते चेद्बहुतो** विपुलात् **अज्ञानादन्यथा** अन्येन प्रकारेणातिशयेन विमोक्षः स्यादिति संबन्धः । अथवा प्रागुक्तान्मोक्षप्रकारादन्येन प्रकारेणापि सह जन्मनो योगः स्यात् । तथा च सति न बन्धो नापि मोक्षस्तस्य विचाराक्षमत्वात् ॥ ९६ ॥

§ 96 **यदि** ( सांख्यमतानुसार ) **अज्ञानसे बन्धका होना अवश्यभावी माना जाय तो ज्ञेयोंकी अनन्तताके कारण कोई भी केवली**—सकलविपर्यय-रहित तथा ज्ञानान्तरकी सहायता-रहित तत्त्व-ज्ञानरूप केवलसे युक्त— **न हो सकेगा । यदि अल्पज्ञानसे मोक्षका होना माना जाय तो अज्ञानके बहुत होनेके कारण बन्धका प्रसंग बराबर उपस्थित रहेगा और उसका निरोध न हो सकनेसे मोक्षका होना नहीं बन सकेगा** ॥ ९६ ॥

97) **विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।**
**अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ९७ ॥**

§ 97 **न हि सर्वात्मनैकस्यैकदा ज्ञानस्तोकान्मोक्षो बहुतराज्ञानाद्बन्धः, इत्येकान्तयोरविरोधः स्याद्वादन्यायविद्विषां सिद्धयति, येन तदुभयैकात्म्यं स्यात् ॥ ९७ ॥**

§ 97 उभयैकान्तावक्तव्यमपि दुष्टम्, विरोधात् ॥ ९७ ॥

§ 97 ( सर्वात्मरूपसे एक व्यक्तिके एक कालमें ) **अल्पज्ञानसे मोक्ष और बहुत अज्ञानसे बन्ध इन दो एकान्तोंमें स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोंके अविरोध सिद्ध नहीं होता, अतः परस्पर विरोधके कारण उभय एकान्त नहीं बनता । अवाच्यताका एकान्त माननेमें भी 'अवाच्य' है यह कहना ही नहीं बनता**—इससे पूर्ववत् स्ववचन-विरोध घटित होता है ॥ ९७ ॥

---

96) 1. P -मविज्ञानात् ।

98) **अज्ञानान्मोहिनो[1] बन्धो नाज्ञानाद्वीतमोहतः ।**
**ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनो[2]ऽन्यथा ॥ ९८ ॥**

§ 98 **मोहनीयकर्मप्रकृतिलक्षणादज्ञानाद्युक्तः कर्मबन्धः, ततोऽन्यतोऽपि बन्धाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गात् । तथैव बुद्धेरपकर्षात् मोहनीयपरिक्षयलक्षणान्मोक्ष्यति[3] । विपर्ययेऽपि विपर्यासादित्यधिगन्तव्यम् ॥ ९८ ॥**

§ 98 कथं तर्हि तौ स्यातामत आह—**अज्ञानात्** पुनरपि किंविशिष्टात् **मोहतो** मिथ्यात्वरूपात् **बन्धो** भवति, विनष्टमिथ्यात्वरूपादज्ञानात्पुनर्न बन्धो भवति । **ज्ञानस्तोकादपि मोक्षः स्यात्** यदि **अमोहात्** भवेत् यदि पुनः **मोहितः** स्यात्तस्य मोक्षाभाव एव ॥ ९८ ॥

98 **मोह-सहित अज्ञानसे बन्ध होता है**– जो अज्ञान मोहनीयकर्मप्रकृति-लक्षणसे युक्त है वह स्थिति-अनुभागरूप स्वफलदानसमर्थ कर्म-बन्धका कर्त्ता है । जो अज्ञान मोहसे रहित है वह ( उक्त फलदान-समर्थ ) कर्मबन्धका कर्त्ता नही है । और जो अल्पज्ञान मोहसे रहित है उससे मोक्ष होता है, परन्तु मोहसहित अल्पज्ञानसे कर्मबन्ध ही होता है ॥ ९८ ॥

99) **कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः ।**
**तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः ॥ ९९ ॥**

§ 99 **संसारोऽयं नैकस्वभावेश्वरकृतः तत्कार्यसुखदुःखादिवैचित्र्यात् । न हि कारणस्यैकरूपत्वे कार्यनानात्वं युक्तम्, शालिबीजाङ्कुरवत्[1] । अपरिणामिनः सर्वथार्थक्रियासंभवात् तल्लक्षणत्वाच्च वस्तुनः सद्भावमेव तावन्न संभावयामः । तत्र कालदेशावस्थास्वभावभिन्नानां तनुकरणभुवनादीनां किलायं कर्तेति महच्चित्रम्, एतेनेश्वरेच्छा प्रत्युक्ता । न चैतेनास्याः संबन्धः, तत्कृतोपकारानपेक्षणात्, ततो व्यपदेशोऽपि माभूत्, अभिसन्धेरनित्यत्वेऽपि समानः प्रसङ्गः । सकृदुत्पत्त्यादिप्रसङ्गाद्विचित्रत्वानुपपत्तेरिति । तयोरेकस्वभावत्वे[2]ऽपि कर्मवैचित्र्यात्कामादिप्रभववैचित्र्यमिति चेत्, युक्तमेतत्, किन्तु नेश्वरेच्छाभ्यां किंचित्, तावतार्थपरिसमाप्तेः । एतेन विरम्यप्रवृत्तिसंनिवेशविशेषादिभ्यः पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्व[3]साधनेनेश्वरप्रापणं[4] प्रत्युक्तम् । प्राक्कायकरणोत्पत्तेरात्मनो धर्माधर्मयोश्च स्वयमचेतनत्वाद्विचित्रोपभोगयोग्यतनुकरणादिसंपादनकौशलासंभवात्तन्निमित्तमात्मान्तरम्, मृत्पिण्डादिकुलालवदिति चेत्, न, तस्यापि वितनुकरणस्य तत्कृतेरसंभवात् । तादृशोऽपि निमित्तभावे कर्मणामचेतनत्वेऽपि तन्निमित्तत्वमविप्रतिषिद्धम्, सर्वथा दृष्टान्तव्यतिक्रमात् । स्थित्वा [5]प्रवर्तमानार्थक्रियादि, चेतनाधिष्ठानादिति नियमे पुनरीश्वरादेरपि मा भूत् । नायं प्रसङ्गो बुद्धिमत्त्वादिति चेत्, ततः एव तर्हि प्रहीणतनुकरणादयः प्राणिनो माभूवन् । कर्मणां वैचित्र्यादिति चेत्, तेषामीश्वरज्ञाननिमित्तत्वे समानः प्रसङ्गः । तदनिमित्तत्वे तनुकरणादेरपि तन्निमित्तत्वं माभूत्, विशेषाभावात् । अर्थक्रियादेरपि ताभ्यामै[6]कान्तिकत्वम् । ततः कर्मबन्धविशेषवशाच्चित्राः कामादयः,**

98) 1 P मोहतो । 2 P मोहितो । 3 D, P –मोक्षमिति ।
99) 1. D, P –बीजवत् । 2 P –रूपत्वे । 3 P ज्ञानेन । 4. P प्रमाण ।
5 As प्रवर्तनार्थ– । 6 P –मनैका– ।

§ 100 **और वे शुद्धि-अशुद्धि दोनो** ( मूग उडद आदिके ) **पचने अपचनेकी योग्यताके समान**—भव्य-अभव्य-स्वभावके रूपमे—**दो शक्तियाँ है, जिनकी व्यक्ति**–**प्रादुर्भूति क्रमश. सादि-अनादि हैं**—शुद्धिकी प्रादुर्भूति सादि और अशुद्धिकी प्रादुर्भूति अनादि है, क्योकि शुद्धिके अभिव्यजक सम्यग्दर्शनादिक सादि होते है और अशुद्धिके अभिव्यजक मिथ्यादर्शनादिकी सतति अनादिसे चली आती है। **और यह वस्तु-स्वभाव है जो तर्कका विषय नहीं होता**—अर्थात् स्वभावमे यह हेतुवाद नही चलता कि ऐसा क्यो होता हे ॥ १०० ॥

101) **तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।**
**क्रमभावि च यज्ज्ञान स्याद्वादनय[1]संस्कृतम् ॥ १०१ ॥**

§ 101 बुद्धेरनेकान्तात् येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेद तदपेक्षया प्रामाण्यम्। तेन[2] प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायश सङ्कीर्णा प्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्। तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसवादेऽपि चन्द्रादिष्वभावतत्त्वोपलम्भात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्। तथानुमानादेरपि कथंचिन्मिथ्याप्रतिभासेऽपि तत्त्वप्रतिपत्त्यैव प्रामाण्यम्। एकान्तकल्पनाया तु नान्तर्बहिस्तत्त्वसंवेदनं स्वयमद्वयावेद्वैयादिप्रतिभासमानात् रूपादिस्वलक्षणानां च तथैवादर्शनाद्यथा व्यावर्ण्यन्ते। तद्विशेषोपलम्भाभ्युपगमेऽपि तद्व्यवसायवैकल्ये क्वचिद्धर्माधर्मसवेदनवत् परोक्षत्वोपपत्तेः। विकल्पानामतत्त्वविषयत्वात् कुतस्तत्त्वप्रतिपत्ति, मणिप्रदीपप्रभादृष्टान्तोऽपि स्वपक्षघाती, मणिप्रदीपप्रभादर्शनस्यापि सवादकत्वेन प्रामाण्यप्राप्त्या प्रमाणान्तर्भावविघटनात्। न हि तत् प्रत्यक्षं स्वविषये विसंवादनात्, शुक्तिकादर्शनवद्रजतभ्रान्तौ। नापि लैङ्गिकं लिङ्गलिङ्गिसबन्धाप्रतिपत्तेः, अन्यथा दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात्। कादाचित्कार्थप्राप्तेरारेकादेरपि संभवात्। न हि मिथ्याज्ञानस्य संवादनैकान्त। तथा न लैङ्गिकं सर्वथैवादिसंवादकत्वात्। तस्मात्सूक्तम्—तत्त्वज्ञानमेव प्रमाणं कारणस्य सामग्रीभेदात्प्रतिभासभेदेऽपि, इति। प्रमाणमेव वा तत्त्वज्ञानम्। तत स्वलक्षणदर्शनानन्तरभाविनस्तत्त्वव्यवसायस्य प्रमाणतोपपत्ते, प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाण एवेत्याद्यवधारणं प्रत्याचष्टे, अनधिगतार्थाधिगमाभावात्, तदप्रमाणत्वे लैङ्गिकस्यापि माभूद्विशेषाभावात्। अनधिगतस्वलक्षणाव्यवसायात्[3], अनुमितेरतिशयकल्पनायां प्रकृतस्यापि न वै प्रामाण्यं प्रतिषेध्यम्, अनिर्णीतनिर्णयात्मकत्वात्, क्षणभङ्गानुमानवत्। ध्वनेरखण्डश [4]श्रवणादधिगमोऽपि प्राथमकल्पिकस्तत्त्वनिर्णीतिरेव। तदत्यये दृष्टेरपि सवादकत्वेन प्रामाण्यानुपपत्तेरदर्शनातिशायनात्। तद्दर्शनाभावेऽपि तत्त्वनिश्चये तदन्यसमारोपव्यवच्छेदलक्षणे प्रमाणलक्षणाङ्गीकरणात्। क्वचित्कुतश्चिद धूमकेतुलैङ्गिकवन्निर्णीतार्थमात्रस्मृतेरधिगतार्थाधिगमात् प्रामाण्यं माभूत्, प्रमितिविशेषाभावात्। प्रकृतनिर्णयस्य प्रामाण्ये हि न किंचिदतिप्रसज्यते, निर्णीतेऽपि कथंचिदतिशायनात्। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण व्यवसायातिशयोपपत्ते तत्सामर्थ्याधीनत्वात् प्रमाणत्वसिद्धे,[5] अन्यथा हि विसंवाद स्यात्। लिङ्गलिङ्गिसबन्धज्ञानं प्रमाणमनिश्चितनिश्चयादनुमानवत्। सत्त्वक्षणिकत्वयोर्धूमतत्कारणयोर्वा साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षत्वमुत्सहते, सन्निहितार्थानुकारित्वात्[6],

101) 1 C –न्याय । 2. D, P तत । 3 As –गत्वस्वलक्षणाध्यवसा– । 4 D, P श्रवणाधि– ।
5 As –त्वस्थिते । 6 D, As –र्थाकारानुकारि– ।

**अपरीक्षाक्षमत्वाच्च। नानुमानम्, अनवस्थानुषङ्गात्। सुदूरमपि गत्वा तदुभयव्यतिरिक्त व्यवस्थानिमित्तमभ्युपगन्तव्यम्। उपमानादिकं प्रमाणान्तरमिच्छता[7] तत्त्वनिर्णयप्रत्यवमर्शप्रतिबन्धाधिगमप्रमाणत्वप्रतिषेधः प्रायशो वक्तुर्जडिमानमाविष्करोति, इति प्रत्यक्षं परोक्षमित्येतद्द्वितयं प्रमाणम्। अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेऽपि परोक्षेऽन्तर्भावात्। तत्र सकलज्ञानावरणपरिक्षयविजृम्भितं केवलज्ञानं युगपत्सर्वार्थविषयम्। तथा चोक्तम्—"सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" [ त० सू० १।२९ ] इति तज्ज्ञानदर्शनयो. क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात्। कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत्, सामान्यविशेषविषययोर्विगतावरणयोरयुगपत्प्रतिभासायोगात्, प्रतिबन्धान्तराभावात्। शेष सर्वं क्रमवृत्ति प्रकारान्तरासंभवात्। चक्षुरादिज्ञानपञ्चकस्यापि परस्परव्यवधानेऽपि विच्छेदानुपलक्षणं क्षणक्षयवत्। यौगपद्ये हि सन्तानभेदात्परस्परपरामर्शाभाव', सन्तानान्तरवता मानसप्रत्यक्षेऽपि चक्षुरादिज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवेन कश्चिद्विशेषः क्रमवृत्तौ व्यवधानप्रतिभासविकल्पप्रतिपत्तेरसंभवात्। यौगपद्ये हि स्पर्शादिप्रत्यवमर्शविरोधः पुरुषान्तरवद्विषयस्यानेकान्तात्मकत्वात्। मतिज्ञानादि स्याद्वादनयलक्षित प्रतिपत्तव्यम्॥ १०१॥**

§ 101 एव तावत्प्रमाणपरतन्त्रप्रमेयविचार कृत । अधुना प्रमाणत्वनिरूपणार्थमाह— **तत्त्वज्ञानं** परार्थबोध , पुनरपि कथभूत युगपत्सर्वार्थमवभासत इति **युगपत्सर्वभासनम्**, अक्रमेण परिच्छेदात्मकमित्यर्थं , तत् **प्रमाणम् एव क्रमभावि च तज्ज्ञानं** छद्मस्थीय चक्षुरादिक चकारादक्रमभाविदीर्घशष्कुल्यादिभक्षणे सभवात्। सर्वथा सदसदेकानेकनित्यानित्यादिसकलैकान्तप्रत्यनीकानेकान्ततत्त्वविषय स्याद्वादो जातियुक्तनिबन्धनो वितर्को नयस्ताभ्या सस्कृत प्रमाणगोचर नीत तदपि प्रमाण **स्याद्वादनयसस्कृत यतस्ते तव** ॥ १०१ ॥

§ 101 ( हे अर्हन् भगवन्! ) **आपके मतमे तत्त्वज्ञानको प्रमाण** कहा है वह ( तत्त्वरूपसे जाननेरूप ) **प्रमाणज्ञान एक तो युगपत् सर्वभासनरूप** ( केवलज्ञान ) **प्रत्यक्षज्ञान है और दूसरा क्रमशः भासनरूप** ( मति आदि ) **परोक्षज्ञान है। जो क्रमशः भासनरूप ज्ञान है वह स्याद्वाद तथा नयोंसे संस्कृत है**—स्याद्वादरूप प्रमाण तथा नैगमादि नयोंके द्वारा सस्कारको प्राप्त है—प्रकट होता है। तत्त्व ( यथार्थ ) रूपसे जाननेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। वह दो प्रकारका होता है—एक अक्रमभावि और दूसरा क्रमभावि। जो युगपत् समस्त पदार्थोंका प्रकाशन करता है वह अक्रमभावि है और वह पूर्णतया प्रमाणरूप होता है। किन्तु जो क्रमश पदार्थोंका प्रकाशन करता है वह क्रमभावि है तथा वह स्याद्वाद ( प्रमाण ) और नय ( अंशात्मक नैगमादि ) दोनो रूप होता है ॥ १०१ ॥

102) **उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।**
**[1]पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ १०२ ॥**

§ 102 **सिद्धप्रयोजनत्वात् केवलिना सर्वत्रोपेक्षा। करुणावत परदु.खजिहासोः कथमुपेक्षा, तद्भावे कथं वाप्ति., इति चेत् स्वदु.खनिवर्तनवत्करुणयापि वृत्तेरन्यदु.खनिराचिकीर्षायाम्। दयालोरेवात्मदु.खनिवर्तनाद[2] समाधिरिति चेत्, न वै प्रदोप. कृपालुतया आत्मानं**

---

7 D, P प्रमाणान्तरभावमि– ।

102) 1. G, P पूर्वं । 2. As –वर्तनम् । अतोऽयम्– ।

परं वा तमसो निवर्तयतीति कल्पयित्वापि कृपालुतां तत्करणस्वभावसामर्थ्यं मृग्यम्। एवं हि परम्परापरिश्रमं परिहरेत्। मत्यादेः साक्षात्फलं स्वार्थव्यामोहविच्छेदः, तदभावे दर्शनस्यापि सन्निकर्षाविशेषात्। क्षणपरिणामोपलम्भवदविसंवादकत्वासंभवात्। परम्परया हानोपादानसंवित्तिः। तथाहि—करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत्। नानात्वं च परश्वादिवत्। तस्माद् ग्राह्यसंविदाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्थायामपि विसंवादानिराकरणे तदन्यस्येव विषदृष्टिः प्रमाणत्वं न प्रतिपत्तुमर्हति। तावतैव प्रमाणत्वे क्षणिकत्वाद्यनुमानम्, अधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वान्न वै प्रमाणम् ॥ १०२ ॥

§ 102 प्रमाणफलं दर्शयन्नाह—आद्यस्य प्रमाणस्य केवलज्ञानस्य फलमुपेक्षा रागमोहाभावः। शेषस्य प्रमाणस्य छद्मस्थीयज्ञानस्य, आदानं ग्रहणं हानं त्यागस्तयोः धीः बुद्धिः तत्फलम्। पूर्वं वा उपेक्षा वेत्यर्थः। सामान्यापेक्षाया नपुंसकलिङ्गता। पूर्वा वेति पाठान्तरम्। वा अज्ञाननाशः फलं ज्ञानतेत्यर्थः। सर्वस्यास्य मत्यादिभेदभिन्नस्य हिताहितभेदभिन्ने स्वगोचरे स्वविषये वर्तमानस्यौत्सर्गिकं फलमज्ञाननाश इत्युक्तम् ॥ १०२ ॥

§ 102 युगपत्सर्वभासनरूप जो आद्य प्रमाण केवलज्ञान है उसका ( व्यवहित ) फल उपेक्षा है। शेष क्रमशः भासनरूप जो प्रमाण मत्यादि ज्ञान-समूह है उसका (व्यवहित-परंपरा) फल ग्रहण और त्यागकी बुद्धि है तथा पूर्वमें कही हुई उपेक्षा भी उसका ( व्यवहित ) फल है और अपने विषयमें अज्ञानका नाश होना इस सारे ही प्रमाणरूप ज्ञानसमूहका ( अव्यवहित अथवा साक्षात् फल है ॥ १०२ ॥

103) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्[1] ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥ १०३ ॥

§ 103 पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्। तर्हि तदानीमिव भवति, यथा यत्सत्तत्सर्वं परिणामि, यथा घटः, सश्च शब्दः, तस्मात्परिणामीत्याकाङ्क्षणात्। प्रतिपत्तुर्धर्मोऽयं वाक्येष्वध्यारोप्यते, स चेत्प्रतिपत्ता तावतार्थं प्रत्येति, किमिति शेषमाकाङ्क्षति। प्रकरणादिना वाक्यकल्पेनाप्यर्थप्रतिपत्तौ न वा प्राथमकल्पिकवाक्यलक्षणपरिहारः, सत्यभामादिपदवत्। सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः। क्वचित्प्रयुज्यमानः स्याच्छब्दः तद्विशेषणतया प्रकृतार्थतत्त्वमनवयवेन[2] सूचयति। प्रायशो निपातानां तत्स्वभावत्वात्, एवकारादिवत्। न हि केवलज्ञानवदखिलमक्रममवगाहते, वाचः क्रमवृत्तित्वात् तद्बुद्धेरपि तथाभावात् ॥ १०३ ॥

§ 103. प्रस्तुतस्याद्वादाख्यपरार्थसाधनसमर्थनार्थमाह—पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षाः समुदाया वाक्यानि तेषु वाक्येषु अनेकान्तं द्योतयति प्रकटयतीति अनेकान्तद्योती। स्याच्छब्दो निपातोऽव्ययम्। गम्यम् अभिधेयमस्ति घट इत्यादि वाक्येऽस्तित्वादि तत् प्रतिविशेषकः समर्थकः। अथवा गम्यं हेयादेयभेदभिन्नं वस्तु यथा यदवस्थितं तथैव तस्य विशेषकः। अर्थस्य तत्तदात्मकस्य योगित्वं घटनं तस्मादन्येषां पुनर्धर्माणां गुणीभूतत्वात्। तव भवत एतदुक्तं केवलिनां श्रुतकेवलिनां च अपिशब्दात्तच्छिष्यप्रशिष्याणां च नान्येषां तथाभूतस्य वस्तुभावात् ॥ १०३ ॥

---

103) 1 G, P विशेषकं। 2 As. —मवयवेन।

§ 103 (हे अर्हन्!) **आपके तथा श्रुतकेवलियोके भी वाक्योमे प्रयुक्त होनेवाला 'स्यात्'** निपात (अव्यय) **शब्द अर्थके साथ सम्बद्ध होनेसे अनेकान्तका द्योतक और गम्य-बोध्य** (विवक्षित) का **बोधक-सूचक** (वाचक) **माना गया है**—अन्यथा अनेकान्त अर्थकी प्रतिपत्ति नही वनती। सत्-असत्-नित्य-अनित्यादि सकल सर्वथैकान्तोके प्रतिक्षेप लक्षणको 'अनेकान्त' कहते है। और परस्पर सापेक्ष पदोके निरपेक्ष समुदायका नाम 'वाक्य' है। वाक्यके इस लक्षणसे भिन्न जो परवादियोके द्वारा प्रकल्पित अन्यथा वाक्य है वे निर्दोष न होकर बाधासहित है। वाक्यपदी (२, १-२) मे वाक्यके प्रति न्यायविदोकी बाधा-भिन्न-मतिकी सूचना करते हुए दस प्रकारके वाक्योका उल्लेख है, जिनके नाम है—(१) आख्यातशब्द, (२) सघात, (३) जातिसघातवर्तिनी, (४) एकोनवयवशब्द, (५) क्रम, (६) बुद्धि, (७) अनुसहति, (८) आद्यपद, (९) अन्त्यपद, (१०) सापेक्षपद। इन वाक्यप्रकारोमे वाक्यके (अकलकदेवकृत) उक्त लक्षणकी दृष्टिसे कौन वाक्य भेद सदोष और कौन निर्दोष कहा जा सकता है इसका अष्टसहस्रीमे श्रीविद्यानन्दाचार्यने सहेतुक विस्तृत विचार किया है ॥ १०३ ॥

104) **स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।**
**सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ १०४ ॥**

§ 104 **कथचिदित्यादि किंवृत्तचिद्विधि स्याद्वादपर्याय सोऽयमनेकान्तमभिप्रेत्य सप्तभङ्गनयापेक्ष. स्वभावपरभावाभ्या सदसदादिव्यवस्था प्रतिपादयति। सप्तभङ्गी प्रोक्ता। द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकप्रविभागवशान्नैगमादयः शब्दार्थनया बहुविकल्पा मूलनयद्वयशुद्ध्यशुद्धिभ्याम् ॥ १०४ ॥**

§ 104. पुनरपि तदेव समर्थयति—**स्याद्वाद** अर्थप्रकरणादीना घटादिशब्दार्थविशेषस्थापनहेतूनामनुकूल। कुत **सर्वथैकान्तत्यागा**त्तेषामर्थप्रकरणादीना प्रतिकूलस्यैकान्तस्य त्यागात्। अथ कथ प्रकार स्याद्वाद **किंवृत्तचिद्विधिः** किमो वृत्त किं निष्पन्न किंवृत्त च तच्चिच्च किंवृत्तचित् तदेव विधि प्रकारो यस्य कथचित् कुतश्चिदित्यादि। **सप्तभङ्गाश्च ते नयाश्च तान् अपेक्षत** इति स्यादस्ति स्यान्नास्त्यादि। **हेयादेययोर्विशेषक.** गुणमुख्यकल्पनया ॥ १०४ ॥

§ 104 **स्यात्-शब्द सर्वथा एकान्तका त्यागी होनेसे 'किं' शब्द-निष्पन्न चित्-प्रकारके रूपमे कथचित् कथचन आदिका वाचक है**—और इसलिये कथचित् आदि शब्द स्याद्वादके पर्याय-नाम हैं। **हेय-उपादेयका विशेषक** (भेदक) **होता है**—स्याद्वादके बिना हेय और उपादेयकी विशेष रूपसे व्यवस्था नही वनती। जिन सप्तभगोका यहाँ उल्लेख है उन अस्ति नास्तिअवक्तव्यादि रूप भगोका निर्देश ग्रन्थमे इससे पहले आ चुका है। रही नयो की बात, नयोंके मूलोत्तर भेदादिके रूपमे बहुत विकल्प है। जैसे द्रव्य-पर्यायकी दृष्टिसे द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक ये दो मूलनय हे, अध्यात्मदृष्टिसे निश्चय और व्यवहार ये दो भी मूलनय है। शुद्धि-अशुद्धिकी दृष्टिसे भी नयोंके दो-दो भेद किये जाते हैं, जैसे शुद्धद्रव्यार्थिक, अशुद्धद्रव्यार्थिक, शुद्धपर्यायार्थिक, अशुद्धपर्यायार्थिक, शुद्धनिश्चय, अशुद्धनिश्चय, सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार इत्यादि। द्रव्यार्थिकके उत्तरभेद तीन—नैगम, सग्रह और व्यवहार, पर्यायार्थिकके उत्तरभेद चार—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। इन सप्तनयोमे प्रथम चार भेद 'अर्थनय' और शेष तीन भेद 'शब्दनय' कहे जाते है। इन सबके उत्तरोत्तर भेद असख्य है। सक्षेपमे कहा

जाय तो जितने वचनमार्ग है—शब्दभेद हैं—तथा अपने-अपने ज्ञानके विकल्प हैं उतने-उतने नयोंके भेद है। नयोका यह विषय बडा ही गहन-गभीर है। इनके लक्षणादिका विशेष कथन नयचक्रादि ग्रन्थोसे जानने योग्य हे ॥ १०४ ॥

105) **स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।**
**भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत् ॥ १०५ ॥**

§ 105 **स्याद्वादकेवलज्ञाने, इति निर्देशात्तयोरभ्यर्हितत्वान्नियम दर्शयति, परस्परहेतुफत्वादभ्यर्हितत्वे वा पूर्वनिपातेऽव्यभिचारं सूचयति। कथ पुन. स्याद्वादः सर्वतत्त्वप्रकाशनो यावता "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" [ त सू १।२६ ]। जीवादय सप्तपदार्थास्तत्त्वम्, तत्प्रतिपादनाविशेषात्। तथाह—भेद. साक्षादसाक्षाच्च, इति, साक्षात्कृतेरेव सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनत्ति, नान्यत , इति यावत् ॥ १०५ ॥**

§ 105 स्याद्वादकेवलज्ञानयो कथचित्सामान्य दर्शयन्नाह—सर्वाणि च तानि तत्त्वानि च जीवाजीवादीनि तानि प्रकाशत इति **सर्वतत्त्वप्रकाशने**, के ते द्वे **स्याद्वादश्च केवलज्ञान** च ते द्वे प्रमाणे। तयोर्मध्ये **अन्यतम** परै, परिकल्पितम् **अवस्तु भवेत्** यत कथ तयो **भेद साक्षात्** प्रत्यक्षात् **असाक्षात्** अप्रत्यक्षात् ॥ १०५ ॥

§ 105 **स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनो** ( जीवादि ) **सब तत्त्वोके प्रकाशक हैं। दोनोके प्रकाशनमे साक्षात् और असाक्षात्** ( परोक्ष )-का **भेद** (अन्तर ) है—केवलज्ञान जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वोका प्रत्यक्षत एव युगपत् प्रकाशक है और स्याद्वादरूप श्रुतज्ञान इन पदार्थोका अप्रत्यक्षत (परोक्षरूपसे ) क्रमश प्रकाशक है। **इन दोनो ज्ञानोमेसे जो किसी भी ज्ञानके द्वारा प्रकाशित अथवा उसका वाच्य नहीं वह अवस्तु होती है** ॥ १०५ ॥

106) **सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधत ।**
**स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥ १०६ ॥**

§ 106 **सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादित्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्यमविरोधात्, इत्यन्यथानुपपत्ति च दशयता, केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तम्, तत्पुत्रत्वादिवत्। एकलक्षणस्य तु गमकत्व "नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते" [आ मी ३७] इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात्। यत्रार्थक्रिया न संभवति तन्न वस्तुतत्त्वम्, यथा विनाशैकान्त , तथा च नित्यत्वेऽपि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रिया न सभवति, नापर प्रकारान्तरम्, इति त्रिलक्षणयोगेऽपि प्रधानमेकलक्षणम्, तत्रैव साधनसामर्थ्यपरिनिष्ठिते.। तदेव प्रतिबन्ध· पूर्ववद्वीतसयोग्यादिसकलहेतुप्रतिष्ठापकम्। तत· स्याद्वादेत्यादिनानुमितमनेकान्तात्मकमर्थतत्त्वमादर्शयति। तस्य विशेषो नित्यत्वादि· पृथक्-पृथक् तस्य प्रतिपादको नय·। तथोक्तम्—"अर्थस्यानेकरूपस्य धी. प्रमाण तदशधी। नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृति. ॥" [ न्यायविनि० २९९ ? ] इति। तदनेकान्तप्रतिपत्ति प्रमाणम्। एकधर्मप्रतिपत्तिर्न॰। प्रत्यनीकप्रतिक्षेपो दुर्णय केवल विपक्षविरोधदर्शनेन स्वपक्षाभिनिवेशात्[1] ॥ १०६ ॥**

106) 1 P –निवेशनात्।

§ 106. प्रमाण चर्चितमथ को नयो नामेत्याह—समानो धर्मो गुणो यस्य स सधर्मा तेन **सधर्मणैव** सपक्षेणैव एवकाराद्विपक्षनिराकरण **साध्यस्य** अनित्यत्वादे शक्याभिप्रेताप्रसिद्धस्य। सधर्मणो भाव साधर्म्यं तस्मात् **साधर्म्यात्। स्याद्वाद** श्रुतज्ञान तेन **प्रविभक्तो** विपर्यीकृत **अर्थः** तस्य **विशेषो** नित्यत्वादिस्तत् **व्यञ्जक.** प्रकटको द्योतको **नयो** युक्तितोऽर्थपरिग्रह । इत्यनेनान्वयव्यतिरेकपक्षधर्मा उक्ता । **अविरोधात्** इत्यनेनान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतु प्रदर्शित किमुक्त भवति—अन्तर्व्याप्तिमन्तरेण त्रिलक्षणो हेतुर्न गमक इति। अथ को नयप्रमाणयोर्विशेष अनेकान्तप्रतिपत्ति प्रमाणम्, एकधर्मप्रतिपत्तिर्नय ॥ १०६ ॥

§ 106. **स्याद्वादरूप परमागमसे विभक्त हुए अर्थविशेषका**—शक्य-अभिप्रेत-अप्रसिद्धरूप विवादगोचर साध्यका—**जो सधर्मा–दृष्टान्तके द्वारा, साध्यके साधर्म्यसे और** (विपक्षके) **अविरोधरूपसे व्यञ्जक है**—गमक अथवा बोधक है—**उसको नय**—नयविशेषरूप हेतु—कहते है—'नीयते गम्यते साध्योऽर्थोऽनेन, इति नय' इस निरुक्तिसे 'नय' शब्द यहाँ हेतुका वाचक है और अनेक धर्मोंमेसे एक-धर्म-प्रतिपादक सामान्य नयकी दृष्टिमे भी वह स्थित है ॥ १०६ ॥

107) **नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चय ।**
**[1]अविभ्राड्भावसंबन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥ १०७ ॥**

§ 107. उक्तलक्षणो द्रव्यपर्यायस्थान. संग्रहादिर्नय। तच्छाखाप्रशाखात्मोपनय.। तदेकान्तात्मनां विपक्षोपेक्षालक्षणानां त्रिकाललक्षणाना त्रिकालविषयाणा समितिर्द्रव्यम्। ततस्तेषामपोद्धारात् गुणगुण्यादिवत् ॥ १०७ ॥

§ 107 तद्विषयस्य द्रव्यस्य स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—**नया** नैगमादय सप्त **उपनयाः** तद्भेदोपभेदार्थपर्यायास्त एव **एकान्ताः** प्रधानधर्मास्तद्ग्राह्यत्वात्तद्व्यपदेश । **त्रयः काला** विषयो येषा ते तथाभूतास्तेषा **समुच्चय** एकस्मिन्नवस्थानम्। **अविभ्राट्** अपृथक् **भावसंबन्धः** सत्तासबन्धो यस्य स तथाभूत तद्**द्रव्यमेकम**भेदापेक्षया भेदापेक्षया पुनर**नेकप्रकारम्** ॥ १०७ ॥

§ 107 **त्रिकालवर्ति नयो-उपनयोके एकान्त–विषयोका**—पर्याय-विशेषोका-**जो अपृथक्-स्वभाव** ( तादात्म्य ) **सम्बन्धको लिये हुए समुच्चय–समूह है वह एक द्रव्य–वस्तु है और अनेक भेदरूप है** ॥ १०७ ॥

108) **मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः ।**
**निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्[1] ॥ १०८ ॥**

§ 108 सुनयदुर्णययोर्यथास्मा लक्षण व्याख्यात तथा न [2]प्रचोद्यं न परिहारः। तथाहि–निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृति.। सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाणनयाविशेषप्रसङ्गात्। धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयाना प्रकारान्तरासभवाच्च। प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेस्तत्प्रतिपत्तेरन्यनिराकृतिश्चेति विश्वोपसहृति ॥ १०८ ॥

---

107) 1 As, P अविभ्राट्।

108) 1 D, G –तीर्थकृत्। E तीर्थकृत्। 2 P प्रबोध्य।

§ 108. तदर्थं चोद्यपरिहारायाह—नित्यानित्यास्तित्वादीनां मिथ्याधर्माणां योऽयं समूहः समुदायः स मिथ्या असत्यरूप इति चेत्, एवं भवतोऽभिप्रायः। मिथ्येत्येकान्तः, सग्रहस्तस्य भावो मिथ्यैकान्तता सा नः अस्माकं नास्ति न विद्यते। कुतः यतो निरपेक्षा नया मिथ्या परस्परमपेक्षा घटना तस्या निर्गता' पृथग्भूता धर्मा व्यलीकाः। सापेक्षाः परस्परसंबद्धास्ते नयाः वस्तु परमार्थतत्त्वं यतः अर्थकृत् क्रमाक्रमाभ्यामर्थकारित्वादतो न चोद्यस्यावतारः ॥ १०८ ॥

§ 108. यदि यह कहा जाय कि ( एकान्तोको तो आप मिथ्या बतलाते है तब नयो और उपनयो-रूप एकान्तोका जो समूह द्रव्य है वह मिथ्या-समूह ठहरा ) मिथ्याओका जो समूह वह तो मिथ्या ही होता है ( अत द्रव्य कोई वस्तु न रहा ) तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योकि ( हे जिनदेव ! ) आपके मतमे और इसलिए हमारेमे (सापेक्षनयोका ग्रहण होनेसे) मिथ्या एकान्तता नहीं है, जो नय ( प्रतिपक्षी धर्मके सर्वथा निराकरणरूप ) निरपेक्ष होते हैं वे ही मिथ्या-नय ( दुर्नय ) होते हैं सापेक्षनय ( जो कि प्रतिपक्षी धर्मकी उपेक्षा अथवा उसे गौण किये होते हैं ) मिथ्या न होकर सम्यकनय होते हे, उनके विषय अर्थ क्रियाकारी होते हैं और इसलिये उनके समूहके वस्तुपना सुघटित है। यहाँ अनेकान्तके प्रतिपक्षी-द्वारा यह आपत्ति की गई है कि जब एकान्तोको मिथ्या बतलाया जाता है तब नयो और उपनयो-रूप एकान्तोका समूह जो अनेकान्त और तदात्मक वस्तुतत्त्व है वह भी मिथ्या ठहरता है, क्योकि मिथ्याओका समूह मिथ्या ही होता है। इसपर ग्रन्थकारमहोदय कहते हैं कि यह आपत्ति ठीक नही है, क्योकि हमारे यहाँ कोई भी वस्तु मिथ्या एकान्तके रूपमे नही है। जब वस्तुका एक धर्म दूसरे धर्मकी अपेक्षा नही रखता—उसका निरस्कार कर देता है—तो वह मिथ्या कहा जाता है और जब वह उसकी अपेक्षा रखता है—उसका निरस्कार नही करता—तो वह सम्यक् माना जाता है। वास्तवमे वस्तु निरपेक्ष एकान्त नही है, जिसे सर्वथा एकान्तवादी मानते हैं, किन्तु सापेक्ष एकान्त है और सापेक्ष एकान्तोंके समूहका नाम ही अनेकान्त है, तब उसे और तदात्मक वस्तुको मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? नही कहा जा सकता ॥ १०८ ॥

109) **नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा ।**
**तथान्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥ १०९ ॥**

§ 109 यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकं वस्तुतत्त्वं सर्वथा तदर्थक्रियाकारित्वात्, स्वविषयाकारसंवित्तिवत्। न किंचिदेकान्तं वस्तुतत्त्वम्, सर्वथा तदर्थक्रियासंभवात्, गगनकुसुमादिवत्। नास्ति सदेकान्त', सर्वव्यापारविरोधप्रसङ्गात्, असदेकान्तवदिति विधिना प्रतिषेधेन वा वस्तु तत्त्वं नियम्यते, अन्यथा तद्विशिष्टमर्थतत्त्वं न स्यात्, इत्यनेन विधिप्रतिषेधयोर्गुणप्रधानभावेन सदसदादिवाक्येषु वृत्तिरिति लक्षयति ॥ १०९ ॥

§ 109. पुनरपि तमर्थं समर्थयन्नाह—**वाक्येन** अस्ति घटो नास्ति वा इति विधिप्रतिषेधरूपेणार्थो **नियम्यते** नियन्त्र्यते विशेषविषयं नीयते तस्मात्सोऽर्थः **तथा च** तदतदात्मक इत्यभ्युगन्तव्यः। यदि पुनः **अन्यथा** अन्येन प्रकारेणैकान्तरूपेणाभ्युगम्यते तदानीम् **अविशेष्यत्वम्** अवस्तुत्वं स्यादेकधर्माक्रान्तत्वेन वस्त्वस्ति यतः ॥ १०९ ॥

§ 109 ( यदि कोई यह शका करे कि वस्तुतत्त्व जब अनेकान्तात्मक है तब वाक्यके द्वारा उसे कैसे नियमित किया जाय, जिससे प्रतिनियत विषयमे लोककी प्रवृत्ति बन सके तो उसका

समाधान यह है कि ) **अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व विधिवाक्य अथवा निषेध-वाक्यके द्वारा नियमित किया जाता है। विधि या निषेधरूप जिस वाक्यके द्वारा वह नियमित किया जाय उसरूप तथा उससे अन्यथा-विपक्षरूप वह अवश्य होता है** क्योकि विधि–निषेधका परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है और इससे जिस विधि या निषेध-वाक्यके द्वारा वह नियमित किया जाता है वह उस समय मुख्य होता है और प्रतिपक्षी वाक्यका विषय गौण। **यदि ऐसा न माना जाय**—विधि-निषेधरूपसे उसका अवश्यभावीपना स्वीकार न किया जाय—**तो उस केवल विधि या केवल निषेध-वाक्य जो विशेष्य** ( वस्तुतत्त्व ) है **वह नहीं बन सकेगा;** क्योकि प्रतिषेध-रहित विधिके और विधिरहित प्रतिषेधके विशेषणपना नही बनता और विधि-प्रतिषेध दोनोसे रहितके गगन कुसुमके समान विशेष्यपना नही वनता है। और इस तरह सत् असत् आदि वाक्योमे विधि-निषेधकी गौण तथा प्रधानरूपसे वृत्तिका होना लक्षित होता है ॥ १०९ ॥

110) **तदतद्वस्तुवागेषा तदेवेत्यनुशासती ।**
**न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः कथं तत्त्वार्थदेशना ॥ ११० ॥**

§ 110 **प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूत विरुद्धधर्माध्यासलक्षणमविरुद्धं[1] वस्तु। तदेवेत्येकान्तेन प्रतिपादयन्ती मिथ्यैव भारती, कथमनयार्थदेशनम्, इत्येकान्ते वाक्यार्थानुपपत्तिरालक्ष्यते ॥ ११० ॥**

§ 110 वाक् द्विविषया न भवतीत्यस्य निराकरणायाह—**एषा वाग्** एतद्वचन सर्वाभ्युपगत तच्चातच्च **तदतत्** अस्तित्वानास्तित्वात्मक **वस्तु**तत्त्व **तदेव** तादृग्भूतमेव नैकान्तात्मकमेव इति एवम् **अनुशासति** कथयति प्रतिपादयति। यदि **न सत्या** सद्भूता **स्यात्** भवेत्। एव सति **मृषा वाक्यानि** असत्यरूपाणि वाक्यानि स्यु । तथा सति **तत्त्वार्थस्य** परमार्थस्य प्रमाणहेतुफलप्रतिपादकस्य येय **देशना** कथन परप्रतिपादन **कथं** स्यात् किंतु न भवेदेव। तथा च विशीर्णं प्रमाणादिलक्षण वर्त्म। तस्माद्यत्सत्तदनेकान्तात्मक हेतुज्ञान प्रमाणवदिति वचनस्य प्रमाण्यमेषितव्यम् ॥ ११० ॥

§ 110 ( यदि यह कहा जाय कि वाक्य विधिके द्वारा ही वस्तुतत्त्वका नियमन करता है तो यह सर्वथा एकान्त ठीक नही है, क्योकि ) **वस्तु तत्-अतत्रूप है**—दृष्टि-भेदके साथ अविनाभावसम्वन्धको लिये हुए सत्-असत्, नित्य-अनित्यादि अनेकान्तरूप है—**जो वाक्य** ( वाणी ) **उसे सर्वथा तत्रूप**—सत्-नित्यादिरूप—**ही प्रतिपादन करता है**—उसके प्रतिपक्षी अविनाभावधर्मको गौण किये हुए न होकर उसका विरोधक है **वह सत्य नहीं होता तब** (ऐसे) **मिथ्या वाक्योसे तत्त्वार्थकी**—यथार्थ वस्तुस्वरूपकी—**देशना** ( कथनी ) **कैसे बन सकती है** ?–नही बन सकती। यद्यपि ये सभी वाक्य विधि और प्रतिषेध दोनो रूप वस्तुका प्रतिपादन करते हैं फिर भी यदि कहा जाय कि वे केवल विधिका ही अनुशासन ( उपदेश ) करते है तो यह कथन सत्य ( यथार्थ ) नही—मिथ्या है और मिथ्या-वाक्योंके द्वारा वस्तुस्वरूपका यथार्थ कथन नही बन सकता। अत वाक्य चाहे विधिरूप हो और चाहे निषेधरूप, सभी विधि तथा प्रतिषेध दोनोरूप वस्तुका प्रतिपादन करते है। अन्तर केवल इतना ही है कि विधि-वाक्यके

---

110) 1 P –म धाविरुद्ध।

द्वारा विधिका कथन मुख्यरूपसे और प्रतिपेधका कथन गौणरूपसे तथा प्रतिपेध वाक्यके द्वारा प्रतिषेधका कथन मुख्यरूपसे किया जाता है। यही यथार्थ तत्त्व-देशना है ॥११० ॥

111) **वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थप्रतिषेधनिरङ्कुशः[1] ।**
**आह च स्वार्थसामान्य तादृग्वाच्यं खपुष्पवत् ॥ १११ ॥**

§ 111 **वाचः स्वभावोऽय येन स्वार्थसामान्यं प्रतिपादयन्ती तदपर निराकरोति। अन्यतरापायेऽनुक्तानतिशायनात्। इदतया नेदतया वा न प्रतीयेत तदर्थं कूर्मरोमादिवत्। न खलु सामान्य विशेषपरिहारेण क्वचिदुपलभामहे। अनुपलभमानाश्च कथ स्वात्मानं परं वा तथाभिनिवेशेन विप्रलभामहे ॥ १११ ॥**

§ 111 पुनरपि वाचो लक्षणमाह—**वाच** स्वभाव आत्मीय रूपम् अन्येषा वाच्यत्वेनाभिप्रेततराणा **वाग्** वचन तस्या **अर्थ** तस्य **प्रतिषेधो** निराकरण तस्मिन् निरङ्कुशः समर्थो घटशब्द पटादीना निराकरण करोति स्वार्थं च प्रतिपादयति अतोऽनेकान्त । यदि पुन सर्वथा **स्वस्य** ज्ञानार्थस्य वाह्यार्थस्य **सामान्य** परापररूपमपोह चार्वाक **आह** आचष्ट इत्यभ्युपगम स्यात् **तादृग्वाच्य** विशेपरहित सामान्य **खपुष्पवत्** गगनकुसुमसमानमन्यो न किंचित्स्यात् ॥१११॥

§ 11 ( यदि वौद्धोकी मान्यतानुसार यह कहा जाय कि वाक्य प्रतिपेधके द्वारा ही वस्तुतत्त्वका नियमन करता है तो यह एकान्त भी ठीक नही है, क्योकि ) **वाक्यका यह स्वभाव है कि वह अपने अर्थ-सामान्यका प्रतिपादन करता हुआ अन्य वाक्योके अर्थ-प्रतिषेधमे निरकुश होता है**—विना किसी रोक-टोकके दूसरे सव वाक्योके विपयका निषेध करता है, जैसे घट लाओ, यह वाक्य पट लाओ, लोटा लाओ, घडी लाओ, मेज ( कुर्सी ) लाओ इत्यादि पर-वाक्योके अर्थका स्वभावसे निपेधकरूप है। इस वाक्-स्वाभावसे **भिन्न वौद्धोका जो उस प्रकारका अन्यापोहात्मक वाक्य है वह आकाशके पुष्प-समान अवस्तु है**—कहा-न कहाके बराबर अथवा अनुक्ततुल्य है। क्योकि विशेष-रहित सामान्य और सामान्य-शून्य विशेप कही भी ( वाहर भीतर ) उपलब्ध नही होता। जव उपलब्ध नही होता तव विशेप रहित सामान्य ही अथवा सामान्य शून्य विशेष ही वस्तुका स्वरूप है, इस प्रकारके आग्रह द्वारा स्व परको कैसे ठगा जाय ? नही ठगा जाना चाहिए। बौद्धोकी मान्यता है कि कोई भी वाक्य हो वे सब अन्यापोह-रूप प्रतिषेधका ही प्रतिपादन करते हैं, विधिका नही। इस पर आचार्य कहते हैं वाक्य ( वाणी ) का यह स्वभाव है कि वह अन्य वाक्यो द्वारा प्रतिपादित अर्थका निर्वाधरूपसे प्रतिषेध करता है और अपने विधिरूप अर्थ सामान्यका भी कथन करता है। यदि केवल अन्यापोहरूप प्रतिषेध ही वाच्य हो तो उक्त प्रकारका वाच्य आकाश पुष्पकी तरह असत् है। हमे विशेषको छोडकर केवल सामान्य और सामान्यको छोडकर केवल विशेष कही उपलब्ध नही होता। जब उक्त प्रकारका वाच्य उपलब्ध नही होता तो हम ऐसा अभिनिवेश करके कि वाक्यके द्वारा स्व ( विधि ) अथवा पर ( प्रतिपेध—अन्यापोह ) ही कहा जाता है, क्यो भ्रामक प्रवृत्ति करें या दूसरोको ठगे। अत जिस प्रकार वाक्यके द्वारा केवल विधिका ही नियमन

111) 1. D, F निरङ्कुशम्।

नही होता- उसी तरह केवल प्रतिषेध (अन्यापोह) का भी नियमन नही होता। किन्तु उभयका नियमन होता है और यह वाक्य ( वाणी ) का स्वभाव है ॥ १११ ॥

112) **सामान्यवाग्विशेषे चेन्न शब्दार्थो मृषा हि सा ।**
**अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः[1] ॥ ११२ ॥**

§ 112 **अस्तीति केवलमभावव्यवच्छेदादपोहमाह, इति चेत्, कः पुनरपोहः। परतो व्यावृत्तिरभावोऽन्यापोह इष्यत इति चेत् कथमेव सत्यभाव प्रतिपादयति, भावं न प्रतिपादयतीत्यनुक्तसमं न स्यात्। तद्विकल्पो मिथ्याभिनिवेशादिति चेत्, न चैतत्तस्य प्रतिपादकं मिथ्याविकल्पहेतुत्वाद् व्यलीकवचनवत्। ततः स्याद्वाद एव सत्यलाञ्छनो न वादान्तरमित्यति[2]शाययति ॥ ११२ ॥**

§ 112 ननु सामान्यमेव वाचोऽर्थो यदुत विशेषे वर्तते सामान्येऽर्थक्रियाभावादिति संसर्गबोधमत तन्निराकरणार्थमाह—**सामान्यसवन्धनी वाक् विशेषे** वर्तते—विशेषमाचष्टे तत्त्वार्थक्रियाभावात् **चेत्** एव भवतोऽभिप्राय, तर्हि **शब्दस्यार्थो**ऽभिधेय कुत, तादृग्भूता वाक् **मृषा** व्यलीका **सा**। यस्मान्न ह्यन्यस्य वाचकोऽन्यमाह। घटशब्द पटार्थस्य न कदाचिदपि प्रतिपादक। नाप्यपोहोऽस्यार्थ। अपोहो हि परव्यावृत्ति। सा च तुच्छा। ततो भेदक्षणिकैकान्तपक्षे न वाच्य नापि वाचको नानुमान नाप्यागम सर्वाभावोऽत **स्यात्कारः** स्याद्वाद **सत्यलाञ्छनः** सत्यभूत **अभिप्रेतविशेषस्याप्ते** निमित्तमिष्टार्थप्राप्तिहेतोराश्रयणीय सर्वदोषकलङ्कातीतत्वात् ॥ ११२ ॥

§ 112 **यदि यह कहा जाय कि** ( 'अस्ति' जैसा ) **सामान्य वाक्य परके अभावरूप** ( अन्यापोह ) **विशेषमे वर्तता है**—उसे प्रतिपादित करता है—**तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि सामान्यवाक्य विशेषमे शब्दार्थरूप नही** है—अभिप्रायमे स्थित विशेषको नही जनाता अथवा प्रतिपादित नही करता—**और इसलिये सत्यरूप न होकर मिथ्यावाक्य है। अभिप्रायमे स्थित जो विशेष उसकी प्राप्तिका सच्चा लक्षण अथवा चिह्न स्याद्वाद ( स्यात् शब्दपूर्वक वाद-कथन )** है—सामान्य-विशेषात्मक वस्तुका जब मुख्यत सामान्यरूपसे कथन किया जाता है तब उसका विशेषरूप गौण होकर वक्ताके अभिप्रायमे स्थित होता है, जिसे साथमे प्रयुक्त 'स्यात्' शब्दव्यक्त अथवा सूचित करता है। **और इसलिये 'स्यात्कार' अभिप्रेत-विशेषके जाननेका सच्चा साधन एवं मार्ग** है। अभिप्रेत वही होता हे जो स्वरूपादि ( स्वद्रव्य क्षेत्र-काल-भाव ) के द्वारा सत् होता है पररूपादिके द्वारा सत् नही। बौद्धोका कथन है कि विधिरूप सामान्यको कहनेवाला वाक्य भी विशेष ( अन्यापोह ) का ही प्रतिपादन करता है—उसीमे उसकी प्रवृत्ति होती है। पर उनका यह कथन सगत नही है, क्योकि इससे अन्यापोह-शब्दका अर्थसिद्ध नही होता। शब्दका वही अर्थ माना जाता है जिसमे उस शब्दकी प्रवृत्ति हो। अन्यापोहमे किसी भी शब्दकी प्रवृत्ति नही होती। ऐसी स्थितिमे विधिरूप सामान्यको कहनेवाला वाक्य भी आपके मतानुसार मिथ्या ठहरता है। वास्तवमे वही वाक्य सत्य है जिसके द्वारा अपने अभिप्रेत अर्थ-विशेषकी प्राप्ति होती हे और ऐसा वाक्य 'स्यात्' शब्दसे युक्त ही सभव है और उसीसे

---

112) 1. D, F लाञ्छनम्। 2. P –त्यनुशा–।

सत्य ( यथार्थ अर्थ ) की पहचान होती है। क्योकि वह लोगोको अभिप्रेत अर्थविशेषकी प्राप्ति कराता है। अन्य ( स्यात्कारसे रहित ) वाक्योसे अर्थ-विशेषकी प्राप्ति नही होती। यही स्याद्वाद और अन्यवादोमे विशेष अन्तर है ॥ ११२ ॥

113) **विधेयमीप्सितार्थाङ्गं प्रतिषेध्याविरोधि यत् ।**
**तथैवादेयहेयत्वमिति स्याद्वादसंस्थितिः ॥ ११३ ॥**

§ 113. **अस्तीत्यादि विधेयमभिप्रेत्य विधानात्। तच्च नास्तित्वादिभिरविरुद्ध विधिप्रतिषेधयोरन्योन्याविनाभावलक्षणत्वात्, स्वार्थज्ञानवत्। तद्विधेयप्रतिषेध्यात्मविशेषात् स्याद्वादः प्रक्रियते, सप्तभङ्गीसमाश्रयात् ॥ ११३ ॥**

§ 113 तस्यैव स्वरूपमाह—**विधेयम्** अस्तीत्यादि **प्रतिषेध्यस्य** नास्तित्वादे **अविरोधेन**- अविरुद्ध **यत्** तत् **ईप्सितार्थस्य** अभिप्रेतकार्यस्य **अङ्गं** कारणम्। **तथैवादेयं** वस्तु **हेयात्** त्याज्यादविरुद्धम्। इति अनेन प्रकारेण **स्याद्वादस्य संस्थिति** सर्वप्रमाणैरविरुद्धा सिद्धिरिति प्रमाणहेतुदृष्टान्ताभासा परवादिपरिकल्पितप्रमाणहेतुदृष्टान्ता वेदितव्या। कुत, तल्लक्षणाभावात्। वस्त्वपि तैर्यत्परिकल्पित तदपि नास्ति लक्षणाभावात्। तस्माद्यदनेकान्तात्मक तत्सत्य लक्षणयोगादिति ॥ ११३ ॥

§ 113 ( अस्ति इत्यादिरूप ) **जो विधेय** मनके अभिप्रायपूर्वक जिसका विधान किया जाता है, किसीके भयादिवश नही **और ईप्सित-अर्थक्रियाका कारण है वह प्रतिषेध्यके**— नास्तित्वादिके—**साथ अविरोधरूप है**—जो नास्तित्वादिके साथ अविरोधरूप नही वह ईप्सित अर्थक्रियाका कारण भी नही हो सकता, क्योकि विधि-प्रतिषेधका परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है विधिके विना प्रतिपेधका और प्रतिपेधके विना विधिका अस्तित्व नही बनता। **और जिस प्रकार विधेय प्रतिषेध्यका अविरोधी ईप्सित अर्थक्रियाका अग—कारण सिद्ध है उसी प्रकार वस्तुका आदेय-हेयपना** है, **अन्यथा नहीं,** क्योकि विधेयका एकान्त होनेपर किसीके हेयत्वका विरोध होता है, प्रतिपेध्यका एकान्त होनेपर किसीके आदेयत्वका विरोध होता है, स्याद्वादीके अभिप्रायानुसार सर्वथा विधेय ही प्रतिषेध्य नही होता, कथचित् विधि-प्रतिषेध्यके तादात्म्य माना गया है। अत विधेय-प्रतिषेधात्मक विशेषके कारण सप्तभगीके समाश्रयसे स्याद्वाद प्रक्रियमाण होता है। **इस प्रकार स्याद्वादकी** ( सर्वत्र युक्तिशास्त्राऽविरोधके कारण ) **यह सम्यक् स्थिति है।** और इसलिये हे वीर भगवन्! हमने जो यह निश्चय किया है कि 'युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्यके कारण आप ही निर्दोष आप्त हैं' वह अनवद्य है—सर्वप्रकारसे वाधा-रहित है ॥ ११३ ॥

114) **इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।**
**सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥**

§ 114 **इति स्वोक्तपरिच्छेदे विहितेयमाप्तमीमासा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा निःश्रेयसकामिनाम्। अभव्यानां तदनुपयोगात्। तत्त्वेतरपरीक्षा प्रतिभव्यानामेव हि नियताधिकृतिः ॥११४॥**

श्रीवर्द्धमानमकलङ्कमनिन्द्यवन्द्य-
पादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं
स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ॥ १ ॥

इत्याप्तमीमांसाभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥

इत्याप्तमीमांसावृत्तिरष्टशतीय परिसमाप्ता कृतिः श्रीमतः सकलतार्किकचूडामणेर्भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्येति ।

§ 114 शास्त्रार्थोपसंहारकारिकामाह—**इति** अनेन प्रकारेण इयं प्रत्यक्षवतश्च योऽयमुपदेशस्तस्य **अर्थः** स्वरूप तस्य **विशेषो** याथात्म्य तस्य **प्रतिपत्तिः** अवगमस्तस्यै सम्यगुपपत्तये । अय **सम्यग् उपदेशोऽयं मिथ्येति** सर्वज्ञेन ज्ञायते यस्मात् ॥ ११४ ॥

**जयति जगति क्लेशावेशप्रपञ्चहिमांशुमान्,**
**विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ।**
**यतिपतिरजो यस्याधृष्यान्मताम्बुनिधेर्लवान्,**
**स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥**

कृतकृत्यो निर्व्यूढतत्त्वप्रतिज्ञ आचार्य श्रीमत्समन्तभद्रकेसरी प्रमाणनयतीक्ष्णनखरदंष्ट्राविदारितप्रवादिकुनयमदविह्वलकुंभिकुंभस्थलपाटनपटुरिदमाह—**यस्य** भट्टारकस्य **मताम्बुधेः** आगमोदधे **लवान्** कणान् **अधृष्टान्** अखरीकृतान् **परे नाना तीर्थ्या** प्रवादिन सुगतादय स्वमते मतिर्येषा ते **स्वमतमतय** कृतात्मबुद्धय **समुपासते** सेवन्ते स **अजो** जातिजरामरणरहितो **यतिपतिः** प्रधानस्वामी **जयति** त्रैलोक्यस्वामित्व करोति बाह्याभ्यन्तरशत्रून् निहत्य **जगति** लोके । पुनरपि किंविशिष्ट —**क्लेशस्य** दु खस्य **आवेश** कदर्थना तस्य **प्रपञ्चो** विस्तार स एव **हिम** प्रालेय तस्य **अंशुमान्** आदित्य । एकान्त एव ध्वान्त तम विषम च तदेकान्तध्वान्त च **विषमैकान्तध्वान्त** प्रमाण च नयाश्च प्रमाणनया उक्तलक्षणा **विहत** निराकृत **विषमैकान्तध्वान्त** यैस्ते तथाभूतास्ते च ते **प्रमाणनयाश्च** त एव **अंशवः** किरणास्ते विद्यन्ते यस्य स तथाभूत इति **यतिपतेर्विशेषणम्** ॥

श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य त्रिभुवनलब्धजयपताकस्य प्रमाणनयचक्षुष स्याद्वादशरीरस्य देवागमाख्या कृते सक्षेपभूत विवरण कृत श्रुतविस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनात्मोपकाराय ।

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पने ।
समन्तभद्रदेवाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥
सुखाय जायते लोके वसुनन्दि समागम ।
तस्मान्निषेव्यता भव्यैर्वसुनन्दिसमागम ॥ २ ॥

**इति श्रीवसुनन्द्याचार्यकृता देवागमवृत्तिः समाप्ता ॥**

§ 114 **इस प्रकार** ( 'देवागम' नामके स्वोक्त दश-परिच्छेदात्मक शास्त्रमे ) **यह आप्त-मीमासा**—सर्वज्ञ-विशेष-परीक्षा—**हित चाहने वालोके**—मुख्यत मोक्ष और उसका कारण सम्यग्दर्शनादिरूप रत्नत्रयके अभिलाषी भव्यजीवोके—**सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेशके-अर्थ-विशेषकी प्रतिपत्तिके लिये**- उपादेय तथा हेयरूपसे श्रद्धान, ज्ञान और समाचरणकी प्राप्तिके लिए—**की गई है** ॥ ११४ ॥

**इति देवागमाप्तमीमासायां दशमः परिच्छेद.** ॥

**अनुवादकीय अन्त्य-मगल**

यस्य सच्छासन लोके स्याद्वादाऽमोघ-लाञ्छनम् ।
सर्वभूत-दयोपेत दम-त्याग-समाधिभृत् ॥ १ ॥

नय-प्रमाण-सम्पुष्ट सर्व-बाधा-विवर्जितम् ।
सार्वमन्यैरजय्य च त वीर प्रणिदध्महे ॥ २ ॥

जिनका समीचीन शासन इस लोकमे स्याद्वादरूप अमोघ लक्षणसे लक्षित है—सर्वथा एकान्तवादरूप न होकर अनेकान्तवादात्मक है, इसीसे कभी असफल न होनेवाला है—सर्व-प्राणियोकी दयासे युक्त है, इन्द्रिय-दमन परिग्रह-त्यजन और ध्यान-समाधिकी तत्परताको लिये तथा उनकी शिक्षाओंसे परिपूर्ण है, नयो तथा प्रमाणोंसे भले प्रकार पुष्ट है, सर्वबाधाओंसे विवर्जित है, सबके हितरूप है और अन्य समस्त एकान्त-शासनोके द्वारा अजेय है—कोई भी उसे जीत नही सकता—उन श्रीवीर भगवान्‌को मैं नतमस्तक होता हूँ ।

यद्भक्तिभावनिरता मुनयोऽकलकविद्यादिनन्दजिनसेनसुवादिराजा ।
गायन्ति दिव्यवचनै सुयशासि यस्य भूयाच्छ्रियै स युगवीरसमन्तभद्र ॥ ३॥

जिनकी भक्तिमे लीन हुए अकलकदेव, विद्यानन्दस्वामी, भगवज्जिनसेन और वादिराज प्रमुख जैसे महामुनि अपने दिव्यवचनो-द्वारा जिनके सुयशोका गान करते हैं वे युगवीर—इस युगके प्रधान पुरुष—श्री समन्तभद्र स्वामी हमारी श्रीवृद्धिके लिए निमित्तभूत होवें—उनके प्रसादसे अथवा प्रसन्नतापूर्वक आराधनसे हमे निजश्रीकी—आत्मीय लक्ष्मी-ज्योति, शोभा, सम्पत्ति-विभूति, शक्ति-सरस्वती और सिद्धि-समृद्धिकी—अधिकाधिक प्राप्ति होवे । 'श्री' शब्द उन सभी अर्थोंमे प्रयुक्त होता है जिन्हे 'निजश्री' की व्याख्यामे व्यक्त किया गया है और जो यहाँ विवक्षित है ॥

**इति श्रीनिरवद्यस्याद्वादविद्याधिपति-सकलतार्किकचक्रचूडामणि-श्रद्धागुणज्ञतादिसातिशयगुणगण-विभूषित-सिद्धसारस्वत-स्वामिसमन्तभद्राचार्यप्रणीत सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तिरूप देवागमाऽपरनामाऽऽप्तमीमांसाशास्त्र युगवीर-जुगलकिशोर-मुख्तारविरचित-स्पष्टार्थादियुक्ताऽनुवादसमन्वित**

**समाप्तम्** ॥

❀